

कार्तिक वीरनि०सं०२४६६

नवम्बर १९३९

# अनेकान्त

वर्ष ३, किरण १

वार्षिकमूल्य ३ रु०

श्री जैन समाज सेवा समिति (भावनगर)

वी  
र  
शा  
स  
नां  
क



वी  
र  
शा  
स  
नां  
क

→ श्री दि० जैनपरिषद्के सौजन्यसे प्राप्त ←

सम्पादक—

जुगलकिशोर मुख्तार

अधिष्ठाता वीर-सेवामन्दिर सरसावा (सहारनपुर)

संचालक—

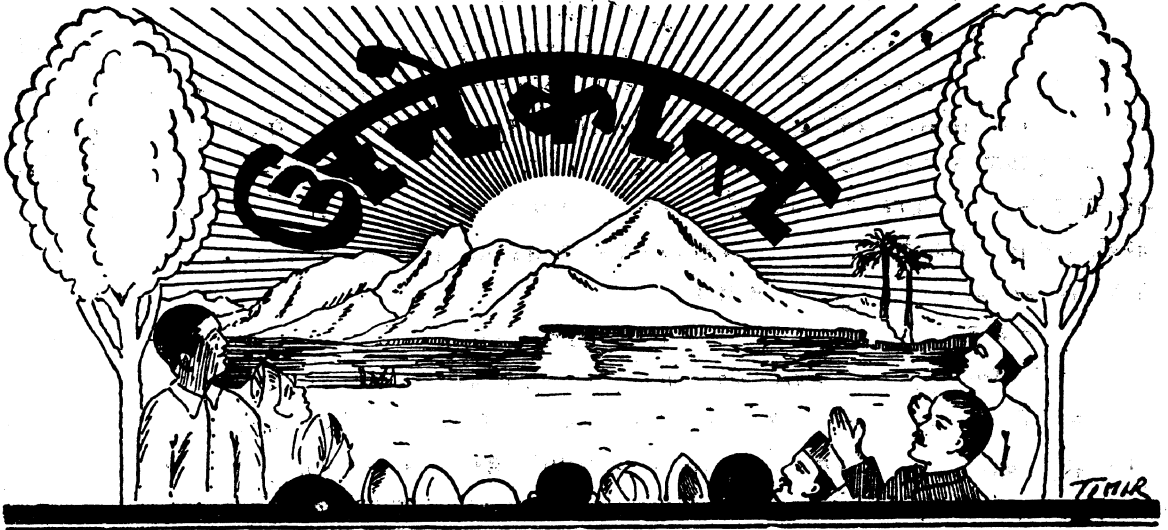
तनसुखराय जैन

कनॉट सर्कस पो० ब० नं० ४८ न्यू देहली ।

## ❀ विषय-सूची ❀

|                                                                 | पृष्ठ          |
|-----------------------------------------------------------------|----------------|
| १. श्री वीर-स्मरण, वीर शासनाऽभिनन्दन                            | १, २           |
| २. धवलादि श्रुत-परिचय                                           | ३              |
| ३. सत्य अनेकान्तात्मक है [श्री जयभगवान वकील                     | १७             |
| ४. स्मृतिमें रखने योग्य वाक्य [श्रीमद् राजचन्द्र]               | २७             |
| ५. भ० महावीरके शासनमें गोत्रकर्म [श्री कामताप्रसाद              | २८             |
| ६. विविध प्रश्न [श्रीमद् राजचन्द्र                              | ३२, ७९, ८१, ८९ |
| ७. जैनदृष्टिका स्थान तथा उसका आधार [श्री महेन्द्रकुमार शास्त्री | ३३             |
| ८. मीन-संवाद (कविता) — [श्री युगवीर                             | ४०             |
| ९. वीर-शासनकी विशेषता [श्री अग्रचन्द्र नाहटा                    | ४१             |
| १०. सफल-जन्म (कविता) — [श्री भगवत् जैन                          | ४४             |
| ११. वीर-शासनमें स्त्रियोंका स्थान [श्री इन्दुकुमारी             | ४५             |
| १२. नर-कक्षाल (कविता) — [श्री भगवत् जैन                         | ४७             |
| १३. वीर-शासनकी पुण्य-वेला [श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर             | ४८             |
| १४. मनुष्योंमें उच्चतम-नीचता [श्री वंशीधर व्याकरणाचार्य         | ५१             |
| १५. साहित्य सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैन-दर्शन [श्री रतनलाल संघवी | ५६             |
| १६. यापनीय साहित्यकी खोज [श्री नाथूराम प्रेमी                   | ५९             |
| १७. मातृत्व (कहानी) — [श्री भगवत् जैन                           | ७२             |
| १८. सुभाषित [श्री अज्ञात                                        | ७६             |
| १९. उस विश्ववंचविभूतिका धुँधला चित्रण [श्री दैवेन्द्र जैन       | ७७             |
| २०. मज्जदूरोंसे राजनीतिज्ञ [श्री माईदयाल बी० ए०                 | ८०             |
| २१. दर्शनोंकी स्थूल रूपरेखा [श्री ताराचन्द्र शास्त्री           | ८२             |
| २२. अज-सम्बोधन (कविता) [श्री युगवीर                             | ९०             |
| २३. वीर-शासन-दिवस और हमारा उत्तर दायित्व [श्री दशरथलाल जैन      | ९१             |
| २४. वीरके दिव्य उपदेशकी भक्तक [श्री जयभगवान वकील                | ९५             |
| २५. साहित्य-परिचय और समालोचन [सम्पादकीय                         | ९८             |
| २६. वीतराग प्रतिमाओंकी अजीब प्रतिष्ठा विधि [श्री सूरजभान वकील   | १०५            |
| २७. विनयसे तत्वकी मिद्धि है। विवेकका अर्थ [श्रीमद् राजचन्द्र    | ११८, १२०       |
| २८. आलोचन [युगवीर                                               | ११९            |
| २९. तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी एक सटिप्पणप्रति [सम्पादकीय          | १२१            |
| ३०. जैन लक्षणावलि [सम्पादकीय                                    | १२६            |
| ३१. श्री वीर प्रभुकी वाणी, परम उपास्य (कविता) [श्री युगवीर      | टाइटिल         |
| ३२. सुभाषित (उर्दू कविता) [इकबाल, चकबस्त, दारा, अहसान           | ”              |

ॐ अहम्



नीति-विरोध-ध्वंसी लोक-व्यवहार-वर्तकः सम्यक् ।

परमागमस्य बीजं भुवनैकगुरुर्जयत्यनेकान्तः ॥

वर्ष ३

सम्पादन-स्थान—वीरसेवामन्दिर (समन्तभद्राश्रम), सरसावा, जि० सहारनपुर

प्रकाशन-स्थान—कनॉट सर्कस, पो० ब० नं० ४८, न्यू देहली

कार्तिक पूर्णिमा, वीरनिर्वाण सं० २४६६, विक्रम सं० १९६६

किरण १

## श्रीवीर-स्मरण

शुद्धि-शक्तयोः परां काष्ठां योऽवाप्य शान्तिमन्दिरः ।

देशायामास सद्धर्मं श्रीवीरं प्रणमामि तम् ॥ —युगवीरः

जिन्होंने ज्ञानावरण-दर्शनावरणके विनाशसे निर्मलज्ञान-दर्शनकी आविर्भूतिरूप शुद्धिकी तथा अन्तरायकर्मके विलोपसे वीरलब्धिरूप शक्तिकी पराकाष्ठाको—चरमसीमाको—प्राप्त करके और मोहनीय कर्मके समूल विध्वंससे आत्मामें पूर्णशान्तिकी स्थापना करके अथवा बाधारहित चिरशान्तिके निवास-स्थान बनकर समीचीन धर्मकी देशना की है उन श्रीवीर भगवान्को मैं सादर प्रणाम करता हूँ ।

स्थेयाज्जातजयध्वजाऽप्रतिनिधिः प्रोद्भूतभूरिप्रभुः, ध्वस्ताऽखिल-दुर्नय-द्विषदिभः सन्नीतिसामर्थ्यतः ।

सन्मार्गस्त्रिविधः कुमार्ग-मथनोऽहंन्वीरनाथः श्रिये, शश्वत-संस्तुति-गोचरोऽनघधियां श्रीसत्यवाक्याधिपः ॥

—युक्तयनुशासन-टीकायां, श्रीविद्यानन्दः

जो जयध्वज प्राप्त करने वालोंमें अद्वितीय हैं, जिनके महान सामर्थ्य अथवा महती प्रभुताका प्रादुर्भाव हुआ है, जिन्होंने सन्नीतिकी—अनेकान्तमय स्याद्वादनीतिकी—सामर्थ्यसे संपूर्ण दुर्नयरूप शत्रुगर्जों को ध्वस्त कर दिया है—तबाह व बर्बाद कर दिया है—जो त्रिविध सन्मार्गस्वरूप हैं—सम्यग्दर्शन-सम्बन्ध-ज्ञान-सम्यक्चारित्रकी साक्षात् मूर्ति हैं—जिन्होंने कुमार्गोंको मथन कर डाला है, जो सदा कलुषित आशयसे रहित सुधीजनोंकी संस्तुतिका विषय बने हुए हैं और श्रीसम्पन्न सत्यवाक्योंके अधिपति अथवा आगमके स्वामी हैं, वे श्रीवीर प्रभु अहंन्त भगवान् कल्याणके लिये स्थिर रहें—चिरकाल तक लोक-हृदयोंमें निवास करें ।

## वीरशासनाऽभिनन्दन

तव जिन शासनविभवो जयति कलावपि गुणाऽनुशासनविभवः ।

दोष-कशाऽसनविभवः स्तुवन्ति चैनं प्रभा-कशाऽसनविभवः ॥ --स्वयंभस्तोत्रे, समन्तभद्रः ।

हे वीर जिन ! आपका शासन-माहात्म्य—आपके प्रवचनका यथावस्थित पदार्थोंके प्रतिपादनस्वरूप गौरव—कलिकालमें भी जयको प्राप्त है—सर्वोत्कृष्टरूपसे वर्त रहा है—,उसके प्रभावसे गुणोंमें अनुशासन-कोलिये हुए शिष्यजनोंका भव—संसारपरिभ्रमण—विनष्ट हुआ है । इतना ही नहीं, किन्तु जो दोषोंरूपी चाबुकोंका निराकरण करने में समर्थ हैं—उन्हें अपने पास फटकने नहीं देते—और अपने ज्ञान-तेजसे जिन्होंने लोकप्रसिद्ध विभुओंको—हरिहरादिको—निस्तेज कर दिया है, ऐसे गणधरदेवादि महात्मा भी आपके इस शासनकी स्तुति करते हैं ।

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं, नय प्रमाण-प्रकृताञ्जसार्थम् ।

अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥ —युक्त्यनुशासने, समन्तभद्रः ।

हे वीर जिन ! आपका मत—शासन—नय-प्रमाणके द्वारा वस्तु तत्त्वको बिल्कुल स्पष्ट करने वाला और संपूर्ण प्रवादियोंसे अबाध्य होनेके साथ साथ दया(अहिंसा), दम(संयम), त्याग और समाधि (प्रशस्त ध्यान)इन चारोंकी तत्परताको लिये हुए है । यही सब उसकी विशेषता है, और इसलिये वह अद्वितीय है ।

सर्वान्तवत्तदगुण-मुख्य-कल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम् ।

सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥ —युक्त्यनुशासने, समन्तभद्रः ।

हे वीर प्रभु ! आपका प्रवचनतीर्थ-शासन-सर्वान्तवान् है—सामान्य, विशेष, द्रव्य, पर्याय, विधि, निषेध, एक, अनेक, आदि अशेष धर्मोंको लिये हुए है—और वह गुण-मुख्यकी कल्पनाको साथमें लिये होनेसे सुव्यवस्थित है—उसमें असंगतता अथवा विरोधके लिये कोई अवकाश नहीं है—जो धर्मोंमें परस्पर अपेक्षा को नहीं मानते—उन्हें सर्वथा निरपेक्ष बतलाते हैं—उनके शासनमें किसी भी धर्मका अस्तित्व नहीं बन सकता और न पदार्थ व्यवस्था ही ठीक बैठ सकती है । अतः आपका ही यह शासन तीर्थ सर्वदुःखोंका अन्त करने वाला है, यही निरन्त है—किसी भी मिथ्यादर्शनके द्वारा खण्डनीय नहीं है—और यही सब प्राणियोंके अभ्युदयका कारण तथा आत्माके पूर्ण अभ्युदय(विकास)का साधक ऐसा 'सर्वोदयतीर्थ' है । भावार्थ—आपका शासन अनेकान्तके प्रभावसे सकल दुर्नयों(परस्पर निरपेक्ष-नयों) अथवा मिथ्यादर्शनोंका अन्त (निरसन) करने वाला है और ये दुर्नय अथवा सर्वथा एकान्त-वांटरूप मिथ्यादर्शन ही संसार में अनेक शारीरिक तथा मानसिक दुःखरूप आपदाओंके कारण होते हैं, इसलिये इन दुर्नयरूप मिथ्यादर्शनोंका अन्त करने वाला होनेसे आपका शासन समस्त आपदाओंका अन्त करने वाला है, अर्थात् जो लोग आपके शासनतीर्थका आश्रय लेते हैं, उसे पूर्ण तया अपनाते हैं, उनके मिथ्यादर्शनादि दूर होकर समस्त दुःख मिट जाते हैं । और वे अपना पूर्ण अभ्युदय (उत्कर्ष एवं विकास) सिद्ध करने में समर्थ हो जाते हैं ।

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम् ।

त्वयि ध्रुवं खंडितमानश्रृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः ॥ युक्त्यनु०, श्रीसमन्तभद्राचार्यः ।

हे वीर भगवन् ! आपके इष्ट-शासनसे भरपेट अथवा यथेष्ट द्वेष रखने वाला मनुष्य भी यदि समदृष्टि (मध्यस्थवृत्ति) हुआ उपपत्तिचक्षुसे—मात्सर्यके त्यागपूर्वक युक्तिसंगत समाधानकी दृष्टिसे—आपके इष्टका—शासनका—अवलोकन और परीक्षण करता है तो अवश्य ही उसका मानश्रृंग खण्डित हो जाता है—सर्वथा एकान्तरूप मिथ्यामत का आप्रहं छूट जाता है—और वह अभद्र अथवा मिथ्या-दृष्टि होता हुआ भी सब ओरसे भद्ररूप एवं सम्यग्दृष्टि बन जाता है—अथवा यूँ कहिये कि आपके शासनतीर्थका उपासक और अनुयायी हो जाता है

# धवलादि-श्रुत-परिचय

—:O:—

[ सम्पादकीय ]

‘धवल’ और ‘जयधवल’ नामसे जो सिद्धान्तग्रन्थ प्रसिद्धि को प्राप्त हैं वे वास्तवमें कोई मूल-ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि टीका-ग्रन्थ हैं। खुद उनके रचयिता वीरसेनाचार्यने तथा जिनसेनाचार्यने उन्हें टीका-ग्रन्थ लिखा है और इन टीकाओंके नाम ‘धवला’, ‘जय-धवला’ बतलाए हैं, जैसा कि उनके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

“भट्टारण टीका लिहिंसा वीरसेणेण” ॥५॥

“कत्तियमासे एसा टीका हु समाणिआ धवला” ॥८॥

—धवल-प्रशस्ति

“इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी ।”

“एकान्नषष्ठिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।

समतीतेषु समाप्ता जयधवला प्राभूतव्याख्या ॥”

—जयधवल-प्रशस्ति

धवल और जयधवल नामोंकी यह प्रसिद्धि आजकी अथवा बहुत ही आधुनिक नहीं है। ब्रह्म हेमचन्द्र अपने प्राकृत श्रुतस्कन्धमें और विक्रमकी १०वीं-११वीं शताब्दीके विद्वान् महाकवि पुष्पदन्त अपने महापुराणमें भी इन्हीं नामोंके साथ इन ग्रन्थोंका उल्लेख करते हैं। यथा—

“सदरीसहस्र धवलो जयधवलो सदृसहसबोधवो ।  
महबन्धो चालीसं सिद्धंततयं अहं वंदे ॥”

—श्रुतस्कन्ध, ८८

“ए उ बुभ्रिउ आयमु सहधामु ।

सिद्धंतु धवलु जयधवलु णाम ॥”

—महापुराण, १, ६, ८

इस तरह ये नाम बहुत कुछ पुराने तथा रूढ़ हैं और इनकी सृष्टि टीकाको भाष्यरूपमें प्रदर्शित करनेकी दृष्टिसे हुई जान पड़ती है। परन्तु आम जैन-जनता सुने-सुनाये आधारपर इन्हें मूल एवं स्वतंत्र ग्रंथोंके रूपमें ही मानती आ रही है। अपने स्वरूपसे मूल-ग्रन्थ न होकर टीका-ग्रंथ होते हुए भी, ये अपने साथमें उन मूल सूत्रग्रन्थोंको लिये हुए हैं जिनके आधार पर इनकी यह इतनी बड़ी तथा भव्य इमारत खड़ी हुई है। सिद्धिविनिश्चय-टीका तथा कुछ चूर्णियों आदिकी तरह ये प्रायः सूत्रोंके संकेत-मात्रको लिये हुए नहीं हैं; बल्कि मूल सूत्रोंको पूर्णरूपसे अपनेमें समाविष्ट तथा उद्धृत किये हुए हैं, और इसलिये इनकी प्रतिष्ठा मूल सिद्धान्तग्रन्थों-जैसी ही है और ये प्रायः स्वतन्त्ररूपमें ‘सिद्धान्तग्रन्थ’ समझे तथा उल्लेखित किये जाते हैं।

## धवल-जयधवलकी आधारशिलाएँ

जयधवलकी ६० हजार श्लोकपरिमाण निर्माणको लिये भव्य इमारत जिस आधारशिलापर खड़ी है उसका नाम ‘कसायपाहुड’ ( कषायप्राभृत ) है। और धवलकी ७० हजार या ७२ हजार \* श्लोक परिमाण-निर्माणको लिये हुए भव्य इमारत जिस मूलाधार पर खड़ी हुई है वह ‘षट्खण्डागम’ है। षट्खण्डागमके

\* ब्रह्म हेमचन्द्रने ‘श्रुतस्कन्ध’ में धवलका परिमाण जब ७० हजार श्लोक जितना दिया है, तब इन्द्र-नन्दि आचार्यने अपने ‘श्रुतावतार’में उसे ‘ग्रन्थसहस्रै-र्द्विसप्तत्या’ पदके द्वारा ७२ हजार सूचित किया है।

प्रथम चार खंडों—१ जीवस्थान, २ तुल्लकबन्ध, बन्ध-स्वामित्वविचय, और ४ वेदनाकी, जिसे 'वेयणकसीण-पाहुड' तथा 'कम्मपयडिपाहुड' (कर्मप्रकृतिप्राभृत) भी कहते हैं, यह पूरी टीका है—इन चार खण्डोंका इसमें पृथ्वरूपसे समावेश है और इसलिये इन्हें ही प्रधानतः इस ग्रन्थकी आधार-शिला कहना चाहिये। शेष 'वर्गणा' और 'महाबन्ध' नामके दो खण्डोंकी इसमें कोई टीका नहीं है और न मूल सूत्ररूपमें ही उन खण्डोंका संग्रह किया गया है—उनके किसी-किसी अंशका ही कहीं-कहीं पर समावेश जान पड़ता है।

### वर्गणाखण्ड-विचार

धवल ग्रन्थमें 'बन्धस्वामित्वविचय' नामके तीसरे खण्डकी समाप्तिके अनन्तर मंगलाचरणपूर्वक 'वेदना' खण्डका प्रारम्भ करते हुए, 'कम्मपयडिपाहुड' इस द्वितीय नामके साथ उसके २४ अनुयोगद्वारोंकी सूचना करके उन अनुयोगद्वारोंके कदि, वेयणा, फास, कम्म, पयडि, बंधण, इत्यादि २४ नाम दिये हैं और फिर उन अनुयोगद्वारों (अधिकारों) का क्रमशः उनके अवान्तर अनुयोगद्वारोंके भेद-प्रभेद-सहित वर्णन करते हुए अन्तके 'अप्पाबहुग' नामक २४वें अनुयोगद्वारकी समाप्ति पर लिखा है—“एवं च उवीसदिमणिओगद्धारं समत्तं।” और फिर “एवं सिद्धांतार्णवं पूर्तिमगमत्तुर्विंशति अधिकार २४ अणिओगद्धारणि। नमः श्रीशान्तिनाथाय श्रेयस्करो बभूव” ऐसा लिखकर “जस्ससेसाण्णमए” इत्यादि ग्रन्थप्रशस्ति दी है, जिसमें ग्रन्थकार श्रीवीरसेनाचार्यने अपनी गुरुपरम्परा आदिके उल्लेखपूर्वक इस धवला टीकाकी समाप्तिका समय कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी शकसंवत् ७३८ सूचित किया है। इससे साफ जाना जाता है कि यह 'धवल' ग्रन्थ 'वेदना-

खण्ड' के साथही समाप्त होता है—वर्गणाखण्ड उसके साथमें लगा हुआ नहीं है।

परन्तु पं० पन्नालालजी सोनी आदि कुछ विद्वानों का खयाल है कि 'धवला' चार खण्डोंकी टीका न होकर पाँच खण्डोंकी टीका है—पाँचवाँ 'वर्गणा' खण्ड भी उसमें शामिल है। उनकी रायमें 'वेदनाखण्ड' में २४ अनुयोगद्वार नहीं हैं, 'वेदना' नामका दूसरा अनुयोगद्वार ही 'वेदनाखण्ड' है और 'वर्गणाखण्ड' फास, कम्म, पयडि नामके तीन अनुयोगद्वारों और 'बन्धन' अनुयोगद्वारके 'बंध' और 'बंधणिज्ज' अधिकारोंसे मिलकर बनता है। ये फासादि अनुयोगद्वार वेदनाखण्डके नहीं किन्तु 'कम्मपयडिपाहुड' के हैं, जो कि अग्रायणीय नामके दूसरे पूर्वकी पाँचवीं च्यवन-लब्धि वस्तुका चौथा पाहुड है और जिसके कदि, वेयणा (वेदना) फासादि २४ अनुयोगद्वार हैं। 'वेदनाखण्ड' इस कम्मपयडिपाहुडका दूसरा 'वेदना' नामका अनुयोगद्वार है। इस वेदना अनुयोगद्वारके कहिये या वेदनाखण्डके कहिये १६ ही अनुयोगद्वार हैं, जिनके नाम वेदणणिक्खेव, वेदणणयविभासणदा, वेदणणाम-विहाण, वेदणदव्वविहाण, वेदणखेत्तविहाण, वेदण-कालविहाण, वेदणभावविहाण आदि हैं।\*

ऐसी राय रखने और कथन करने वाले विद्वान् इस बातको भुला देते हैं कि 'कम्मपयडिपाहुड' और 'वेयणकसीणपाहुड' दोनों एक ही चीज़के नाम हैं। क्रमोंका प्रकृत स्वरूप वर्णन करनेसे जिस प्रकार

\* देखो, 'जैनसिद्धान्तभास्कर' के पाँचवें भागकी तृतीय किरणमें प्रकाशित सोनीजीका 'षड्खण्डागम और भ्रमनिवारण' शीर्षक लेख। आगे भी सोनीजीके मन्तव्योंका इसी लेखके आधार पर उल्लेख किया गया है।

‘कम्मपयडिपाहुड’ गुणनाम है उसी प्रकार ‘वेयण-कसीणपाहुड’ भी गुणनाम है; क्योंकि ‘वेदना’ कर्मोंके उदयको कहते हैं, उसका निरवशेषरूपसे जो वर्णन करता है उसका नाम ‘वेयणकसीणपाहुड’ है; जैसा कि ‘धवला’ के निम्न वाक्यसे प्रकट है, जो कि आराके जैनसिद्धान्तभवनकी प्रतिमें पत्र नं० १७ पर दिया हुआ है—

“कम्माणं पयडिसरूवं वण्णेदि तेण कम्मपय-डिपाहुडे त्ति गुणणामं, वेयणकसीणपाहुडे त्ति वि तस्स विदियं णाममत्थि, वेयणा कम्माणमुदयो तं कसीणं णिखसेसं वण्णदि अदो वेयणकसीण-पाहुडमिदि, एदमवि गुणणाममेव ।”

वेदनाखण्डका विषय ‘कम्मपयडिपाहुड’ न होनेकी हालतमें यह नहीं हो सकता कि भूतबलि आचार्य कथन करने तो बैठें वेदनाखण्डका और करने लगे कथन कम्मपयडिपाहुडका, उसके २४ अधिकारोंका क्रमशः नाम देकर ! उस हालतमें कम्मपयडिपाहुडके अन्तर्गत २४ अधिकारों (अनुयोगद्वारों) मेंसे ‘वेदना’ नामके द्वितीय अधिकारके साथ अपने वेदनाखण्डका सम्बन्ध व्यक्त करनेके लिये यदि उन्हें उक्त २४ अधिकारोंके नामका सूत्र देनेकी जरूरत भी होती तो वे उसे देकर उसके बाद ही ‘वेदना’ नामके अधिकारका वर्णन करते; परन्तु ऐसा नहीं किया गया—‘वेदना’ अधिकारके पूर्व ‘कदि’ अधिकारका और बादको ‘फास’ आदि अधिकारोंका भी उद्देशानुसार (नामक्रमसे) वर्णन प्रारम्भ किया गया है। धवलकार श्रीवीरसेनाचार्यने भी, २४ अधिकारोंके नामवाले सूत्रकी व्याख्या करनेके बाद, जो उत्तरसूत्रकी उत्थानिका दी है उसमें यह स्पष्ट कर दिया है कि उद्देशके अनुसार निर्देश होता है इसलिये आचार्य ‘कदि’ अनुयोगद्वारका प्ररूपण करनेके लिये

उत्तरसूत्र कहते हैं। यथा—

“जहा उद्देशो तहा णिद्देशो त्ति कट्ट कदि-अणिओगहारं परूवणट्टमुत्तरसुत्तं भणदि ।” ❀

इससे स्पष्ट है कि ‘वेदनाखण्ड’ का विषय ही ‘कम्मपयडिपाहुड’ है; इसीसे इसमें उसके २४ अधिकारोंको अपनाया गया है, मंगलाचरण तकके ४४ सूत्र भी उसीसे उठाकर रक्खे गये हैं। यह दूसरी बात है कि इसमें उसकी अपेक्षा कथन संक्षेपसे किया गया है, कितने ही अनुयोगद्वारोंका पूरा कथन न देकर उसे छोड़ दिया है और बहुतसा कथन अपनी ग्रंथपद्धतिके अनुसार सुविधा आदिकी दृष्टिसे दूसरे खण्डोंमें भी ले लिया गया है। इसीसे ‘षट्खण्डागम’ महाकम्मपयडिपाहुड (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) से उद्धृत कहा जाता है।

यहाँ पर इतना और भी जान लेना चाहिये कि वेदनाखण्डके मूल २४ अनुयोगद्वारोंके साथ ही धवला टीका समाप्त हो जाती है, जैसाकि ऊपर बतलाया गया है, और फिर उसमें वर्गणाखण्ड तथा उसकी टीकाके लिये कोई स्थान नहीं रहता। उक्त २४ अनुयोगद्वारोंमें ‘वर्गणा’ नामका कोई अनुयोगद्वार भी नहीं है। ‘बंधण’ अनुयोगद्वारके चार भेदोंमें ‘बंधणिज्ज’ भेदका वर्णन करते हुए, उसके अवान्तर भेदोंमें विषयको स्पष्ट करनेके लिये † संक्षेपमें ‘वर्गणा-प्ररूपणा’ दी गई है—वर्गणाके

❀ देखो, आरा जैनसिद्धान्तभवनकी ‘धवल’ प्रति, पत्र २५२ ।

† जैसा कि उसके निम्न वाक्यसे प्रकट है—

“तेण बंधणिज्जपरूपवणे कीरमाणे वग्गणपरू-वणा णिच्छणकायठ्वा । अण्णहा तेवीस वग्गणा-सुइया चेव वग्गणा बंधपाओगा अण्णा जो बंधपा-ओगा ण होंतिअत्तिगमाणु वपत्तीदो ।”

१६ अधिकारोंका उल्लेख करके भी दो ही अधिकारोंका वर्णन किया है। और भी बहुत कुछ संक्षिप्ततासे काम लिया है, जिससे उसे वर्गणाखण्ड नहीं कहा जा सकता और न कहीं वर्गणाखण्ड लिखा ही है। इसी संक्षेप-प्ररूपण-हेतुको लेकर अन्यत्र कदि, फास, और कम्म आदि अनुयोगद्वारोंके खण्डग्रन्थ होनेका निषेध किया गया है। तब अवान्तर अनुयोगद्वारोंके भी अवान्तर भेदान्तर्गत इस संक्षिप्त वर्गणाप्ररूपणाको 'वर्गणाखण्ड' कैसे कहा जा सकता है ?

ऐसी हालतमें सोनीजी जैसे विद्वानोंका उक्त कथन कहाँ तक ठीक है, इसे विज्ञ पाठक इतने परसे ही स्वयं समझ सकते हैं, फिर भी साधारण पाठकोंके ध्यानमें यह विषय और अच्छी तरहसे आजाय, इसलिये, मैं इसे यहाँ और भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ और यह खुले रूपमें बतला देना चाहता हूँ कि 'धवल' वेदान्त चार खण्डोंको टीका है—पाँचवें वर्गणाखण्डकी टीका नहीं है।

वेदनाखण्डकी आदिमें दिये हुए ४४ मंगलसूत्रोंकी व्याख्या करनेके बाद श्रीवीरसेनाचार्यने मंगलके 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' ऐसे दो भेद करके उन मंगलसूत्रोंको एक दृष्टिसे अनिबद्ध और दूसरी दृष्टिसे निबद्ध बतलाया है और फिर उसके अनन्तर ही एक शंका-समाधान दिया है, जिसमें उक्त मंगलसूत्रोंको ऊपर कहे हुए तीन खण्डों—वेदणा, बंधसामित्तविचओ और खुद्दाबंधों—का मंगलाचरण बतलाते हुए यह स्पष्ट सूचना की गई है कि 'वर्गणाखण्ड' की आदिमें तथा 'महाबन्धखंड' की आदिमें प्रथक् मंगलाचरण किया गया है, मंगलाचरण के बिना भूतबलि आचार्य ग्रन्थका प्रारम्भ ही नहीं करते हैं। साथ ही, यह भी बतलाया है कि जिन कदि, फास, कम्म, पयडि, [बंधण] अनुयोगद्वारोंका भी यहाँ

(एत्थ)—इस वेदनाखण्डमें—प्ररूपण किया गया है, उन्हें खण्डग्रन्थ-संज्ञा न देनेका कारण उनके प्रधानताका अभाव है, जो कि उनके संक्षेप कथनसे जाना जाता है। इस कथनसे सम्बन्ध रखने वाले शंका-समाधानके दो अंश इस प्रकार हैं:—

“उवरि उच्चमाणेसु तिसु खंडेसु कस्सेदं मंगलं ? तिण्णं खंडाणं । कुदो ? वग्गणामहाबंधाणं आदीए मंगलकरणादो । ए च मंगलेण विणा भूदबलि-भडारओ गंधस्स पारंभदि तस्स अणाइरियत्तप्प-सगादो ।”

“कदि-फास-कम्म-पयडि-(बंधण)-अणियोग-हाराणि वि एत्थ परूविदाणि तेसिं खंडगंधसण्ण-मकाऊण तिण्णिण चेव खंडाणि त्ति किमट्ठं उच्चदे ? ए तेसिं पहाणत्ताभावादो । तं पि कुदो एण्वदे ? संखेवेण परूवणादो ।”\*

उक्त, 'फास' आदि अनुयोगद्वारोंमेंसे किसीके भी शुरूमें मंगलाचरण नहीं है—'फासे त्ति', 'कम्मे त्ति' 'पयडि त्ति', 'बंधणे' त्ति' सूत्रोंके साथ ही क्रमशः मूल अनुयोगद्वारोंका प्रारम्भ किया गया है, और इन अनुयोगद्वारोंकी प्ररूपणा वेदनाखण्डमें की गई है तथा इनमेंसे किसीको खण्डग्रन्थकी संज्ञा नहीं दी गई, यह बात ऊपरके शंकासमाधानसे स्पष्ट है। ऐसी हालतमें सोनीजीका 'वेदना' अनुयोगद्वारको ही 'वेदनाखण्ड' बतलाना और फास, कम्म, पयडि अनुयोगद्वारोंको तथा बंधण-अनुयोगद्वारके बन्ध और बंधनीय अधिकारोंको मिलाकर 'वर्गणाखण्ड'की कल्पना करना और यहाँ तक लिखना कि ये अनुयोगद्वार “वर्गणाखंडके नामसे प्रसिद्ध हैं” कितना असंगत और भ्रमपूर्ण है उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं रहती। 'वर्गणाखंड' के नामसे \*देखो, आरा-जैनसिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति पत्र २३२

उक्त अनुयोगद्वारोंके प्रसिद्ध होनेकी बात तो बड़ी ही विचित्र है ! अभी तो यह ग्रन्थ लोकपरिचयमें भी अधिक नहीं आया । फिर उसके कुछ अनुयोगद्वारोंकी 'वर्गणा-खंड' नामसे प्रसिद्धि की तो बात ही दूर है । सोनीजीको यह सब लिखते हुए इतनी भी खबर नहीं पड़ी कि यदि अकेला वेदना-अनुयोगद्वार ही वेदनाखंड है तो फिर 'कदि' अनुयोगद्वारको कौनसे खंडमें शामिल किया जायगा ? 'बंधसामित्तविचित्रो' नामके पूर्वखंडमें तो उसका समावेश हो नहीं सकता—वह अपने विषय और मंगलसूत्रों आदिके द्वारा उससे पृथक् हो चुका है । इसी तरह यह भी खबर नहीं पड़ी कि यदि बंधण-अनुयोगद्वारके बंध और बन्धनीय अधिकारोंको वर्गणा-खंडमें शामिल किया जायगा तो शेष अधिकारके क्रमशः प्राप्त कथनके लिये कौनसे नये खंडकी कल्पना करनी होगी ? क्या उसे किसी भी खंडमें शामिल न करके अलग ही रखना होगा ? आशा है इन सब बातोंके विचार परसे सोनीजीको अपनी भूल मालूम पड़ेगी ।

अब मैं उन बातोंको भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ जिनसे सोनीजीको भ्रम हुआ जान पड़ता है और जिन्हें वे अपने पत्रकी पुष्टिमें हेतुरूपसे प्रस्तुत करते हैं ।

(क) सबसे पहली बात है वेदना-अनुयोगद्वारके अन्तमें वेदनाखंडकी सम्प्रप्तिका लिखा जाना, जिसकी शब्दरचना इस प्रकार है—

“एवं वेयणाअप्पावहुणाणिओगद्वारे समत्तो वेयणाखंड समत्ता ।”

इस वाक्यमें “वेयणाखंड समत्ता” यह पद अशुद्ध है—“वेयणा समत्ता” ऐसा होना चाहिये; क्योंकि वेयणकसीणपाहुड अथवा कम्मपयडिपाहुडके २४ अनुयोगद्वारोंमेंसे, जिनका ग्रन्थमें उद्देश-क्रमसे कथन किया

है, ‘वेयणा’ नामका दूसरा अनुयोगद्वार है, जिसकी टीका प्रारंभ करते हुए वीरसेनाचार्यने भी, “वेयणम-हाहियारं विविहियारं परूवेमो” इस प्रतिज्ञावाक्यके द्वारा उसे विविध अधिकारोंसे युक्त ‘वेयणा’ नामका महाअधिकार सूचित किया है—“वेयणाखंड” नहीं लिखा है—; वही अधिकार अथवा अनुयोगद्वार अपने अवान्तर १६ अनुयोगद्वारों और उनके भी फिर अवान्तर अधिकारोंके साथ वहाँ पूरा हुआ है । ‘वेयणा’ के १६ अनुयोगद्वारोंमें अन्तका अनुयोगद्वार ‘वेयणाअप्पावहुण’ है, उसीकी समाप्तिके साथ ‘वेयणा’ की समाप्तिकी बात उक्त समाप्तिसूचक वाक्यमें कही गई है । ‘वेयणा’ पद स्त्रीलिंग होनेसे उसके साथमें ‘समत्ता’ (समाप्त हुई) क्रिया ठीक बैठ जाती है । दोनोंके बीचमें पड़ा हुआ ‘खंड’ शब्द असंगत और प्रक्षिप्त जान पड़ता है । श्रीवीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीकामें कहीं भी अकेले ‘वेयणा’ अनुयोगद्वारको ‘वेयणाखंड’ नहीं लिखा है—वे ‘वेयणाखण्ड’ अनुयोगद्वारोंके उस समूहको बतलाते हैं जिसका प्रारंभ ‘कदि’ अनुयोगद्वारसे होता है और इसीसे ‘कदि’ अनुयोगद्वारके शुरूमें दिये हुए उक्त ४४ मंगलसूत्रोंको उन्होंने ‘वेदनाखण्ड’ का मंगलाचरण बतलाया है; जैसा कि उनके निम्नवाक्यमें प्रयुक्त हुए “वेयणाखण्डस्स आदीए मंगलट्ठं” शब्दोंसे स्पष्ट है—

“ए ताव णिकद्धमंलमिदं महाकम्मपपडिपाहुडस्स कदियादिचउवीसअणियोगावयवस्स आदीए गोदमसामिणा परूविदस्स भूदबलिभडारप्पण वेयणाखंडस्स आदीए मंगलट्ठं तत्तो आणेदूण ठविदस्स णिवद्धत्तविरोहादो ।”

ऐसी हालतमें और इससे पूर्वमें डाले हुए प्रकाशकी रोशनीमें उक्त ‘खंड’ शब्दके प्रक्षिप्त होनेमें कोई

सन्देह मालूम नहीं होता। 'खण्ड' शब्द लेखककी किमी असावधानीका परिणाम है। हो सकता है कि यह उस लेखकके द्वारा ही बादमें बढ़ाया गया हो जिसने उक्त वाक्यके बाद अधिकारकी समाप्तिका चिन्ह होते हुए भी नीचे लिखे वाक्योंको प्रक्षिप्त किया है—

“एमो णाणाराहणाए एमो दंसणाराहणाए एमो चरित्ताराहणाए एमो तवाराहणाए । एमो अरहंताणं एमो सिद्धाणं एमो आइरियाणं एमो उवञ्जायाणं एमो लोए संव्वसाहूणं। एमो भयवदो महदिमहावीरवड्ढमाणबुद्धिरिसिस्स एमो भयवदो गोयमसामिस्स० नमः सकलविमलकेवलज्ज्ञानावभासिने नमो वीतरागाय महात्मने नमो बद्धमानभट्टराकाय । वेदनाखण्डसमाप्तम् ।”

ये वाक्य मूलग्रन्थ अथवा उसकी टीकाके साथ कोई खास सम्बन्ध रखते हुए मालूम नहीं होते—वैसे ही किसी पहले लेखक-द्वारा अधिकार-समाप्तिके अन्तमें दिए हुए जान पड़ते हैं। और भी अनेक स्थानोंपर इस प्रकारके वाक्य पाये जाते हैं, जो या तो मूलप्रतिके हाशिये पर नोट किये हुए थे अथवा अधिकार-समाप्ति के नीचे छूटे हुए खाली स्थानपर बादको किसीके द्वारा नोट किये हुए थे; और इस तरह काफी करते समय ग्रन्थमें प्रक्षिप्त हो गये हैं। वीरसेनाचार्यकी अपने अधिकारोंके अन्तमें ऐसे वाक्य देनेकी कोई पद्धति भी नहीं पाई जाती—अभिक्रान्त अधिकार ही नहीं किन्तु खंड तक ऐसे वाक्योंसे शून्य पाये जाते हैं। और कितनेही अधिकारोंमें ऐसे वाक्य प्रक्षिप्त हो रहे हैं जिनका पूर्वापर कोई भी सम्बन्ध ठीक नहीं बैठता। उदाहरणके लिए 'जीवट्टाण'की एक चूलिका (संभवतः ७वीं या ८ वीं) में

“तव्वदिरित्ताणाणि असंखेज्जगुणाणि पडि-  
वादुप्पादताणाणि मोतूण सेससव्वट्टाणाणं  
गहणादो ।”

इस वाक्यके अनन्तर ही बिना किसी सम्बन्धके ये वाक्य दिये हुए हैं।

“श्रीश्रुतिकीर्तित्रैविद्यदेवस्थिरं जीयाओ ॥१०॥

नमो वीतरागाय शान्तये”†

ऐसी हालतमें उक्त 'खंड' शब्द निश्चितरूपसे प्रक्षिप्त अथवा लेखककी किसी भूलका परिणाम है। यदि वीरसेनाचार्यको 'वेदना' अधिकारके साथ ही 'वेदना-खंड' का समाप्त करना अभिष्ट होता तो वे उसके बाद ही क्रमप्राप्त वर्गणाखंडका स्पष्ट रूपसे प्रारंभ करते—फासाणियोगद्वाराका प्रारंभ करके उसकी टीकाके मंगलाचरणमें 'फासाणिओअं परूवेमो' ऐसा न लिखते। मूल 'फास' अनुयोगद्वारके साथमें कोई मंगलाचरण न होनेसे उसके साथ वर्गणाखंडका प्रारंभ नहीं किया जा सकता; क्योंकि वर्गणाखंडके प्रारंभमें भूतबलि आचार्यने मंगलाचरण किया है, यह बात श्रीवीरसेनाचार्यके शब्दोंसे ही ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है। अतः उक्त समाप्तिसूचक वाक्यमें 'खंड' शब्दके प्रयोगमात्रसे सोनीजीके तथा उन्हींके सटश दूसरे विद्वानोंके कथनको कोई पोषण नहीं मिलता। उनकी इस पहली बातमें कुछ भी जान नहीं है—वह एक निर्दोष हेतुका काम नहीं दे सकती।

(ख) दूसरी बात बहुत साधारण है। फासाणियोग-द्वारकी टीकाके अन्तमें एक वाक्य निम्नप्रकारसे पाया जाता है—

“जदि कम्मफासे पयदं तो कम्मफासी सेसप-

‡ देखो आरा-जैन सिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति,

† देखो, आरा-जैन सिद्धान्तभवन की 'धवल' प्रति पत्र नं० ३४१।

एणासअणिओगहारेहिं भूदबलिभयवदा सो एत्थ  
किण्ण परूविदो ? एण एस दोसो, कम्मक्खंधस्स  
फाससणिणदस्स सेसाणियोगहारेहिं परूवणाए  
कीरमाणाए वेयणाए परूविदत्थादो विसेसो  
एत्थि त्ति ।”

इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया गया है कि  
फासाणिओगहारके १६ अनुयोगद्वारोंमेंसे एकका  
कथन करके शेष १५ अनुयोगद्वारोंका कथन भूतबलि  
आचार्यने यहाँ इसलिये नहीं किया है कि उनकी प्ररू-  
पणामें ‘वेदना’ अधिकारमें प्ररूपित अर्थसे कोई विशेष  
नहीं है ।

इसी तरह पयडि (प्रकृति) अनुयोगद्वारके अन्तमें  
भूतबलि आचार्यका एक वाक्य निम्नप्रकारसे उपलब्ध  
होता है—

सेसं वेयणाए भंगो ।”

इस वाक्यकी टीकामें वीरसेनाचार्य लिखते हैं—  
“सेसाणिओगहाराणं जहा वेयणाए परूवणा कदा  
तहा कायव्या ।” अर्थात् शेष अनुयोगद्वारोंकी प्ररू-  
पणा जिस प्रकार वेदना-अनुयोगद्वारमें की गई है  
उसी प्रकार यहाँ भी कर लेनी चाहिये ।

उक्त दोनों वाक्योंको देकर सोनीजी लिखते हैं—  
“इन दो उद्धरणोंसे भी स्पष्ट होता है कि ‘फासाणि-  
योगद्वार’ के पहले तक ही ‘वेदनाखंड’ है ।” परन्तु  
कैसे स्पष्ट होता है ? इसे सोनी जी ही समझ सकते  
हैं !! यह सब उसी भ्रम तथा भूलका परिणाम है जिसके  
अनुसार ‘फासाणिओगद्वार’ के पूर्ववर्ती ‘वेयणाअणि-  
योगद्वार’ को ‘वेदनाखण्ड’ समझ लिया गया है और  
जिसका ऊपर काफी स्पष्टीकरण किया जा चुका है ।  
उक्त वाक्योंमें प्रयुक्त हुआ ‘वेयणा’ शब्द ‘वेदनाअनु-  
योगद्वार’ का वाचक है—‘वेदनाखण्ड’ का वाचक

नहीं है ।

(ग) तीसरी बात वर्गणाखण्डके उल्लेखसे सम्बन्ध  
रखती है । सोनीजी ‘जयधवला’ से “सिण्णोगहादीणां  
अत्थो जहा वर्गणाखण्डे परूविदो तहा एत्थ परू-  
वेदव्वो” यह वाक्य उद्धृत करके लिखते हैं—

“जयधवलमें न तो अवग्रह आदिका अर्थ लिखा  
है और न मतिज्ञानके ३३६ भेद ही स्पष्ट गिनाये गये  
हैं । ‘प्रकृति’ अनुयोगद्वारमें इन सबका स्पष्ट और सविस्तर  
वर्णन टीकामें ही नहीं बल्कि मूलमें है । इससे मालूम  
होता है कि वेदनाखण्डके आगेके उक्त अनुयोगद्वार  
वर्गणाखण्डके अन्तर्गत हैं या उनका सामान्य नाम  
वर्गणाखण्ड है । यदि ऐसा न होता तो आचार्य ‘प्रकृति’  
अनुयोगद्वारको वर्गणाखण्डके नामसे न लिखते ।”

कितना बढ़िया अथवा विलक्षण यह तर्क है, इस-  
पर विज्ञ पाठक ज़रा गौर करें ! सोनीजी प्रकृति (पयडि)  
अनुयोगद्वारको ‘वर्गणाखण्ड’ का अंग सिद्ध करनेकी  
धुनमें वर्गणाखण्डके स्पष्ट उल्लेखको भी ‘प्रकृति’  
अनुयोगद्वारका उल्लेख बतलाते हैं और यहाँ तक  
कहनेका साहस करते हैं कि खुद जयधवलाकार आ-  
चार्यने ‘प्रकृति’ अनुयोगद्वारको वर्गणाखण्डके नामसे  
उल्लेखित किया है !! इसीका नाम अतिसाहस है ! क्या  
एक विषयका वर्णन अनेक ग्रंथोंमें नहीं पाया जाता ?  
यदि पाया जाता है तो फिर एक ग्रन्थका नाम लेकर  
यदि कोई उल्लेख करता है तो उसे दूसरे ग्रन्थका उल्लेख  
क्यों समझा जाय ? इसके सिवाय, यह बात ऊपर स्पष्ट  
की जा चुकी है कि वर्गणाखण्डकी आदिमें भूतबलि  
आचार्यने मंगलाचरण किया है और जिन ‘फास’  
आदि चार अनुयोगद्वारोंको ‘वर्गणाखण्ड’ बतलाया  
जाता है उनमेंसे किसीकी भी आदिमें कोई मंगलाचरण  
नहीं है, इससे वे ‘वर्गणाखण्ड’ नहीं हैं किन्तु ‘वेदना-

खण्ड' के ही अधिकार हैं, जिनके क्रमशः कथनकी प्रथम सूचना की गई है।

(घ) चौथी बात है कुछ वर्गणासूत्रोंके उल्लेख की। सोनीजीने वेदनाखण्डके शुरूमें दिये हुए मंगलसूत्रोंकी व्याख्यामेंसे निम्न लिखित तीन वाक्योंको उद्धृत किया है, जो वर्गणासूत्रोंके उल्लेखको लिये हुए हैं—

“ओहिणाणावरणास्स असंखेज्जमेत्ताओ चेव पयडीओ त्ति वग्गणसुत्तादो।”

“वालो चउण्णउड्ढी कालो भजिदव्वो खेत्तवुड्ढीए वुड्ढीए दव्वपज्जय भजिदव्वो खेत्तकाला दु ॥

एदम्हादो वग्गणसुत्तादो णव्वदे।”

“आहारवग्गणाए दव्वा थोवा, तेयावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, भासावग्गणाए दव्वा अणंतगुणा, मण० दव्वा अणंतगुणा, कम्मइय अणंतगुणा त्ति वग्गणसुत्तादो णव्वदे।”

ये वाक्य यद्यपि धवलादि-सम्बन्धी मेरी उस नोट्स-बुकमें नोट किये हुए नहीं हैं जिसके आधारपर यह सब परिचय लिखा जा रहा है, और इससे मुझे इनकी जाँचका और इनके पूर्वापर सम्बन्धको मालूम करके यथेष्ट विचार करनेका अवसर नहीं मिल सका; फिर भी सोनीजी इन वाक्योंमें उल्लेखित प्रथम दो वर्गणासूत्रोंका ‘प्रकृत’ अनुयोगद्वारमें और तीसरेका ‘बन्धनीय’ अधिकारमें जो पाया जाना लिखते हैं उस पर मुझे सन्देह करनेकी ज़रूरत नहीं है। परन्तु इस पाये जाने मात्रसे ही ‘प्रकृत’ अनुयोगद्वार और ‘बन्धनीय’ अधिकार वर्गणाखण्ड नहीं हो जाते। क्योंकि प्रथम तो ये अधिकार और इनके साथके फासादि अधिकार वर्गणाखण्डके कोई अंग नहीं हैं, यह बात ऊपर स्पष्ट की जा चुकी है—इनमेंसे किसीके भी शुरू, मध्य या अन्तमें इन्हें वर्गणाखंड नहीं लिखा, अन्तके ‘बन्धनीय’ अधिकारको

समाप्त करते हुए भी इतना ही लिखा है कि “एवमो-गाहणपाबहुए सुवुत्ते बंधणिज्जं समत्तं होदि।” दूसरे, ‘वर्गणासूत्र’ का अभिप्राय वर्गणाखंडकासूत्र नहीं किन्तु वर्गणाविषयक सूत्र है। वर्गणाका विषय अनेक खंडों तथा अनुयोगद्वारोंमें आया है, ‘वेदना’ नामके अनुयोगद्वारमें भी वह पाया जाता है—“वग्गणपरूवणा” नामका उसमें एक अवान्तरान्तर अधिकार है। उस अधिकारका कोई सूत्र यदि वर्गणासूत्रके नामसे कहीं उल्लेखित हो तो क्या सोनीजी उस अधिकार अथवा वेदना अनुयोगद्वारको ही ‘वर्गणाखंड’ कहना उचित समझेंगे? यदि नहीं तो फिर उक्त वर्गणासूत्रोंके प्रकृत-आदि अनुयोगद्वारोंमें पाये जाने मात्रसे उन अनुयोगद्वारोंको ‘वर्गणाखंड’ कहना कैसे उचित हो सकता है? कदापि नहीं। अतः सोनीजीका उक्त वर्गणासूत्रोंके उल्लेख परसे यह नतीजा निकालना कि “यही वर्गणाखंड है—इससे जुदा और कोई वर्गणाखंड नहीं है” ज़रा भी तर्क-संगत मालूम नहीं होता।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि षट्खंडागमके उपलब्ध चारखंडोंमें सैकड़ों सूत्र ऐसे हैं जो अनेक खंडों तथा एक खंडके अनेक अनुयोगद्वारोंमें ज्योंके स्थों अथवा कुछ पाठभेदके साथ पाये जाते हैं—जैसे कि ‘गह इंदिए च काए’० नामका मार्गणासूत्र जीवट्ठाण, खुदाबंध और वेयणा नामके तीन खंडोंमें पाया जाता है। किसी सूत्रकी एकता अथवा समानताके कारण जिस प्रकार इन खंडोंमेंसे एक खंडको दूसरा खंड तथा एक अनुयोगद्वारको दूसरा अनुयोगद्वार नहीं कह सकते उसी प्रकार वर्गणाखंडके कुछ सूत्र यदि इन खंडों अथवा अनुयोगद्वारोंमें पाये जाते हों तो इतने परसे ही इन्हें वर्गणाखंड नहीं कहा जा सकता। वर्गणाखंड कहनेके लिये तद्विषयक दूसरी

आवश्यक बातोंको भी उसी तरह देख लेना होगा जिस तरह कि उक्त सूत्रकी एकताके कारण खुदाबन्धको जी-वद्याण कहनेपर जीवद्याण-विषयक दूसरी ज़रूरी बातोंको वहां देख लेना होगा। अतः मोनी जीने वर्गणासूत्रोंके उक्त उल्लेख परसे जो अनुमान लगाया है वह किसी तरह भी ठीक नहीं है।

(ङ) एक पाँचवीं बात और है, और वह इस प्रकार है—

“आचार्य वीरसेन लिखते हैं—अवसेसं सुत्तद्वं वगणाए परूवइस्सामो’ अर्थात् सूत्रका अवशिष्ट अर्थ ‘वर्गणा’ में प्ररूपण करेंगे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ‘वर्गणा’ का प्ररूपण भी वीरसेनस्वामीने किया है। वर्गणाका वह प्ररूपण धवलसे बहिर्भूत नहीं है किन्तु धवल ही के अन्तर्भूत है।”

यद्यपि आचार्य वीरसेनका उक्त वाक्य मेरे पास नोट किया हुआ नहीं है, जिससे उस पर यथेष्ट विचार किया जा सकता; फिर भी यदि वह वीरसेनाचार्यका ही वाक्य है और ‘वेदना’ अनुयोगद्वारमें दिया हुआ है तो उससे प्रकृत विषय पर कोई असर नहीं पड़ता—यह लाज़िमी नहीं आता कि उसमें वर्गणाखण्डका उल्लेख है और वह वर्गणाखण्ड फासादि अनुयोगद्वारोंसे बना हुआ है—उसका सीधा संबंध स्वयं ‘वेदना’ अनुयोग द्वारमें दी हुई है ‘वगणापरूवणा’ तथा ‘बन्धणिज्ज’ अधिकारमें दी हुई वर्गणाकी विशेष प्ररूपणाके साथ हो सकता है, जोकि धवलके बहिर्भूत नहीं है। और यदि जुदे वर्गणाखण्डका ही उल्लेख हो तो उस पर वीरसेनाचार्यकी अलग टीका होनी चाहिये, जिसे वर्तमानमें उपलब्ध होने वाले धवलभाष्य अथवा धवला टीकामें समाविष्ट नहीं किया गया है। हो सकता है कि जिस विकट परिस्थितिमें यह ग्रंथप्रति मूडविद्रीसे आई है

उसमें शीघ्रतादिके वश वर्गणाखण्डकी कापी न हो सकी हो और अधूरी ग्रन्थप्रति पर यथेष्ट पुरस्कार न मिल सकनेकी आशासे लेखकने ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिको ‘वेदनाखण्ड’ के बाद जोड़कर ग्रंथप्रतिको पूरा प्रकट किया हो, जिसकी आशा बहुत ही कम है। कुछ भी हो, उपलब्ध प्रतिके साथमें वर्गणाखण्ड नहीं है और वह चार खण्डोंकी ही टीका है, इतना तो स्पष्ट ही है। शेषका निर्णय मूडविद्रीकी मूल प्रतिको देखनेसे ही हो सकता है। आशा है पं० लोकनाथजी शास्त्री उसे देखकर इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश डालने की कृपा करेंगे—यह स्पष्ट लिखनेका ज़रूर कष्ट उठा-एँगे कि वेदनाखण्ड अथवा कम्मपयडिपाहुडके २४वें अधिकारकी समाप्ति के बाद ही—“एवं चउवीसदिमणिओगद्वारं समत्तं” इत्यादि समाप्तिसूचक वाक्यों के अनन्तर ही—उसमें ‘जस्स सेसाण्णमए’ नामकी प्रशस्ति लगी हुई है या कि उसके बाद ‘वर्गणाखण्ड’ की टीका देकर फिर वह प्रशस्ति दी गई है।

हाँ, मोनीजीने यह नहीं बतलाया कि वह सूत्र कौनसा है जिसके अवशिष्ट अर्थको ‘वर्गणा’ में कथन करने की प्रतिज्ञा की गई है और वह किस स्थान पर कौनसी वर्गणाप्ररूपणमें स्पष्ट किया गया है? उसे ज़रूर बतलाना चाहिये था। उससे प्रकृत विषयके विचारको काफ़ी मदद मिलती और वह बहुत कुछ स्पष्ट होजाता। अस्तु।

यहाँ तकके इस संपूर्ण विवेचन परसे और ग्रंथकी अंतरंग साक्षी परसे मैं समझता हूँ, यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि उपलब्ध धवला टीका षट्खण्डागमके प्रथम चार खण्डोंकी टीका है, पाँचवें वर्गणाखण्डकी टीका उसमें शामिल नहीं है और अकेला ‘वेदना’ अनुयोगद्वार ही वेदनाखण्ड नहीं है बल्कि उसमें

दूसरे अनुयोगद्वारा भी शामिल हैं।

इन्द्रनन्दी और विबुध श्रीधरके श्रुतावतारोंकी बहिरंग साक्षीपरसे भी कुछ विद्वानोंको भ्रम हुआ जान पड़ता है; क्योंकि इन्द्रनन्दीने “इतिषण्णां खण्डानां...टीकां विलिख्य धवलाख्याम्” इस वाक्यके द्वारा धवलाको छह खण्डोंकी टीका बतला दिया है ! और विबुधश्रीधरने ‘पंचखंडे षट्खंडं संकल्प्य’ जैसे वाक्यके द्वारा धवलामें पाँच खण्डोंका होना सूचित किया है। इस विषयमें मैं सिर्फ इतना ही बतला देना चाहता हूँ कि इन ग्रंथकारोंके सामने मूल सिद्धान्तग्रंथ और उनकी प्राचीन टीकाएँ तो क्या धवल और जयधवल ग्रंथ तक मौजूद नहीं थे और इसलिये इन्होंने इस विषयमें जो कुछ लिखा है वह सब प्रायः किंवदन्तियों अथवा सुने-सुनाये आधार पर लिखा जान पड़ता है। यही वजह है कि धवल-जयधवलके उल्लेखोंसे इनके उल्लेखोंमें कितनी ही बातोंका अन्तर पाया जाता है, जिसका कुछ परिचय पाठकोंको अनेकान्तके द्वितीय वर्षकी प्रथम किरण के पृष्ठ ७, ८ को देखनेसे मालूम हो सकता है और कुछ परिचय इस लेखमें आगे दिये हुए फुटनोटों आदिलेभी जाना जा सकेगा। ऐसी हालतमें इन ग्रंथोंकी बहिरंग साक्षीको खुद धवलादिककी अंतरंग साक्षी पर कोई महत्व नहीं दिया जा सकता। अन्तरंग-परीक्षणसे जो बात उपलब्ध होती है वही ठीक जान पड़ती है।

### षट् खण्डागम और कषायप्राभृतकी उत्पत्ति

अब यह बतलाया जाता है कि धवलके मूलाधार-भूत ‘षट्खंडागम’ की और जयधवलके मूलाधाररूप ‘कषायप्राभृत’ की उत्पत्तिकैसे हुई-कब किस आचार्य-महोदयने इनमेंसे किस ग्रंथका निर्माण किया और उन्हें तद्विषयक ज्ञान कहाँसे अथवा किसक्रमसे (गुरुपरम्परासे)

प्राप्त हुआ। यह सब वर्णन अथवा ग्रंथावतार कथन यहाँ धवल और जयधवलके आधार पर—उनके वर्णनानुसार ही दिया जाता है।

धवलके शुरूमें, कर्ताके ‘अर्थकर्ता’ और ‘ग्रन्थकर्ता’ ऐसे दो भेद करके, केवलज्ञानी भगवान महावीरको द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव-रूपसे अर्थकर्ता प्रतिपादित किया है और उसकी प्रमाणतामें कुछ प्राचीन पद्योंको भी उद्धृत किया है। महावीर-द्वारा-कथित अर्थको गौतम गोत्री ब्राह्मणोत्तम गौतमने अवधारित किया, जिसका नाम इन्द्रभूति था। यह गौतम सम्पूर्ण दुःश्रुतिका पारगामी था, जीवाजीव-विषयक सन्देहके निवारणार्थ श्रीवर्द्धमान महावीरके पास गया था और उनका शिष्य बन गया था। उसे वहीं पर उसी समय ज्ञेयपशम-जनित निर्मल ज्ञान-चतुष्टयकी प्राप्ति हो गई थी। इस प्रकार भाव-श्रुतपर्याय-रूप परिणत हुए इन्द्रभूति गौतमने महावीर-कथित अर्थकी बारह अंगों-चौदह पूर्वोंमें ग्रन्थ-रचना की और वे द्रव्यश्रुतके कर्ता हुए। उन्होंने अपना वह द्रव्य-भाव-रूपी श्रुतज्ञान लोहाचार्य के प्रति संचारित किया और लोहाचार्यने जम्बूस्वामीके प्रति। ये तीनों—गौतम, लोहाचार्य और जम्बूस्वामी—सप्तप्रकारकी लब्धियोंसे सम्पन्न थे और उन्होंने सम्पूर्ण श्रुतके पारगामी होकर केवलज्ञानको उत्पन्न करके क्रमशः निर्वृत्तिको प्राप्त किया था।

जम्बूस्वामीके पश्चात् क्रमशः विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु ये पाँच आचार्य चतुर्दश-पूर्वके धारी अर्थात् सम्पूर्ण श्रुतज्ञानके पारगामी हुए।

‘धवलके ‘वेदना’ खण्डमें भी लोहाचार्यका नाम दिया है। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें इस स्थान पर सुधर्म मुनिका नाम पाया जाता है।

भद्रबाहुके अनन्तर विशाखाचार्य, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जयाचार्य<sup>१</sup>, नागाचार्य<sup>२</sup>, सिद्धार्थदेव, धृतिषेण, विजयाचार्य<sup>३</sup>, बुद्धिल्ल, गंगदेव और धर्मसेन ये क्रमशः ११ आचार्य ग्यारह अंगों और उत्पादपूर्वादि दश पूर्वोंके पारगामी तथा शेष चार पूर्वोंके एक देश धारी हुए।

धर्मसेनके बाद नक्षत्राचार्य, जयपाल, पाण्डुस्वामी, ध्रुवसेन और कंसाचार्य ये क्रमशः पांच आचार्य ग्यारह अंगोंके पारगामी और चौदह पूर्वोंके एक देश-धारी हुए।

कंसाचार्यके अनन्तर सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु † और लोहाचार्य ये क्रमशः चार आचार्य आचारांगके पूर्णपाठी और शेष अंगों तथा पूर्वोंके एक देशधारी हुए।

१, २, ३, इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें जयसेन, नागसेन, विजयसेन, ऐसे पूरे नाम दिये हैं। जयधवलामें भी जयसेन, नागसेन-रूपसे उल्लेख है परन्तु साथमें विजयको विजयसेन-रूपसे उल्लेखित नहीं किया। इससे मूल नामोंमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

\* यहाँ पर यद्यपि द्रुमसेन (द्रुमसेणो) नाम दिया है परन्तु इसी ग्रंथके 'वेदना' खंडमें और जयधवलामें भी उस ध्रुवसेन नामसे उल्लेखित किया है—पूर्ववर्ती ग्रंथ 'तिलोपण्यत्ती' में भी ध्रुवसेन नामका उल्लेख मिलता है। इससे यही नाम ठीक जान पड़ता है। अथवा द्रुमसेन को इसका नामान्तर समझना चाहिये। इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें द्रुमसेन नामसे ही उल्लेख किया है।

† अनेक पट्टावलियोंमें यशोबाहुको भद्रबाहु (द्वितीय) सूचित किया है और इन्द्रनन्दि-श्रुतावतार में 'जयबाहु' नाम दिया है तथा यशोभद्रकी जगह अभयभद्र नामका उल्लेख किया है।

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें इन आचार्योंको शेष अंगों तथा पूर्वोंके एक देश धारी नहीं लिखा, न धर्मसेनादिको

लोहाचार्यके बाद सर्व अंगों तथा पूर्वोंका वह एक-देशश्रुत जो आचार्य-परम्परा से चला आया था धर्मसेनाचार्यको प्राप्त हुआ। धर्मसेनाचार्य अष्टांग-महानिमित्तके पारगामी थे। वे जिस समय सोरठ देशके गिरिनगर (गिरनार) पहाड़की चन्द्र-गुहामें स्थित थे उन्हें अपने पासके ग्रन्थ (श्रुत) के व्युच्छेद हो जानेका भय हुआ, और इसलिये प्रवचन-वात्सल्य से प्रेरित होकर उन्होंने दक्षिणा-पथके आचार्योंके पास, जो उस समय महिमा नगरी में सम्मिलित हुए थे ('दक्षिणा-वहाइरियाणं महीमाए मिलियाणं') † एक लेख (पत्र) भेजा। लेखस्थित धर्मसेन के वचनानुसार उन आचार्योंने दो साधुओंको, जो कि ग्रहण-धारणमें समर्थ

चौदह पूर्वोंके एकदेश-धारी लिखा और न विशाखा-चार्यादिको शेष चार पूर्वोंके एक देश-धारी ही बतलाया है। इसलिये धवलाके ये उल्लेख खास विशेषताको लिए हुए हैं और बुद्धि-ब्राह्म तथा समुचित माबूम होते हैं।

❁ 'महिम्मानगड'-नामक एक गांव सतारा जिले में है (देखो, 'स्थलनामकोश'), संभवतः यह वही जान पड़ता है।

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके निम्न वाक्यसे यह कथन स्पष्ट नहीं होता—वह कुछ गढ़बढ़को लिये हुये जान पड़ता है :—

“देशेन्द्र (ऽभ्र?) देशनामनि वेणाकतदीपुरे महामहिमा। समुदित मुनीन् प्रति...”

इसमें 'महामहिमासमुदितमुनीन्' लिखा है तो आगे, लेखपत्रके अर्थका उल्लेख करते हुए, उसमें 'वेणाकतसमुदितयतीन्' विशेषण दिया है जो कि 'महिमा' और 'वेण्यातट'के वाच्योंको ठीक रूपमें न समझनेका परिणाम हो सकता है।

थे, बहुविध निर्मल विनयसे विभूषित तथा शील-मालाके धारक थे, गुरु-सेवामें सन्तुष्ट रहने वाले थे, देश कुल-जातिसे शुद्ध थे और सकल-कला-पारगामी एवं तीक्ष्ण-बुद्धिके धारक आचार्य थे—आन्ध्र देशके वेण्या-तट नगरसे धरसेनाचार्यके पास भेजा। (अंधवि-सयवेण्यायडादो पेसिदा)। वे दोनों साधु जब आ रहे थे तब रात्रिके पिछले भागमें धरसेन भट्टारकने स्वप्नमें सर्व-लक्षण सम्पन्न दो धवल वृषभोंको अपने चरणोंमें पड़ते हुए देखा। इस प्रकार सन्तुष्ट हुए धरसेनाचार्यने 'जयतु श्रुतदेवता'† ऐसा कहा। उसी दिन वे दोनों साधुजन धरसेनाचार्यके पास पहुँच गये और तब भगवान् धरसेनका कृतिकर्म (वन्दनादि) करके उन्होंने दो दिन‡ विश्राम किया, फिर तीसरे दिन विनय के साथ धरसेन भट्टारकको यह बतलाया कि 'हम दोनों जन अमुक कार्यके लिये आपकी चरण-शरणमें आए हैं।' इसपर धरसेन भट्टारकने 'सुष्ठु भद्र' ऐसा कहकर उन दोनोंकी आशवासन दिया और फिर वे इस प्रकार चिन्तन करने लगे—

॥“सेलघण-भगघड-अहि-चालणि-महिसाऽवि-जा-हयसुएहि।”

॥ 'वेण्या' नामकी एक नदी सतारा जिले में है (देखो 'स्थलनाम कोश')। संभवतः यह उसीके तट पर बसा हुआ नगर जान पड़ता है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'जयतु-श्रीदेवता' लिखा है, जो कुछ ठीक मालूम नहीं होता; क्योंकि प्रसंग श्रुतदेवताका है।

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें तीन दिनके विश्रामका उल्लेख है।

॥ इन गाथाओंका संचित आशययह है कि 'जो आचार्य गौरवादिकके वशवर्ती हुआ मोहसे ऐसे श्रोता-

मद्विद्य-मसयसमाणं वक्खाणइ जो सुदं मोहा ॥१॥  
दध (?) गारवण्डिवद्धो विसयामिसविसवसेण घुम्मंतो।

सो एट्टबोहिताहो भमइ चिरं भववणे मूढो ॥२॥

इस वचनसे स्वच्छन्दचारियोंको विद्या देना संसार-भयका बढ़ाने वाला है। ऐसा चिन्तन कर, शुभ-स्वप्नके दर्शनसे ही पुरुषभेदको जाननेवाले धरसेनाचार्यने फिर भी उनकी परीक्षा करना अंगीकार किया। सुपरीक्षा ही निःसन्देह हृदयको मुक्ति दिलाती है‡। तब धरसेनने उन्हें दो विद्याएँ दीं—जिनमें एक अधिकाक्षरी, दूसरी हीनाक्षरी थी—और कहा कि इन्हें षष्ठोपवासके साथ साधन करो। इसके बाद विद्या सिद्ध करके जब वे विद्यादेवताओंको देखने लगे तो उन्हें मालूम हुआ कि एकका दाँत बाहरको बढ़ा हुआ है और दूसरी कानी (एकाक्षिणी) है। देवताओंका ऐसा स्वभाव नहीं होता' यह विचार कर जब उन मंत्र-व्याकरणमें निपुण मुनियोंने हीनाधिक अक्षरोंका क्षेपण-अपनयन विधान करके—कमीवैशीको दूरकरके—उन मंत्रोंको फिरसे पढ़ा तो तुरन्त ही वे दोनों विद्या-देवियाँ अपने अपने स्वभावरूपमें स्थित होकर नज़र आने लगीं। तदनन्तर उन मुनियोंने विद्या-सिद्धिका सब हाल पूर्णविनयके साथ अंकों श्रुतका व्याख्यान करता है जो शैलघन, भग्न-घट, सर्प, छलनी, महिष, मेष, जोंक, शुक, मिट्टी और मशकके समान हैं—इन जैसी प्रकृतिको लिये हुए हैं—वह मूढ़ बोधिलाभसे अष्ट होकर चिरकाल तक संसार-वनमें परिभ्रमण करता है।'

‡ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'सुपरीक्षा हृन्निर्वर्तिकरीति, इत्यादि वाक्यके द्वारा परीक्षाकी यही बात सूचित की है; परन्तु इससे पूर्ववर्ती चिन्तनादि-विषयक कथन, जो इसपर 'धरसेन'से प्रारम्भ होता है, उसमें नहीं है।

भगवद् धरसेनसे निवेदन किया। इस पर धरसेनजीने सन्तुष्ट होकर उन्हें सौम्य तिथि और प्रशस्त नक्षत्रके दिन उस ग्रन्थका पढ़ाना प्रारम्भ किया, जिसका नाम 'महाकर्मपयडिपाहुड' ( महाकर्मप्रकृतिप्राभृत ) था। फिर क्रमसे उसकी व्याख्या करते हुए (कुछ दिन व्यतीत होने पर) आषाढ़ शुक्ला एकादशीको पूर्वाह्न के समय ग्रन्थ समाप्त किया गया। विनयेपूर्वक ग्रन्थका अध्ययन समाप्त हुआ, इससे सन्तुष्ट होकर भूतोंने वहाँपर एक मुनिकी शंख-तुरहीके शब्द सहित पुष्पबलिसे महती पूजा की। उसे देखकर धरसेन भट्टारकने उस मुनिका 'भूतबलि' नाम रखवा, और दूसरे मुनिका नाम 'पुष्पदन्त' रखवा, जिसको पूजाके अवसर पर भूतोंने उसकी अस्तव्यस्त रूपसे स्थित विषमदन्त-पत्तिको सम अर्थात् ठीक कर दिया था \*। फिर उसी नामकरणके दिन† धरसेनाचार्यने उन्हें रखसत ( विदा ) कर दिया। गुरुवचन अलंघनीय है, ऐसा विचार कर वे वहाँमें चल दिये और उन्होंने अंकलेश्वर‡ में आकर वर्षाकाल व्यतीत किया \*।

\* इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें उक्त मुनियोंका यह नामकरण धरसेनाचार्यके द्वारा न होकर भूतों द्वारा किया गया, ऐसा उल्लेख है।

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें ग्रन्थसमाप्ति और नामकरण का एक ही दिन विधान करके, उससे दूसरे दिन रखसत करना लिखा है।

‡ यह गुजरातके भरोच ( Broach ) जिलेका प्रसिद्ध नगर है।

§ इन्द्रनन्दि श्रुतावतारमें ऐसा उल्लेख न करके लिखा है कि खुद धरसेनाचार्यने उन दोनों मुनियोंको 'कुरीश्वर' (?) पत्तन भेज दिया था जहाँ वे ६ दिनमें पहुँचे थे और उन्होंने वहीं आषाढ़ कृष्णा पंचमीको वर्षायोग ग्रहण किया था।

वर्षायोगको समाप्त करके तथा 'जिनपालित'§ को देखकर पुष्पदन्ताचार्य तो वनवास देशको चले गये और भूतबलि भी द्रमिल (द्राविड) देशको प्रस्थान कर गये। इसके बाद पुष्पदन्ताचार्यने जिनपालितको दीक्षा देकर, बीस सूत्रों (विंशति प्ररूपणात्मकसूत्रों) की रचना कर और वे सूत्र जिनपालितको पढ़ाकर उसे भगवान् भूतबलिके पास भेजा। भगवान् भूतबलिने जिनपालितके पास उन विंशतिप्ररूपणात्मक सूत्रोंको देखा और साथ ही यह मालूम किया कि जिनपालित अल्पायु है। इससे उन्हें 'महाकर्मप्रकृतिप्राभृत'के व्युच्छेदका विचार उत्पन्न हुआ और तब उन्होंने ( उक्त सूत्रोंके बाद ) 'द्रव्यप्रमाणानुगम' नामके प्रकरणको आदिमें रखकर ग्रन्थकी रचनाकी। इस ग्रन्थका नामही 'षट्खण्डागम' है; क्योंकि इस आगम ग्रन्थमें १ जीवस्थान, २ क्षुल्लकबन्ध, ३ बन्धस्वामित्वविचय, ४ वेदना, ५ वर्गणा, और ६ महाबन्ध नामके छह खण्ड अर्थात् विभाग हैं, जो सब महाकर्म-प्रकृतिप्राभृत-नामक मूलागमग्रन्थको संक्षिप्त करके अथवा उस परसे समुद्धृत करके लिखे गये हैं। और वह मूलागम द्वादशांगश्रुतके अग्रायणीय-पूर्वस्थित पंचम वस्तुका चौथा प्राभृत है। इस तरह इस षट्खंडागम श्रुतके मूलतंत्रकार श्री वर्द्धमान महावीर, अनुतंत्रकार गौतमस्वामी और उपतंत्रकार भूतबलिपुष्पदन्तादि आचार्योंको समझना चाहिये। भूतबलि-पुष्पदन्तमें पुष्पदन्ताचार्य सिर्फ 'सत्प्ररूपण' नामक प्रथम अधिकारके कर्ता हैं, शेष सम्पूर्ण ग्रन्थके रचयिता भूतबलि आचार्य हैं। ग्रन्थका

§ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें जिनपालितको पुष्पदन्तका भानजा लिखा है और दक्षिणकी ओर बिहार करते हुए दोनों मुनियोंके करहाट पहुँचने पर उसके देखनेका उल्लेख किया है।

श्लोक-परिमाण इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारके कथनानुसार ३६ हजार है, जिनमें से ६ हजार संख्या पांच खण्डोंकी और शेष महाबन्ध खण्डकी है; और ब्रह्महेमचन्द्रके श्रुतस्कन्धानुसार ३० हजार है।

यह तो हुई धवला के आधारभूत षट्खण्डागम श्रुतके अवतारकी कथा; अब जयधवलाके आधारभूत 'कसायपाहुड' श्रुतको लीजिये, जिसे 'पेज्जदोस पाहुड' भी कहते हैं। जय धवलामें इसके अवतारकी प्रारम्भिक कथा तो प्रायः वही दी है जो महावीरसे आचारांग-धारी लोहाचार्य तक ऊपर वर्णन की गई है—मुख्य भेद इतना ही है कि यहाँ पर एक-एक विषयके आचार्योंका काल भी साथमें निर्दिष्ट कर दिया गया है, जब कि 'धवला' में उसे अन्यत्र 'वेदना' खण्डका निर्देश करते हुए दिया है। दूसरा भेद आचार्योंके कुछ नामोंका है। जयधवलामें गौतमस्वामीके बाद लोहाचार्यका नाम न देकर सुधर्माचार्यका नाम दिया है, जो कि वीर भगवान्के बाद होने वाले तीन केवलियोंमेंसे द्वितीय केवलीका प्रसिद्ध नाम है। इसी प्रकार जयपालकी जगह जसपाल और जसबाहूकी जगह जयबाहू नामका उल्लेख किया है। प्राचीन लिपियोंको देखते हुए 'जस' और 'जय'के लिखनेमें बहुतही कम अन्तर प्रतीत होता है इससे साधारण लेखकों-द्वारा 'जस' का 'जय' और 'जय' का 'जस' समझलिया जाना कोई बड़ी बात नहीं है। हाँ, लोहाचार्य और सुधर्माचार्यका अन्तर अवश्य ही चिन्तनीय है। जयधवलामें कहीं कहीं गौतम और जम्बूस्वामीके मध्य लोहाचार्यका ही नाम दिया है; जैसा कि उसके 'अणुभागविहत्ति' प्रकरणके निम्न अंशसे प्रकट है:—

“त्रिउलगिरिमत्थयत्थवढ्ढमाण्णदिवायरादो  
त्रिण्णिगमिय गोदम लोहज्ज-जंबुसामियादि आइरिय

परंपराए आगंतूण गुणहराइरियं पाविय.....

(आराकी प्रति पत्र ३१३)

जब धवला और जयधवला दोनों ग्रंथोंके रचयिता वीरसेनाचार्यने एक ही व्यक्तिके लिये इन दो नामोंका स्वतंत्रतापूर्वक उल्लेख किया है, तब ये दोनों एक ही व्यक्तिके नामान्तर हैं ऐसा समझना चाहिये; परन्तु, जहाँ तक मुझे मालूम है, इसका समर्थन अन्यत्रसे अथवा किसी दूसरे पुष्ट प्रमाणसे अभी तक नहीं होता—पूर्ववर्ती ग्रंथ 'तिलोयपणत्ती' में भी 'सुधर्मस्वामी' नामका उल्लेख है। अस्तु; जयधवला परसे शेष कथाकी उपलब्धि निम्न प्रकार होती है:—

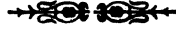
आचारांग-धारी लोहाचार्यका स्वर्गवास होने पर सर्व अंगों तथा पूर्वोंका जो एकदेशश्रुत आचार्यपरम्परासे चला आया था वह गुणधराचार्यको प्राप्त हुआ। गुणधराचार्य उस समय पाँचवें ज्ञानप्रवाद-पूर्वस्थित दशम वस्तुके तीसरे 'कसायपाहुड' नामक ग्रन्थ-महार्णवके पारगामी थे। उन्होंने ग्रंथ-व्युच्छेदके भयसे और प्रवचन-वात्सल्यसे प्रेरित होकर, सोलहहजार पद परिमाण उस 'पेज्जदोसपाहुड' ('कसायपाहुड')का १८०० सूत्र गाथाओंमें उपसंहार किया—सार खींचा। साथ ही, इन गाथाओंके सम्बन्ध तथा कुछ वृत्ति-आदिकी सूचक ५३ विवरण-गाथाएँ भी और रचीं, जिससे गाथाओंकी कुल संख्या २३३ हो गई। इसके बाद ये सूत्र-गाथाएँ

(शेषांशके लिये देखो, पृ० १३६)

॥ इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें 'त्रयधिकाशीत्या युक्तं शतं' पाठके द्वारा मूलसूत्रगाथाओंकी संख्या १८३ सूचित की है, जो ठीक नहीं है और समझनेकी किसी शक्तीपर निर्भर है। जयधवलामें १८० गाथाओंका खूब खुलासा किया गया है।

# सत्य अनेकान्तात्मक है

[ लेखक—श्री बाबू जयभगवानजी जैन, बी० ए० एल० एल० बी०, वकील ]



**स**त्य ॐ अनेकान्तात्मक है या अनन्तधर्मात्मक

आधिदैविकदृष्टि (Animistic Outlook)

है, इस वादके समर्थनमें इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सत्यका अनुभव बहुरूपात्मक है। जीवनमें व्यवहारवश वा जिज्ञासावश सब ही सत्यका निरन्तर अनुभव किया करते हैं; परन्तु क्या वह अनुभव सब-

रखनेवाले भोगभौमिक लोग समस्त अनुभव्य बाह्य जगत और प्राकृतिक अभिव्यक्तियोंको अनुभावक अर्थात् अपने ही समान स्वतन्त्र, सजीव, सचेष्ट सत्ता मानते हैं। वे उन्हें अपने ही स-

का एक-समान है ?

नहीं, वह बहुरूप है।

अनुभवकी इस विभि-

न्नताको जाननेके लिये

जरूरी है कि तत्त्ववे-

त्ताओंके सत्यसम्बन्धी

उन गूढ़-मन्तव्योंका

अध्ययन किया जाय,

जो उन्होंने सत्यके सू-

क्ष्म निरीक्षण, गवेषणा

और मननके बाद नि-

श्चित किये हैं। इस

अध्ययनसे पता चलेगा

कि यद्यपि उन सबके

अन्वेषणका विषय एक

सत्यमात्र था, तो भी उसके फलस्वरूप जो अनु-

भव उनको प्राप्त हुए हैं, वे बहुत ही विभिन्न हैं—

विभिन्न ही नहीं किन्तु एक दूसरेके विरोधी भी

प्रतीत होते हैं।

इस लेखके लेखक बाबू जयभगवानजी वकील दि० जैन समाजके एक बड़े ही अध्ययनशील और विचार-शील विद्वान् हैं—प्रकृतिसे भी बड़े ही सज्जन हैं। आप बहुधा चुप-चाप कार्य किया करते हैं, इसीसे जनता आपकी सेवामय-प्रवृत्तियोंसे प्रायः अनभिज्ञ रहती है। मेरे अनुरोधको पाकर आपने जो यह लेख भेजनेकी कृपा की है उसके लिये मैं आपका बहुत ही आभारी हूँ। यह लेख कितना महत्वपूर्ण है और कितनी अधिक अध्ययनशीलता, गवेषण तथा विचारशीलताको लिये हुए है उसे सहृदय पाठक पढ़कर ही जान सकेंगे। इस परसे सत्यको समझने और यह माजूम करनेमें कि पूर्ण सत्य केवलज्ञानका विषय है पाठकोंको बहुत कुछ आसानी होगी। आशा है लेखक महोदय अपने इस प्रकारके लेखों-द्वारा बराबर 'अनेकान्त' के पाठकों की सेवा करते रहेंगे, और इस तरह उन्हें भी वह रस बाँटते रहेंगे जिसका आप एकान्तमें स्वयं ही आस्वादन करते रहते हैं।

—सम्पादक

मान हावभाव, आयो-

जन प्रयोजन, विषय-

वासना, इच्छा-कामना-

से ओतप्रोत पाते हैं।

वे जलबाढ, उल्कापात,

वज्रपात, अग्निज्वाला,

अतिवृष्टि, भूकम्प, रोग,

मरी, मृत्यु आदि नि-

यम-विहीन उपद्रवोंको

देखकर निश्चित करते

हैं कि यह जगतनियम-

विहीन, उच्छृङ्खल

देवताओंका क्रीडास्थल

है। मनुष्यकी यह आ-

रम्भिक अधिदैविकदृष्टि

ही संसारके प्रचलित

देवतावाद (Theism) और पितृवाद (Ancestor

† (अ) Haeckle—Riddle of the universe P. 32.

(आ) Lord Aveburg—The origin of civilization 1912 P. 242—245

(इ) A. A. Macdonel—Vedic Mythology P. 1,

ॐ द्रव्य, वस्तु, अर्थ, सामान्य, सत्ता, तत्त्व आदि सत्यके ही एकार्थवाची नाम हैं। —पञ्चाध्यायी १-१४३,

worship) की कारण हुई है। यही वैदिक ऋषियों की दृष्टि थी।

**अनुभव्यदृष्टि (Objective outlook)** वाले जडवादी वैज्ञानिक अनुभव्यजगत (object) को ही सत्य मानते हैं और अनुभावक आत्मा (Subject) को स्थूल जडकी ही एक अभिव्यक्ति समझते हैं। यह दृष्टि ही जडवादकी आधार है। वे लोग जगतमें नियमानुशासित व्यवस्थाका अनुभव करते हैं, प्रत्येक प्राकृतिक अभिव्यक्तिको विशेष कारणोंका कार्य बतलाते हैं, उन कारणोंमें एक क्रम और नियम देखते हैं और उन कारणों पर विजय पानेसे अभिव्यक्तियों पर विजय पानेका दावा करते हैं। उनके लिये अभिव्यक्ति और कारणोंका कार्यकारण-सम्बन्ध इतना निश्चित और नियमित है कि ज्योतिषज्ञ, शकुनविज्ञ, सामुद्रिकज्ञ आदि नियत विद्याओंके जानने वाले वैज्ञानिक, विशेष हेतुओंको देखकर, भविष्यमें होनेवाली घटनाओं तकको बतला देनेमें अपनेको समर्थ मानते हैं। सच पूछिये तो यह कार्यकारण-सम्बन्ध (Law of causation) ही इन तमाम विज्ञानोंका आधार है।

**अनुभावकदृष्टि (Subjective outlook)** को ही महत्ता देनेवाले तत्त्वज्ञ आत्माको ही सर्वस्व सत्य मानते हैं। ज्ञान-द्वारा अनुभवमें आनेवाले जगतको स्वप्नतुल्य मोहग्रस्त ज्ञानकी ही सृष्टि मानते हैं। उनके विचारमें ज्ञानसे बाहर अनुभव्य-जगत (Objective reality) की अपनी कोई स्वतः सिद्ध सत्ता नहीं है। यह दृष्टि ही अनुभव-मात्रवाद (Idealism) की जननी है और शंकरके

अद्वैतवादका आधार है†।

**व्यवहारदृष्टि (Practical View)** से देखने वाले चार्वाक लोग उन ही तत्त्वोंको सत्य मानते हैं जो वर्तमान लौकिक जीवनके लिये व्यवहार्य और उपयोगी हैं। इस दृष्टिसे देखने वालोंके लिये परलोक कोई चीज नहीं। उन अपराधों और परोपकारी कार्योंके अतिरिक्त, जो समाज और राष्ट्र-द्वारा दण्डनीय और स्तुत्य हैं, पुण्य-पाप और कोई वस्तु नहीं। कञ्चन और कामिनी ही आनन्दकी वस्तुएँ हैं। वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी ही परमतत्त्व हैं। वे ही प्रत्येक वस्तुके जनक और आधार हैं। मृत्युजीवनका अन्त है। इन्द्रिय बोध ही ज्ञान है—इसके अतिरिक्त और प्रकारका ज्ञान केवल भ्रममात्र है। इन्द्रियबोधसे अनुभवमें आने वाली प्रकृति ही सत्य है ‡।

यह दृष्टि ही सामाजिक और राजनैतिक अनुशासनकी दृष्टि है।

**नैगमदृष्टि वा संकल्पदृष्टि (Imaginary View)** से देखनेवाले वस्तुकी भूत और भावी अवस्था अनुपस्थित होते हुए भी, संकल्पशक्ति-द्वारा उपादान और प्रयोजनकी सदृश्यता और विभिन्न कालिक अवस्थाओंकी विशेषताओंको संयोजन करते हुए वस्तुको वर्तमानमें त्रिकालवर्ती सामान्य-विशेषरूप देखते हैं \*। यह दृष्टि ही कवि लोगोंकी दृष्टि है।

†. Das Gupta—A History of Indian Philosophy 1922, P. 439.

‡. S. Radha Krishnon—Indian Philosophy Vol. 1, 2nd edition, P. 279.

\* (अ) राजवार्तिक पृ० ४५४ (आ) द्रव्यानुयोग-तर्कणा ६-६

**नैय्यायिकदृष्टि (Logical View)** से देखने वाले वस्तुको सम्बन्ध-द्वारा संकलित विभिन्न सत्ताओंकी एक संगृहीत व्यवस्था मानते हैं। उनका मूलसिद्धान्त यह है कि प्रत्येक अनुभूतिके अनुरूप कोई सत्ता जरूर है, जिसके कारण अनुभूति होती है। चूंकि ये अनुभूतियाँ सप्त मूलवर्गोंमें विभक्त हो सकती हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, सम्बन्ध (समवाय ?) और अभाव। अतः सत्यका इन सात पदार्थोंसे निर्माण हुआ है। यह दृष्टि ही वैशेषिक और न्यायदर्शनको अभिप्रेत है §।

अनुभूतिके शब्दात्मक निर्वाचन पर भी न्याय-विधिसे विचार करने पर हम उपर्युक्त प्रकारके ही निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। संसारमें वाक्य-रचना इसीलिये अर्थद्योतक है कि वह अर्थ वा सत्यानुभूतिके अनुरूप है। वह सत्यरचनाका प्रतिबिम्ब है। जैसे वाक्य, कर्ता, क्रिया, विशेषण-सूचक शब्दों वा प्रत्ययोंसे संगृहीत एक शब्द-समूह है वैसे ही वस्तु भी द्रव्य, गुण, कर्म पदार्थोंका समवाय-सम्बन्धसे संकलित विभिन्न सत्ताओंका समूह है †।

**वर्तमान इन्द्रियबोधको महत्ता देनेवाले ऋजुसूत्रदृष्टि (Physical View)** वाले वस्तुको निरन्तर उदयमें आनेवाली, अनित्य पर्यायों, भावों और क्रियाओंकी एक शृङ्खलामात्र अनुभव करते हैं। वे उस उद्भवके उपादान कारणरूप किसी नित्य आधारको नहीं देख पाते। क्योंकि वे वस्तु

की भूत तथा भावी अवस्थाको लक्ष्यमें न लाकर केवल उसकी वर्तमान अवस्थाको ही लक्ष्य बनाते हैं। उनका कहना है कि चूंकि इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ भी बाह्यजगतका बोध होता है, वह ज्ञेय पदार्थके शृङ्खलाबद्ध परिणामोंके प्रभावसे पैदा होनेवाले द्रव्येन्द्रियके शृङ्खलाबद्ध विकारोंका फल है, इसलिये वस्तु परिणामोंकी शृङ्खलामात्र है। यह दृष्टि ही क्षणिकवादी बौद्ध दार्शनिकों की है। यही दृष्टि आधुनिक भूतविद्याविज्ञोंकी है \*।

**ज्ञानदृष्टि (Epistemological View)** से देखनेवाले तत्त्ववेत्ता, जो ज्ञानके स्वरूपके आधार पर ही ज्ञेयके स्वरूपका निर्णय करते हैं, कहते हैं कि वस्तु, वस्तुबोधके अनुरूप अनेक लक्षणोंसे विशिष्ट होते हुए भी, एक अखण्ड, अभेद्य सत्ता है। अर्थात् जैसे ज्ञान विविध, विचित्र अनेकान्तात्मक होते हुए भी खण्ड-खण्डरूप अनेक ज्ञानोंका संग्रह नहीं है, प्रत्युत आत्माका एक अखण्ड-अभेद्य भाव है, वैसे ही ज्ञान-द्वारा ज्ञात वस्तु भी अनेक गुणों और शक्तियोंका सामूहिक संग्रह नहीं है बल्कि एक अभेद्य सत्ता है।

**सामान्य-ज्ञेयज्ञानकी दृष्टि वा संग्रहदृष्टि (Synthetic-view)** वाले तत्त्वज्ञोंको वस्तु एकतात्मक-अद्वैतरूप प्रतीत होती है। ऐसा मालूम होता है कि समस्त चराचर जगत एकताके सूत्रमें बँधा है, एकताके भावसे ओत-प्रोत है, एकताका भाव सर्वव्यापक, शाश्वत और स्थायी है। अन्य समस्त भाव औपाधिक और नैमित्तिक हैं, अनित्य हैं

§ Das Gupta—A History of Indian Philosophy, P. 312.

† B. Russell—Analysis of Matter, 1927, P. 39.

† Das Gupta—A History of Indian Philosophy 1922, P. 158.

\* B. Russell—F. R. S. The Analysis of Matter 1927, P. 244—247.

और मिथ्या हैं। यही दृष्टि थी जिसके आवेशमें ऋग्वेद १-१६४-४६ के निर्माता ऋषिको वैदिक-कालीन विभिन्न देवताओंमें एकताका भान जग उठा और उसकी हृदयतन्त्रीसे 'एकं सत् विप्राः बहुधा वदन्ति' का राग बह निकला। यह दृष्टि ही वेदान्त-दर्शनकी दृष्टि है ॥

**विशेष-ज्ञेयज्ञानकी दृष्टि वा भेददृष्टि** (Analytic-view) से देखने पर, वस्तु अनेक विशेष भावोंकी बनी हुई प्रतीत होती है। प्रत्येक भाव भिन्न स्वरूप वाला, भिन्न संज्ञावाला दिखाई पड़ता है। जितना जितना विश्लेषण किया जाय, उतना ही उतना विशेष भावमेंसे अवान्तर विशेष और अवान्तर विशेषमेंसे अवान्तर विशेष निकलते निकलते चले जाते हैं, जिसका कोई अन्त नहीं है। यही दृष्टि वैज्ञानिकोंकी दृष्टि है। यह दृष्टि ही विभिन्न विज्ञानोंकी सृष्टिका कारण है।

**समन्वयकारि-ज्ञानकी दृष्टि** (Philosophical View) से देखने पर वस्तु सामान्य-विशेष, अनुभावक-अनुभव्य, (subjective and objective), भेद्य-अभेद्य, नियमित-अनियमित, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत्, तत्-अतत् आदि अनेक सहवर्ती प्रतिद्वन्द्वोंकी बनी हुई एक सुव्यवस्थित, संकलनात्मक, परन्तु अभेद्य सत्ता दिखाई पड़ती है, जो सर्वदा सर्व ओरप्रसारित, विस्तृत और उद्भव हो रही है †। यह दृष्टि ही 'वीरशासन'

की दृष्टि है। इसी दृष्टि द्वारा निष्पत्त हो, साहस-पूर्वक विविध अनुभवोंका यथाविधि और यथा-स्थान समन्वय करते हुए सत्यकी ऐसी विश्वव्यापी सर्वग्राहक धारणा बनानी चाहिये जो देश, काल और स्थितिसे अविच्छिन्न हो, प्रत्यक्ष-परोक्ष, तथा तर्क-अनुमान किसी भी प्रमाणसे कभी बाधित न हो, युक्तिसंगत हो और समस्त अनुभवोंकी सत्यांशरूप संतोषजनक व्याख्या कर सके।

क्या सत्यनिरीक्षणकी इतनी ही दृष्टियाँ हैं जिनका कि ऊपर विवेचन किया गया है? नहीं, यहाँ तो केवल तत्त्ववेत्ताओंकी कुछ दृष्टियोंकी रूपरेखा दी गई है। वरना व्यक्तित्व, काल, परिस्थिति और प्रयोजनकी अपेक्षा सत्यग्रहणकी दृष्टियाँ असंख्यात प्रकार की हैं। और दृष्टिअनुरूप ही भिन्न भिन्न प्रकारसे सत्यग्रहण होनेके कारण सत्य सम्बन्धी धारणायें भी असंख्यात हो जाती हैं ॥

**तत्त्वज्ञोंकी मान्यताओंमें विकार।**

संसारके तत्त्वज्ञोंकी धारणाओंमें सबसे बड़ा दोष यही है कि किसीने एक दृष्टिको, किसीने दूसरी दृष्टिको, किसीने दो वा अधिक दृष्टियोंको सम्पूर्ण सत्य मानकर अन्य समस्त दृष्टियोंका बहिष्कार कर दिया है। यह बहिष्कार ही उनकी सबसे बड़ी कमजोरी और निःसाहस है। इस बहिष्कारने ही अनेक विरोधाभासि-दर्शनोंको जन्म दिया है †।

धर्मद्रव्य अर्थात् Ether के बहिष्कारने

\* (अ) गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, ८६४

(आ) हरिवंशपुराण, १८-६२

† गोम्मटसार-कर्मकाण्ड ८६५

\* Das Gupta—A History of Indian Philosophy, P. 177.

† उपर्युक्त दृष्टिके लिये देखें—

(अ) B. Russil—The Analysis of Matter. London 1927. Chap-XXIII

(आ) तत्त्वार्थसूत्र १-३३ पर की हुई राजवार्तिक टीका

(इ) न्यायावतार, २६ की सिद्धिषिगणि कृत टीका।

आत्मा और प्रकृतिके पारस्परिक सम्बन्धके समझनेमें कठिनाई उपस्थित की है। आत्मा और मनका बहिष्कार दूसरी कमजोरी है। यह बहिष्कार ही जडवादका आधार हुआ है। प्रकृतिका बहिष्कार भी कुछ कम भूल नहीं है—इसने संकीर्ण अनुभव-मात्रवाद (Idealism) को जन्म दिया है। जीवनके व्यवहार्य पहलू पर अधिक जोर देनेसे लोकायत-मार्गको महत्व मिला है। लौकिक जीवन-चर्या—जीवनके व्यवहार्य पहलूको बहुत गौण करनेसे छायावादका उदय हुआ है ‡।

### सत्यानुभूतिके साथ जीवनलक्ष्यका

#### घनिष्ठ सम्बन्ध

जगत और जीवन-सम्बन्धी विविध अनुभूतियों और धारणाओंके साथ साथ जीवनके आदर्श और लक्ष्य भी विविध निर्धारित हुए हैं। वह लक्ष्य तात्कालिक इन्द्रिय-सुखसे लेकर दुष्प्राप्य आध्यात्मिक सुख तक अनेक भेदवाला प्रतीत होता है।

लौकिक दृष्टिवालोंके लिये, अर्थात् उन लोगों के लिये जो व्यवहारमें प्रवृत्त वर्तमान लौकिक जीवनको ही सर्वस्व समझते हैं, जो इसीको जीवनका आदि और अन्त मानते हैं, जो जीवनको भौतिक इन्द्रियकी एक अभिव्यक्ति देखते हैं, यह संसार सुखमय प्रतीत होता है। उनके लिये इन्द्रिय-सुख ही जीवनका रस और सार है। इस रससे मनुष्यको वञ्चित नहीं करना चाहिये। जडवादी चार्वाक-दार्शनिकों (Hedonists) का ऐसा ही

मत है ‡। परन्तु पारमार्थिकदृष्टि (Transcendental view) वालोंके लिये, जो वर्तमान जीवनको अनन्तप्रवाहका एक दृश्यमात्र मानते हैं, जिनके लिये जन्म आत्माका जन्म नहीं है और मृत्यु आत्माकी मृत्यु नहीं है और जिनके लिये 'अहं' प्रत्ययरूप आत्मा शरीरसे भिन्न एक विलक्षण, अजर, अमर, सच्चिदानन्द सत्ता है, संसार दुःखमय प्रतीत होता है और इन्द्रिय-सुख निस्सार तथा दुःखका कारण दिखाई पड़ता है ‡।

### अनुभवकी तरहसत्यके प्रति प्राणियोंका

#### आचार भीबहुरूपात्मक है

सत्यका—जीवनलक्ष्यका—अनुभव ही बहुरूपात्मक नहीं है प्रत्युत इन अनुभवोंके प्रति क्रियारूप प्राणधारियोंने अपने जीवन निर्वाहके लिये अपने जीवनको निष्कण्टक, सुखमय और समुन्नत बनानेके लिये जिन मार्गोंको ग्रहण कर रक्खा है,

‡ (अ) हरिभद्रसूरिः—षड्दर्शनसमुच्चयः, ८०-८२

(आ) श्रीमाधवाचार्य—सर्वदर्शनसंग्रह—चार्वाक-दर्शन

(इ) सूत्रकृतांग—२-१, १५-२१,

(ई) आदिपुराण ५, ५३-७५,

(उ) दीर्घनिकाय—सामञ्जसफलसुत्त

† (अ) उत्तराध्ययनसूत्र—१३-१६, १४-२१-२३।

(आ) कुन्दकुन्द—द्वादशानुप्रेषा।

(इ) बौद्ध साहित्यमें “संसार दुःखमय है” यह चार आर्यसत्त्वोंमें एक आर्यसत्य कहा गया है। धम्मपद ४७,  
दीर्घनिकाय-महासत्तिपट्टानसुत्त।

(ई) महाभारत-शान्तिपर्व, १७५-१; १७४-७-१२१३

‡ Sir Oliver Lodge F. R. S.—Ether and Reality, London, 1930. P.20.

वे भी विभिन्न प्रकारके हैं। कोई भोगमार्गको, कोई त्यागमार्गको, कोई श्रद्धा मार्गको, कोई भक्तिमार्गको, कोई ज्ञानमार्गको, कोई कर्मयोगको, कोई हठयोगको उपयोगी मार्ग बतलाते हैं।

ये समस्त मार्ग दो मूल श्रेणियोंमें विभक्त किये जा सकते हैं—एक प्रवृत्तिमार्ग दूसरा निवृत्तिमार्ग ❀। पहला मार्ग बाह्यमुखी और व्यवहार दृष्टिवाला है, दूसरा मार्ग अन्तर्मुखी और आध्यात्मिकदृष्टिवाला है और पारमार्थिक कल्पनाओंको लिये हुए है। पहला अहंकार, मूढ़ता और मोहकी उपज है, दूसरा आत्मविश्वास, सज्ज्ञान और पूर्णताकी उत्पत्ति है। पहला प्रेयस है दूसरा श्रेयस है। पहला इन्द्रियतृप्ति, इच्छापूर्ति और आडम्बर-संचयका अनुयायी है। दूसरा इन्द्रियसंयम, इच्छा-निरोध और त्यागका हामी है। पहला अनात्म, बाह्य, स्थूल पदार्थोंका ग्राहक है। दूसरा स्वाधीन, अक्षय, सर्वप्राप्य सूक्ष्म-दशाका अन्वेषक है। पहला जन्ममरणाच्छादित नाम-रूप-कर्मवाले संसारकी जननी और धात्री है। दूसरा इस संसारका उच्छेदक और अन्तकर है। जीवनके सब मार्ग इन ही दो मूल मार्गोंके अवान्तरभेद हैं।

सत्य-सम्बन्धी आचार और विचारमें जो सर्व ओर विभिन्नता दिखाई देती है, वह बहुरूपात्मक सत्यका ही परिणाम है।

सत्य अनेक सत्यांशोंकी व्यवस्थात्मक सत्ता है।

यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि एक बातको निश्चित-रूपसे जाननेके लिये हमें कितनी ही और बातोंको

जानना जरूरी होता है। यह सब इसलिये न कि जो बात हमें जाननी अभीष्ट है, उसकी लोकमें कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह तो विराट सत्यका एक सत्यांश मात्र है †। ये समस्त सत्यांश, समस्त तत्त्व, जिनको जाननेकी हमें इच्छा है, गुण-गुणी, कारण-कार्य, साधन-साध्य, वाचक-वाच्य, ज्ञान-ज्ञेय, आधर-आधेय आदि अनेक सम्बन्धों-द्वारा एक दूसरेके इतने आश्रित और अनुगृहीत हैं कि यदि हमें एक तत्त्वका सम्पूर्ण बोध हो जाय तो वह सम्पूर्ण तत्त्वोंका, सम्पूर्ण सत्यका बोध होगा। इसीलिये ऋषियोंने कहा है कि जो ब्रह्मको जानता है वह ब्रह्माण्ड को जानता है †। इसलिये आत्मा ही ज्ञातव्य है, मनन करने योग्य है, श्रद्धा करने योग्य है। इसको जाननेसे सर्वका जानने-वाला, सर्वज्ञ हो जाता है \*। इस प्रकारका बोध ही जो समस्त सत्यांशोंका, समस्ततत्त्वोंका, उनके पारस्परिक सम्बन्धों और अनुग्रहका युगपत् जानने वाला है, जैन परिभाषामें 'केवलज्ञान' कहलाता है। यह बोध, लोक-अनुभावित सामान्य-विशेष, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद्य-अभेद्य, तत्-अतत्

† Sir Oliver Lodge. Ether and Reality P. 19.

† तदात्मानमेव वेदहं ब्रह्मास्मीति तस्मात् तत्सर्वं अभवत् ।  
—शत० ब्रा० १४ ३-२-२१,

\* (अ) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-  
ध्यासितव्यः । मैत्रेयात्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रव-  
णेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम् ।

—बृहदा० उपनिषद् २-४-५,

(आ) एवं हि जीवरायो यादवो तह्य सहदेदवो ।  
अणुवरिदवो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ।

—समयसार, १-१८,

❀ (अ) कठोपनिषद् २-१ (आ) मनुस्मृतिः १२

६६, (इ) अंगुत्तरनिकाय ८-२-१-३

आदि समस्त प्रतिद्वन्द्वोंकी बनी हुई सुव्यवस्थित सत्ताकायुगपत् बोध होनेके कारण उपर्युक्त समस्त विरोधाभासों परिमाणों (?), विकल्पों, त्रुटियों और अपूर्णताओंसे रहित है। यह अद्वितीय और विलक्षण बोध है †। वास्तवमें जो सम्पूर्ण सत्यको जानता है वही सम्पूर्णतया सत्यांशको जानता है। और जो सम्पूर्णतया सत्यांशको जानता है वही सम्पूर्ण सत्यको जानता है। जो सम्पूर्णसत्यको नहीं जानता वह पूर्णतया सत्यांशको भी नहीं जानता \*।

**सत्य अलङ्घ्योद्धार पुरा नहीं जाना जा सकता**

जीवन और जगतकी रचना और व्यवस्था, जीवनके लक्ष्य और मार्ग, लोकके उपादान कारण-भूत द्रव्योंके स्वरूप और शक्तियोंके सम्बन्धमें यद्यपि तत्त्वज्ञोंने बहुत कुछ अनुभव किया है—बहुत कुछ भाषाद्वारा उसका निर्वाचन भी किया है—यह सब कुछ होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि किसी भी प्रस्तुत विषय-सम्बन्धी जो कुछ अनुभव होना था सो हो चुका और जो कुछ कहने योग्य था वह कहा जा चुका।

वस्तु इन समस्त अनुभवों और निर्वाचनोंसे प्रदर्शित होनेके बावजूद भी इनसे बहुत ज्यादा है। वह तो अनन्त है—वह काल क्षेत्र परिमित इन्द्रिय बोध, अभिप्राय-परिमित बुद्धि और अवयवमयी जड शब्दोंसे नहीं ढका जा सकता।

जिज्ञासुओंका अनुभव इस बातका साक्षी है कि जितना जितना गहरा अध्ययन किया जाता है,

† (अ) तत्त्वार्थसूत्र १-२६ (आ) गोमटसार जीवकाण्ड, ४५६, (इ) आत्मोपपत्ति।

\* प्रवचनसार १-४८,

जितना जितना बोध बढ़ता जाता है, उतना उतना ही ज्ञातव्यविषयका अज्ञात अन्तर्हित क्षेत्र और अधिक गहरा और विस्तीर्ण होता चला जाता है। ऐसी स्थितिमें विचारकको, महान् तत्त्ववेत्ता सुकृतीश के शब्दोंमें, वस्तुकी असीम-अथाह अनन्तता और अपनी बुद्धिकी अल्पज्ञताका अनुभव होने लगता है। उसे प्रतीत होता है कि वस्तुतत्त्व न वचनोंसे मिल सकता है, न बुद्धिसे प्राप्त हो सकता है और न शास्त्रका पाठ करनेसे पाया जा सकता है †। इसलिये औपनिषदिक शब्दोंमें कहा जा सकता है कि जो यह कहता है कि मैं बहुत जानता हूँ वह कुछ नहीं जानता और जो यह कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता वह बहुत कुछ जानता है †।

जैन परिभाषामें विचारकके इस दुःखमय अनुभवको कि इतना वस्तु सम्बन्धी कथन सुनने, शास्त्र पढ़ने, मनन करने और विचारने पर भी उसको वस्तुका सम्पूर्ण ज्ञान न हो पाया और वस्तु ज्ञान अभी बहुत दूर है, 'अज्ञानपरिषद्' से प्रकट किया गया है \*।

**अज्ञानवाद और संशयवादकी उत्पत्तिके कारण**

**भी उपर्युक्त भाव हैं।**

इस अनुभवके साथ ही विचारकके हृदयमें ऐसी आशंका पैदा होने लगती है कि क्या सत्यका

† नाथमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। कठोथानिषत् २—२२

† यस्यामतं तस्यमतं, मतं यस्य न वेद सः।

अविज्ञातं विजानतां, विज्ञातमविजानताम् ॥

—केनोपनिषद् २-३,

\* तत्त्वार्थसूत्र ६-६, । उत्तराध्ययनसूत्रं २-२-४५,

वास्तविक स्वरूप ज्ञानगम्य है भी। उसकी बुद्धि सन्दिग्धवाद और अज्ञानवादसे अनुरक्षित होजाती है। वह ऋग्वेद १०-१२६ सूक्तके निर्माता ऋषि परमेश्वरीकी तरह सोचने लगता है कि “कौन पुरुष ऐसा है जो जानता है कि सृष्टि क्यों बनी और कहाँसे बनी और इसका क्या आधार है। मुमकिन है कि विद्वान लोग इस रहस्यको जानते हों। परन्तु यह तत्त्व विद्वान लोग कैसे दत्तला सकते हैं। यह रहस्य यदि कोई जानता होगा तो वही जानता होगा जो परमव्योममें रहनेवाला अध्वक्ष है †।

वह पारस देशके सुप्रसिद्ध कवि, ज्योतिषज्ञ और तत्त्वज्ञ उमरखय्यामकी तरह निराशासे भरकर कहने लगता है †।

भूमण्डलके मध्यभागसे उठकर मैं ऊपर आया।  
सातों द्वार पार कर ऊँचा शनिका सिंहासन पाया ॥  
कितनी ही उलझने मार्गमें सुलझा डाली मैंने किन्तु।  
मनुज-मृत्युकी और नियतिकी खुली न ग्रन्थिमयीमाया?।  
यहाँ ‘कहाँसे क्यों’ न जानकर परवश आना पड़ता है।  
वाहित विवश वारि-सा निजको नित्य बहाना पड़ता है।  
कहाँ चले? फिर कुछ न जानकर इच्छा हो, कि अनिच्छा हो  
परपटपर सरपट समीर-सा हमको जाना पड़ता है ॥

तत्त्वज्ञोंके इस प्रकारके अनुभव ही दर्शन-शास्त्रोंके सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद सिद्धान्तोंके कारण हुए हैं। तो क्या सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद सर्वथा ठीक हैं? नहीं! सन्दिग्धवाद और अज्ञानवाद भी सत्यसम्बन्धी उपर्युक्त अनेक धारणाओंके

समान एकान्तवाद हैं, एक विशेष प्रकारके अनुभवकी उपज हैं।

इस अनुभवका आभास विचारकको उस समय होता है जब वह व्यवहार्य सत्यांश बोधके समान ही विराट सत्यका वा सूक्ष्म सत्यका बोध भी इन्द्रियज्ञान, बुद्धि और शास्त्राध्ययनके द्वारा हासिल करनेकी कोशिश करता है। इस प्रयत्नमें असफल रहनेके कारण वह धारणा करता है कि सत्य-सर्वथा अज्ञेय है।

### पूर्णसत्य केवलज्ञानका विषय है

परन्तु वास्तवमें सत्य सर्वथा अज्ञेय नहीं है। सत्य अनेक धर्मोंकी अनेक सत्यांशोंकी, अनेक तत्त्वोंकी व्यवस्थात्मक सत्ता है। उनमेंसे कुछ सत्यांश जो लौकिक जीवनके लिये व्यवहार्य हैं और जिन्हें जाननेके लिये प्राणधारियोंने अपनेको समर्थ बनाया है, इन्द्रियज्ञानके विषय हैं, निरीक्षण और प्रयोगों (Experiments) द्वारा साध्य हैं। कुछ बुद्धि और तर्कसे अनुभव्य है, कुछ श्रुतिके आश्रित हैं, कुछ शब्द-द्वारा कथनीय हैं और लिपि-बद्ध होने योग्य हैं। परन्तु पूर्णसत्य इन इन्द्रिय-प्राप्त, बुद्धिगम्य और शब्दगोचर सत्यांशोंसे बहुत ज्यादा है। वह इतना गहन और गम्भीर है—बहु-लता, बहुरूपता और प्रतिद्वन्दोंसे ऐसा भरपूर है कि उसे हम अल्पज्ञजन अपने व्यवहृत साधनों-द्वारा—इन्द्रिय निरीक्षण, प्रयोग, तर्क, शब्द आदि द्वारा—जान ही नहीं सकते! इसीलिये वैज्ञानिकोंके समस्त परिश्रम जो इन्होंने सत्य-रहस्यका उद्घाटन करनेके लिये आज तक किये हैं, निष्फल रहे हैं। सत्य आज भी अभेद्य व्यूहके समान अपराजित खड़ा हुआ है।

† श्रीनरदेव शास्त्री—ऋग्वेदालोचन, संवत् १९८५,

पृ० २०३ २०५

† क्वाइयात उमरखय्याम—अनुवादक श्री मैथिली-शरण गुप्त, १९३१

वास्तवमें बात यह है कि इन्द्रिय, बुद्धि और वचन आदि व्यवहृत साधनोंकी सृष्टि पूर्ण सत्यको जान-नेके लिये नहीं हुई। उनकी सृष्टि तो केवल लौकिक जीवनके व्यवहारके लिये हुई है। इस व्यवहारके सत्य-सम्बन्धी जिन जिन तत्त्वोंका जितनी जितनी मात्रामें जानना और प्रकट करना आवश्यक और उपयोगी है उसके लिये हमारे व्यवहृत साधन ठीक पर्वाप्त हैं। परन्तु पूर्णसत्य इन सत्यांशोंसे बहुत बड़ा है, उसके लिये उपर्युक्त साधन पर्याप्त नहीं हैं। “वह इन्द्रिय बोध, तर्क और बुद्धिसे परे है—वह शब्दके अगोचर है—वह हम अल्पज्ञों-द्वारा नहीं जाना जा सकता। इस अपेक्षा हम सब ही अज्ञानी और सन्दिग्ध हैं। पूर्णसत्य उस आवरणरहित, निर्विकल्प, साक्षात् अन्तरंग ज्ञानका विषय है, जो दीर्घतपश्चरण और समाधि-द्वारा कर्मक्लेशोंसे मुक्त होने पर योगीश्वरोंको प्राप्त होता है, जो ज्ञानकी पराकाष्ठा है, जो केवलज्ञानके नामसे प्रसिद्ध है। जिसके प्राप्त होनेपर आत्मा सर्वज्ञ, सर्वानुभू, सर्वविन् कहलाता है।”

† (I) A. E. Taylor—Elements of Metaphysics, London 1924, P. 412.

(II) Sir Oliver Lodge—Ether and Reality, 1930, P. 58 and 83.

(III) गोमटसार जीवकाण्ड—गा० सं० ३३३,

(IV) पंचाध्यायी—२, ६१६,

† (I) न्यायावतार—२७।

(II) योगदर्शन—“तदासर्वावरणमलापेतस्य ज्ञान-स्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्” ४-३१

(III) प्रश्नोपनिषत् ४-११। बृहदा० उपनिषत्

१-२-१०।

\* “सर्वज्ञः सर्वविन्” मु० उ० १-१-६। ‘अयमात्मा ब्रह्मसर्वानुभू’ वृ० उ० २-२-१६,

प्रत्येक मनुष्य अपनी वर्तमान अविकसित दशामें इस केवलज्ञानका पात्र नहीं है। केवल-ज्ञान तो दूर रहा, साधारणतया अधिकांश मनुष्य तो सत्यको देखते हुए भी इसे नहीं देख पाते और सुनते हुए भी उसे नहीं सुन पाते †, अतः जो सत्यका लब्धा, ज्ञाता और वक्ता है वह निःसन्देह बहुत ही कुशल और आश्चर्यकारी व्यक्ति है।

### श्रद्धामार्गका कारण भी उपर्युक्त आप्तत्व ही है

यही कारण है कि सब ही धर्मपन्थनेताओंने साधारण जनताके लिये, जो अल्पज्ञताके कारण बच्चोंके समान है अन्तःअनुभवी ऋषि और महापुरुषोंके अनुभवों, मन्तव्यों और वाक्योंको ईश्वरीय ज्ञान ठहराकर—आप्तवचन कहकर—उनपर श्रद्धा, विश्वास और ईमान लानेके लिये बहुत जोर दिया है। इस श्रद्धापूर्वक ही जीवन-निर्वाह करनेको श्रेयस्कर बतलाया है। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदायका बतलाया हुआ मार्ग, उसके बतलाये हुए सिद्धान्तों पर श्रद्धा करनेसे प्रारम्भ होता है।

### वाच्य और उसके अनेक वाच्य

यह सत्यके बहुविध अनुभवकी ही महिमा है

† “उतत्वः पश्यन्नददर्शं वाचमुतत्वशृण्वन्नशृणो-  
त्येनाम्” — ऋग्वेद १०-७१-४

(II) Hear ye indeed but understand not  
and see ye indeed but perceive not.  
Bible-Isaiah VI—9.

† श्रवणायापि बहुभिर्योनलभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो  
यं न विद्युः आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो  
ज्ञाता कुशलानुशिष्टा — कठोपनिषत् २-७,

कि सत्यका बहुविध-साधनों, बहुविध संज्ञाओं और बहुविध-शैलीसे सदा प्रदर्शन किया जाता रहा है। इसीके प्रदर्शनके लिये शब्द, स्थापना, द्रव्य, भाव आदि साधनोंसे काम लिया जाता है। इस ही वाच्यके अनेक वाचक शब्द प्रसिद्ध हैं। उस हीके सुगम बोधके लिये आलंकारिक और तार्किक शैली प्रचलित है।

किसी वस्तुके वाचक जितने शब्द आज उपयोगमें आ रहे हैं, उन सबके वाच्य अनुभव एक दूसरेसे भिन्न हैं, परन्तु एक दूसरेके विरोधी नहीं हैं। वे एक ही वस्तुकी भिन्न भिन्न पर्यायोंके वाचक हैं और इसीलिये उनका नाम पर्यायवाची शब्द (Synonym) है। यह बात दूसरी है कि अज्ञानताके कारण आज उन सब शब्दोंको हम बिना उनकी विशेषता समझे एक ही अर्थमें उपयोग करें, परन्तु, भाषाविज्ञानीजन उन समस्त पर्यायवाची शब्दोंकी भिन्न विशेषता जानते हैं। ये विभिन्न पर्यायवाची शब्द एक ही देश, एक ही काल, एक ही जाति, एक ही व्यक्ति की सृष्टि नहीं हैं, प्रत्युत विभिन्न युगों, विभिन्न देशों, विभिन्न जातियों और विभिन्न व्यक्तियोंकी सृष्टि हैं। यह बात शब्दोंके इतिहाससे ज्ञात हो सकती है।

**हमारा ज्ञानगम्य और व्यवहारगम्य सत्य एकाधिक और सापेक्ष सत्य है।**

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि हम केवल सत्यांशोंका ग्रहण करते हैं पूर्णसत्यका नहीं। और सत्यांशमें भी केवल उनका दर्शन करते हैं जो वर्तमान दशामें व्यवहार्य और जीवनोपयोगी हैं। साधारणजनका तो कथन ही क्या है, बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ता भी अपनी अलौकिक प्रतिभा और तर्क

द्वारा सम्पूर्ण सत्यांशोंको नहीं जान पाते। आयुर्कर्म उनकी पूर्णताकी प्रतीक्षा नहीं करता। अतः उन्हें अपने अधूरे अनुभवोंके आधार पर ही अपने दर्शनका संकलन करना होता है। ये अनुभव सबके एक सामान नहीं होते। जैसा कि ऊपर बतलाया है, वे प्रत्येकके दृष्टिभेदके कारण विभिन्न प्रकारके होते हैं। दृष्टिकी विभिन्नता ही विज्ञानों और दर्शनोंकी विभिन्नताका कारण है। परन्तु इस विभिन्नताका यह आशय नहीं है कि समस्त विज्ञान और दर्शन मिथ्या हैं या एक सत्य है और अन्य मिथ्या हैं। नहीं, सब ही विज्ञान और दर्शन वस्तुकी उस विशेषदृष्टिकी जिससे विचारकने उसे अध्ययन किया है—उस विशेष प्रयोजनकी जिसको पूर्तिके लिये मनन किया है, उपज हैं। अतः अपनी अपनी विवक्षित दृष्टि और प्रयोजनकी अपेक्षा सब ही विज्ञान और दर्शन सत्य हैं।

कोई भी सिद्धान्त केवल इस कारण मिथ्या नहीं कहा जा सकता कि वह पूर्णसत्य न होकर सत्यांश-मात्र है। चूंकि प्रत्येक सत्यांश और उसके आधार पर अवलम्बित विज्ञान और दर्शन अपने अपने क्षेत्रमें जीवनोपयोगी और व्यवहारमें कार्याकारी हैं। अतः प्रत्येक सत्यांश अपनी अपनी दृष्टि और प्रयोजनकी अपेक्षा सत्य है। सिद्धान्त उन्हीं समय मिथ्या कहा जा सकता है कि जब वह पूर्णसत्य न होते हुए भी उसे पूर्णसत्य माना जावे।

—A. E. Taylor—Elements of Metaphysics, London. 1924—P. 214.—

“For a proposition is never untrue simply because it is not the whole truth, but only when, not being the whole truth, it is mistaken to be so.”

उदाहरणके लिये 'मनुष्य' को ही ले लीजिये, यह कितनी विशाल और बहुरूपात्मक शक्ती है इसका अन्दाजा उन विभिन्न विज्ञानोंको ध्यानमें लानेसे हो सकता है जो 'मनुष्य' के अध्ययनके आधार पर बने हैं। जैसे:—शारीरिक-रचनाविज्ञान (Anatomy), शारीरिक व्यापारविज्ञान (Physiology), गर्भविज्ञान (Embryology), भाषा-विज्ञान (Philology), मनोविज्ञान (Psychology), सामाजिक जीवन-विज्ञान (Sociology), जातिविज्ञान (Ethnology), मानवविवर्तविज्ञान (Anthropology), आदि। इनमें प्रत्येक विज्ञान अपने अपने क्षेत्रमें बहुत उपयोगी और सत्य है। परन्तु कोई भी विज्ञान पूर्णसत्य नहीं है, क्योंकि 'मनुष्य' न केवल गर्भस्थ वस्तु है—न केवल सप्त-धातु-उपधातु-निर्मित अङ्गोपाङ्ग वाला एक विशेष आकृतिका स्थूलपदार्थ है—न केवल श्वासोच्छ्वासम लेता हुआ चलता-फिरता यन्त्र है—न केवल भाषाभाषी है...वह उपर्युक्त सब कुछ होता हुआ भी इनसे बहुत ज्यादा है। इसलिये प्रत्येक मनुष्य-सम्बन्धी विज्ञान उस दृष्टिको अपेक्षा जिससे कि 'मनुष्य' का अध्ययन किया गया है—उस प्रयोजन-

की अपेक्षा जिसकी पूर्तिके लिये विज्ञानका निर्माण हुआ है, सत्य है और इसलिये उपयोगी है; परन्तु अन्यदृष्टियों, अन्यप्रयोजनोंकी अपेक्षा और सम्पूर्णसत्यकी अपेक्षा वही विज्ञान निरर्थक है। अतः यदि उपर्युक्त विज्ञानोंमेंसे किसी एक विज्ञानको सम्पूर्ण मनुष्यविज्ञान मान लिया जाय तो वह हमारी धारणा मिथ्या होगी। अतः हमारा ज्ञानगम्य, व्यवहारगम्य सत्य एकांशिक सत्य है, सापेक्ष सत्य है। वह अपनी विवक्षित दृष्टि और प्रयोजनकी अपेक्षा सत्य है। यदि उसे अन्यदृष्टि और अन्यप्रयोजनकी कसौटीसे देखा जाय या यदि उसे पूर्ण सत्य मानलिया जाय तो वह निरर्थक, अनुपयोगी और मिथ्या होगा †।

† (अ) द्रव्यानुयोगतर्कणा—६-६

(आ) पञ्चाध्यायी—१.४.६०

(इ) निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत।

—आसमीमांसा, १०८।

(ई) A.E. Taylor—Elements of Metaphysics. P. 214, Postnot—"The degree of truth: a doctrine contains cannot be determined apart from consideration of the purpose it is meant to fulfil."

## स्मृतिमें रखने योग्य महावाक्य

१. नियम एक तरहसे इस जगत्का प्रवर्तक है।
२. जो मनुष्य सत्पुरुषोंके चरित्रके रहस्यको पाता है वह परमेश्वर होजाता है।
३. चंचल चित्त सब विषम दुःखोंका मूल है।
४. बहुतोंका मिलाप और थोड़ोंके साथ अति समागम ये दोनों समान दुःखदायक हैं।
५. समस्वभावीके मिलनेको ज्ञानी लोग एकांत कहते हैं।

६. इन्द्रियाँ तुम्हें जीतें और तुम सुख मानो, इसकी अपेक्षा तुम इन्द्रियोंके जीतनेसे ही सुख, आनन्द और परमपद प्राप्त करोगे।

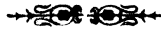
७. राग बिना संसार नहीं और संसार बिना राग नहीं।

८. युवावस्थामें सर्वसंगका परित्याग परम-पदको देता है।

—श्रीमदराजचन्द्र

# भ० महावीरके शासनमें गोत्रकर्म

[ ले०—बा० कामताप्रसाद जैन, एम०आर०ए०एम० ]



**भ**गवान् महावीर जैनधर्मके अन्तिम तीर्थंकर थे । उन्होंने स्वयं नवीन मतकी स्थापना नहीं की थी; बल्कि क्षीण हुए जैनधर्मका पुनरुद्धार किया था—अपने ही ढंगसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भवके अनुकूल उसका प्रतिपादन किया था । जब तक भगवान् महावीर पूर्णसर्वज्ञ नहीं हो लिये थे तब तक उन्होंने तीर्थ-प्रवर्तनरूपमें एक शब्द भी मुखमें नहीं निकाला था । जीवनमुक्त परमात्मा होकर ही उन्होंने लोककल्याण भावना-मूलक धर्मका निरूपण किया । जो कुछ उन्होंने कहा, उसका साक्षात् अनुभव कर लिया था—ज्ञान उनमें मूर्तिमान् हो चमका था । इसलिए उन्होंने जो कहा वह वस्तुस्थितिका फोटोमात्र था । उनका सिद्धांत कारण-कार्य सूत्रपर अवलम्बित था । उसमें जिज्ञासुओंको पूर्णसन्तोष मिला था और वे उनकी शरणमें आये थे । बौद्ध शास्त्रोंके कथनसे यह आभास होता है कि तीर्थंकर महावीरके प्रथम पुण्यमयी प्रवचनका प्रतिरूप कैसा था ? उनमें लिखा है कि जब भ० गौतम बुद्धने निर्ग्रन्थ ( जैन ) श्रमणोंसे घोर तपस्या करनेका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया:—

“एवं वृत्ते, महानाम, ते निगण्ठा मं एतदवोचुं, निगण्ठो, आवुसो नाथपुत्तो सच्चज्जु, सच्चदस्सावी अपरिसेसं ज्ञाणदस्सनं परिजानाति: चरतो च मे तिष्ठेता-च सुत्तस्स च जागरस्स च सततं समितं ज्ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितंति:, सो एवं आह: अत्थि खो वो निगण्ठा पून्वे पापं कम्मं कतं, तं इमाय कटुकाय दुक्करिकारिकाय

निज्जरेथ: यं पनेत्थ एतरहि कायेन संवुता, वाचाय संवुता, मनसा संवुता तं आयति पापस्स अकरणं,इति पुराणां कम्मानं तपसा व्यन्तिभावा नवानं कम्मानं अकरणायति अनवस्सयो, आयति अनवस्सवा कम्मक्खयो, कम्मक्खया दुक्खक्खयो, दुक्खक्खया वेदानाक्खयो, वेदानाक्खया सव्वं दुक्खं निज्जरणं भविस्सति ।”

—( मज्झिमनिकाय )

भावार्थ—“हे महानाम, जब मैंने उनसे ऐसा कहा तब वे निर्ग्रन्थ इस प्रकार बोले, ‘अहो, निर्ग्रन्थ ज्ञान-पुत्र (महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं—वे अशेष ज्ञान और दर्शनोंके ज्ञाता हैं । हमारे चलते, ठहरते, सोते, जागते,—समस्त अवस्थाओंमें सदैव उनका ज्ञान और दर्शन उपस्थित रहता है । उन्होंने कहा:—निर्ग्रन्थों ! तुमने पूर्व (जन्म) में पापकर्म किये हैं, उनकी इस घोर दुश्कर तपस्यासे निर्जरा कर डालो । मन, वचन, और कायकी संवृत्तिसे (नये) पाप नहीं बंधते और तपस्यासे पुराने पापोंका व्यय हो जाता है । इस प्रकारके नये पापोंके रुक जानेसे और पुराने पापोंके व्ययसे आयति रुक जाती है; आयति रुक जानेसे कर्मोंका ज्ञय होता है, कर्मज्ञयसे दुःखज्ञय होता है, दुःखज्ञयसे वेदनाज्ञय और वेदनाज्ञयसे सर्वदुःखोंकी निर्जरा हो जाती है ।”

इस उद्धरणसे भ० महावीरका महान् व्यक्तित्व और उसके द्वारा प्रतिपादित धर्मका वैज्ञानिक स्वरूप स्पष्ट है । निस्सन्देह भ० महावीरका धर्म केवल धर्म-

विज्ञान है। उपर्युक्त उद्धरण इस कथनका साक्षी है। उसमें धर्मविज्ञानका जो रूप अंकित है, उससे जैन-कर्म-सिद्धांतकी भी सिद्धि होती है। कर्म वह सूक्ष्म पुद्गल है जो कृपायानुरक्त जीवकी योगक्रियासे आकृष्ट हो उससे एकमेक बंधको प्राप्त होता है। ऐसी दशामें तपस्या-द्वारा नूतन कर्मोंकी आरंभ (आस्रव) रुक जाती है और शेष कर्मोंकी निर्जरा हो जानेसे जीवको बंधन में रखनेके लिए कारण शेष नहीं रहता—वह मुक्त होकर ज्ञानादि अनन्त चतुष्टयका उपभोग करता है। कर्मरूप होने योग्य यह सूक्ष्म पुद्गल जो लोकमें भरा हुआ है, संसारी जीवसे सम्बद्ध होकर आठ प्रकारोंमें परिणत हो जाता है। इन्हींको भ० महावीरने आठ कर्मप्रकृति कहा है अर्थात् (१) ज्ञानावरणी, (२) दर्शनावरणी, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम (७) गोत्र और (८) अन्तराय। चीनदेशके बौद्ध शास्त्रोंमें इनमेंसे केवल छह मूल्य प्रकृतियोंका उल्लेख मिलता है—न मालूम उसमें ज्ञानावरण और अन्तरायका उल्लेख होनेसे कैसे छूट गया? जो हो, यह स्पष्ट है कि भ० महावीरने अपने धर्मका प्रतिपादन मूलतः कर्मसिद्धांतके आधारसे किया था, अतएव कर्मसिद्धांतका विवेचन सामान्य न होकर वैज्ञानिक होना चाहिए। जैनागम इसी बातका द्योतक है।

पाठकगण, अब आइये प्रकृत-विषयका विचार करें। इस लेखके शीर्षकसे स्पष्ट है कि हमें गोत्रकर्मपर विचार करना अभीष्ट है। गोत्रकर्म आठ मूल प्रकृतियोंमेंसे एक है और उसका लक्षण 'धवलसिद्धांत' में यों बतलाया गया है:—

“उच्चनीचकुलेषु उप्पादओ पोगलक्खंधो मिच्छत्तादिपच्चएहि जीवसंबंधो गोदमिदि उच्चदे।”

अर्थात्—मिथ्यात्वादि कारणोंके द्वारा जीवके

साथ सम्बन्धको प्राप्त हुए ऊँच-नीच-कुलमें उत्पन्न करानेवाले पुद्गलस्कन्धको 'गोत्र' कहते हैं \*।

गोत्रकर्मका सूक्ष्म पुद्गलरूप होना लाजिमी है।

आचार्य उसीको स्वीकार करते हुए बताते हैं कि वे गोत्रकर्मरूप पुद्गलस्कन्ध जीवको ऊँच-नीच-कुलमें उत्पन्न कराते हैं। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि ऊँच-नीच-कुलमें जन्म करा देनेके पश्चात् गोत्रकर्म निष्क्रिय हो जाता हो; क्योंकि कर्मकी मूल प्रकृतियोंमें कोई भी ऐसा नहीं है जो जीवके साथ परम्परा-रूपसे हमेशासे न हो और अपना प्रभाव न रखता हो। आयुर्कर्म प्रकृतिका बन्ध यद्यपि जीवनमें एक बार ही होता है, परन्तु उसका कार्य बराबर जीवन-पर्यन्त होता है। इसी तरह भ० महावीरने गोत्रकर्मका प्रभाव जन्म लेनेके बाद भी जीवन-पर्यन्त होना प्रतिपादित किया है और यही मानना आवश्यक है। यही कारण है कि श्री नेमिचन्द्राचार्य सिद्धांत-चक्रवर्ती गोत्र कर्मके विषयमें लिखते हैं:—

‘संताणकमेणागयजीवायरणस्स गोदमिदि सण्णा।’

अर्थात्—‘सन्तानक्रमसे-कुलपरिपाटीसे-चले आये जीवके आचारणकी 'गोत्र' संज्ञा है।’

गोत्रकर्मका यह लक्षण उसके कार्यको बतलाता है। जीव एक द्रव्य है। अतएव संसारी जीवका कुलपरम्परागत आचरण काल्पनिक न होकर नियमित और जन्म-सुलभ होना चाहिये। जीवके कुल भी एकेन्द्रियादि की अपेक्षा मानने चाहियें—वे काल्पनिक न होने चाहियें। इस विषयको स्पष्ट समझनेके लिये हमें संसारी जीवोंके वर्णन पर जरा विचार करना चाहिये।

✽ यह और इस लेखमें अन्य सिद्धांत-उद्धरण 'अनेकांत' की पूर्व प्रकाशित किरणोंमेंसे लिये गये हैं। जिसके लिए हम लेखकोंके आभारी हैं।

प्रत्येक जैनी जानता है कि संसारी जीव त्रस और स्था-  
वरके रूपमें दो तरहके हैं। त्रसमें दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय,  
चतुरेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय सम्मिलित हैं। पंचेन्द्रियोंमें  
पशुओं और मनुष्योंके अतिरिक्त देव और नारकी भी  
सम्मिलित हैं। एकेन्द्रियसे पंचेन्द्रिय पशु तक तिर्यच कह-  
लाते हैं। तिर्यच्चोंके अतिरिक्त नारकियों, देवों और मनु-  
ष्योंका भी पृथक् अस्तित्व मिलता है। अब देखना यह  
है कि किन कारणोंसे जीव नारक-पशु-देव और मनुष्य  
भवोंमें उच्च-नीच-गोत्री होता है। तत्त्वार्थाधिगम सूत्रमें  
लिखा है कि:—

‘परात्मनिंदाप्रशंसे सदसद्गुणोच्छादनोद्भावने च  
नीचैर्गोत्रस्य । तद्विपर्ययो नीचैर्दुत्यनुस्सेकौ चोत्तरस्य ।’

अर्थात्—‘परकी निंदा, अपनी प्रशंसा, परके  
विद्यमान गुणोंका आच्छादन और अपने अविद्यमान  
गुणोंका प्रकाशन, ये नीचगोत्रकर्मके आस्रवके कारण  
हैं। इनसे विपरीत अर्थात् अपनी निंदा, परकी प्रशंसा,  
अपने गुण दकना और दूसरोंके गुण प्रकाशित करना,  
नम्रवृत्ति और निरभिमान, ये उच्चगोत्रकर्मके आस्रवके  
कारण हैं।’

और इसमें शंका ही नहीं की जा सकती कि जैसा  
कारण होता है उसीके अनुरूप कार्य होता है—कारण-  
के विरुद्ध कार्य नहीं होता। अतएव उच्च-नीच गोत्रके  
कारणोंका सम्बन्ध जिस प्रकार धर्माचरणसे नहीं है  
उसी तरह उसका कार्यरूप भी धर्माचरणसे संबंधित  
नहीं किया जा सकता अर्थात् संतान-क्रमगत आचरण-  
का भाव सिद्धान्तग्रंथमें धर्माचरण अथवा अधर्माचरण  
नहीं है; बल्कि आचरणका भाव सामान्य प्रवृत्ति  
है और वह प्रवृत्ति नारकतिर्यच्चादिमें कुल-परम्परासे  
एक-सी मिलना चाहिये। चूँकि भव-अपेक्षा तिर्यच्च-  
नारक-देव-मनुष्य पृथक्-पृथक् हैं, इसलिये उनकी कुल-

सुलभ प्रवृत्ति अथवा व्यापार भी पृथक्-पृथक् होना  
आवश्यक है। नारकियोंमें जन्म लेते ही जीव ताड़न-  
मारन-छेदन-भेदन-रूप संक्लेशमय क्रियाको करने लगता  
है और वह उसको आयुपर्यन्त कभी न तो भूलता है  
और न छोड़ता ही है। इसलिये नारकियोंका यह  
व्यापार उनका गोत्रजन्य आचरण है। उनकी यह  
प्रवृत्ति नियमित, जन्म-सुलभ और शाश्वत है—प्रत्येक  
नारकीमें प्रत्येक समयमें वही प्रवृत्ति मिलेगी। इसी तरह  
तिर्यच्चोंमें गोत्रजन्य व्यापार देखना चाहिये। उनका  
गोत्रजन्य व्यापार भी जन्म सुलभ, नियमित और जीवन-  
पर्यन्त रहने वाला होना चाहिये। तिर्यच्चोंमें क्षुधा-  
निवृत्तिके लिये नाना प्रकारसे उद्योग करनेका भाव  
और प्रवृत्ति सर्वोपरि होती है। अपनी खाद्य वस्तुको  
खोजने, उसको संभालकर रखने और काममें लानेका  
चातुर्य प्रत्येक पशुमें जन्मगत देखनेको मिलता है—  
कोई उनको सिखाता नहीं। शेर, बिल्ली आदि खूँख्वार  
जानवरोंको शिकारकी घातमें रहनेकी चालाकी किसीने  
सिखाई नहीं है—बया चिड़ियाको खास तरहका घोंसला  
बनाना, शहदकी मक्खियोंको अपना छत्ता बनाना  
और चींटियोंको अपनी बिलें बनानेकी शिक्षा किसने दी  
है? तिर्यच्चोंकी यह सब प्रवृत्ति जन्मगत होनेसे उनका  
कुल-परम्परीण आचरण (व्यापार) है। अतः यही  
उनका गोत्रजन्य व्यापार-कार्य है। किन्तु प्रश्न यह है  
कि उनका यह व्यापार शुभ और प्रशंसनीय है अथवा  
नहीं? नारकियोंकी प्रवृत्ति संक्लेशमयी रौद्रताको लिये  
हुये है, जो जीवके स्वभावसे प्रतिकूल और उसके  
संसारको बढ़ने वाली है। इसी तरह तिर्यच्चोंकी  
प्रवृत्ति मायावी और मूर्खाभावको लिये हुए है।  
आत्माका धर्म आर्जव है—माया और मूर्खा उससे परेकी  
चीजें हैं। इसलिये नारक और तिर्यच्चोंकी प्रवृत्तियाँ

उपादेय न होनेके कारण हितकर और प्रशंसनीय नहीं हैं—वे हैं भी अशुभ, क्योंकि नरक और तिर्यञ्च-गतियों स्वयं अशुभ हैं। अतएव नारक और तिर्यञ्चोंका गोत्र भी अशुभ अर्थात् नीच होना चाहिये। सिद्धान्तग्रन्थोंमें उसे नीच ही बताया गया है।

अब रहे केवल मनुष्य और देव। देवोंके गोत्रजन्य व्यापारके विषयमें मतभेद नहीं है—उनका आनन्दी जीवन है—क्रीड़ा करनेमें ही देव मग्न रहते हैं। आनन्दी जीवनमें आकुलताके लिये बहुत-कम स्थान है—आनन्द आत्माका स्वाभाविक गुण है। इसलिये देवोंकी प्रवृत्ति शुभ है। यही कारण है कि देवोंमें ऊँचे-नीचे दर्जके देवोंका वर्गीकरण होते हुए भी सब ही देव उच्च गोत्री कहे गये हैं। अब रह जाते हैं केवल मनुष्य ! उनके जन्म-सुलभ व्यापार अथवा गोत्रजन्य प्रवृत्तिके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद है; परन्तु यहाँ पर भी यदि उपर्युक्त देव-नारकादिके गोत्रजन्य व्यापारकी विशेषताओंका ध्यान रक्खा जाय तो मतभेदकी संभावना शायद ही रहे। गोत्रजन्य व्यापार जन्म सुलभ, नियमित और शाश्वत होना चाहिये। अतएव देखना यह चाहिये कि मनुष्योंमें कौनसी प्रवृत्ति जन्म-सुलभ है, जो जीवन-पर्यन्त प्रत्येक देश और प्रत्येक कालके मनुष्योंमें मिलती है ? गौरसे देखिये तो ज्ञात होता है कि एक बालक होश सँभालनेके पहलेसे ही हेर बातको जाननेकी—वस्तु के स्वरूपको ग्रहण करनेकी स्वतः ही कोशिश करता है मानवजातिके किसी कुलका बालक क्यों न हो, उसमें यह प्रवृत्ति स्वतः ही मिलती है और वह बराबर बनी रहती है; बल्कि मनुष्य-सन्तानमें उस प्रवृत्तिका संस्कार जन्मतः दीखता है। इस प्रवृत्तिको श्रुतपर्यवेक्षण-प्रवृत्ति कहना उचित है, और यही मनुष्यका गोत्रजन्य व्यापार

मानना उचित है; क्योंकि यह जन्मसुलभ, नियमित और मनुष्य जीवनमें कभी न बदलने वाली शाश्वती प्रवृत्ति उसी तरह है जिस तरह देवादिके उनकी गोत्र-जन्य प्रवृत्ति है। साथ ही, चूँकि यह प्रवृत्ति ज्ञानसे साहसक रखती है, इसलिये श्रेष्ठ है—शुभ है; क्योंकि ज्ञान आत्माका गुण है। अतएव मनुष्यजातिमें बजाहिर काल्पनिक भेद-प्रभेद रूप वर्गीकरण होते हुए भी, जैसे कि देवोंमें भी है, उनको उच्चगोत्री मानना ही ठीक है श्रीमान् वयोवृद्ध सूरजभानुजी साहबने इस विषयका ठीक ही प्रतिपादन किया है। 'ठाणायंत्र' में मनुष्योंके चौदह लाख कोटि कुलोको मोक्षयोग्य ठहराया है†—यह सिद्धान्त मान्यता तभी ठीक हो सकती है जब कि सब ही मनुष्योंको उच्चगोत्री माना जायगा।

इसके विपरीत मनुष्योंमें उच्च-नीच-गोत्र-जन्य व्यापार यदि मनुष्योंकी लोक-सम्मानित और लोक-निष्ठ प्रवृत्तिको माना जाय तो सिद्धान्तमें कही गई बातोंसे विरोध होगा; क्योंकि सिद्धांतमें भ्लेच्छ-शूद्र-चोर-डाकू-आदि लोकनिष्ठ मनुष्योंको भी मुनि होते बताया गया है‡। इस प्रकरणमें बौद्ध ग्रंथ 'मज्झिमनिकाय' का निम्नलिखित उद्धरण विशेष दृष्टव्य है:—

“म० गौतम बुद्ध कहते हैं:—“निगंठो, जो लोकमें

† 'मिथ्यात्व सौं लेह अयोगि पर्यंत गुणस्थाननि विषै' मनुष्यके चौदह लाख कोटिकुल कहे हैं, यातें सब मनुष्यनिके कुलकी संज्ञा मोक्षयोग्य जानी गई। यह ठाणोंके यंत्र विषै देख लेना।'—चर्चासमाधान

‡ धवल सिद्धांतमें भ्लेच्छोंको मुनिपद धारणका विधान श्री सूरजभानुजीके लेखसे स्पष्ट है। 'सुपणा-सार' से भी यह एवं सतशूद्रोंका मुनि होना स्पष्ट है। क्रूरकर्मा अहिमारक चोर आदिका मुनि होना भी भगवती आराधना पृ० ३५३ से स्पष्ट है।

रुद्र ( भयंकर ) खून रंगे हाथ वाले, क्रूरकर्मा, मनुष्योंमें नीचजाति वाले ( पञ्चाजाता ) हैं, वे निगंटोंमें साधु बनते हैं ।” (चूलदुक्ख-क्खन्ध-मुत्तन्त)

यह उद्धरण भ० महावीरके समयमें जैनसंघकी प्रवृत्तिका दिग्दर्शन कराता है। इसमें बौद्धोंके आक्षेप-वृत्तिगत संदिग्धताकी भी शंका नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जैनागमसे एक हृद तक इसका समर्थन होता है। सिद्धांत ग्रंथोंसे स्पष्ट है कि रुद्र भृष्ट-मुनि आर्थिकाकी संतान होता है और ग्यारह अंग और नौ पूर्वोंका पाठी मुनि होता है। भ० महावीरके समयमें सात्यकिपुत्र नामक अंतिम रुद्र ज्येष्ठा आर्थिका और सात्यकि मुनिका व्यभिचारजात पुत्र था\*। वैदिक धर्मकी प्रधानता उस कालमें विलकुल नष्ट नहीं हुई थी और कुलमदका व्यवहार लोगोंमेंसे एकदम दूर नहीं हो गया था—व्यभिचार-जातको जनता लोकनिन्द्य नीच ही मानती थी; किन्तु तीर्थंकर महावीरने अन्तिम रुद्रकी लोकनिन्द्यताका ज़रा भी खयाल नहीं किया और उसे मुनि दीक्षा देदी। इसी तरह अहिमारक चोरने मुनि होकर एक राजाको जानम मार डाला, जिससे यह स्पष्ट है कि अहिमारक

अपने जीवनमें साधु होनेके पहले बहुत ही क्रूरकर्मी था\*। क्रूरकर्मी चोरकी लोकमें कोई भी प्रशंसा नहीं करेगा—फिर भी वह मुनि हुआ। इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि वह नीचगोत्री नहीं था और गोत्रके व्यापारका सम्बन्ध लोकनिन्द्य और लोकवन्द्य आचरणोंसे नहीं बैठता। क्रूरकर्मी आदि रूप होना चारित्र्य मोहनीय कर्मप्रकृतिसे ताल्लुक रखता है—गोत्रकर्मसे उसका सम्बन्ध बिठाना ठीक नहीं। अतएव उपर्युक्त विवेचनके आधारसे यह मानना ठीक जँचता है कि भ० महावीरने मनुष्यजातिको उच्चगोत्री ही बताया था। मनुष्योंका जन्मगत व्यापार—श्रुतपर्यवेक्षणभाव उन्हें उच्चगोत्री ही ठहराता है गोमटसार कर्मकाण्ड गाथा नं० १८ से हमारे उपर्युक्त वक्तव्यका समर्थन होता है; क्योंकि उसमें नीच-उच्च-गोत्र भवाश्रित बताये हैं। मनुष्यभव उच्च ही माना गया है। मनन करनेकी क्षमता रखने वाला जीव ही मानव है और वह अवश्य ही सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। भ० महावीरने ऐसा ही कहा था, यह उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है। आशा है, विद्वज्जन इस विषयको और भी स्पष्ट करेंगे।

\* देखो आराधना कथाकोशमें सात्यकि और रुद्र कथा नं० २७ ।

\* देखो अनन्तकीर्ति ग्रन्थमालामें प्रकाशित भगवती आराधनाकी ‘अहिमारण्य’ आदि गाथा नं० २०७१

## विविध-प्रश्न

प्र०—कहिये धर्मका क्यों आवश्यकता ?

उ०—अनादि कालसे आत्माके कर्म-जाल दूर करने के लिये।

प्र०—जीव पहला अथवा कर्म ?

उ०—दोनों अनादि हैं। यदि जीव पहले हो तो इस विमल वस्तुको मल लगनेका कोई निमित्त

चाहिये। यदि कर्मको पहले कहो तो जीवके बिना कर्मको किया किसने ? इस न्यायसे दोनों अनादि हैं।

प्र०—जीव रूपी है अथवा अरूपी ?

उ०—देहके निमित्तसे रूपी है और अपने स्वरूपसे अरूपी।

—राजचन्द्र



# जैनदृष्टिका स्थान तथा उसका आधार

[ लेखक—न्यायदिवाकर न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री ]

[ इस लेखके लेखक पं० महेन्द्रकुमारजी शास्त्री काशी-स्याद्वाद महाविद्यालयके एक प्रसिद्ध विद्वान हैं, और वहाँ न्यायाध्यापकके आसन पर आसीन हैं । हालमें आप षट्खण्ड-न्यायाचार्यके पदसे भी विभूषित हुए हैं जैनियोंमें सर्वप्रथम आपकोही काशीकी इस षट्खण्ड-न्यायाचार्यकी पदवीसे विभूषित होनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है । आप बड़ेही विचारशील एवं सज्जन हैं और खूब तुलनात्मक अध्ययन किया करते हैं, जिसका विशेष परिचायक आपके द्वारा सम्पादित हुआ 'न्यायकुमुदचन्द' नामका ग्रन्थ है । तुलनात्मक दृष्टिसे लिखा हुआ आपका यह लेख बड़ा ही महत्वपूर्ण है । इसमें भगवान् महावीरकी अनेकान्त दृष्टिका और उसे दूसरे दर्शनों पर जो गौरव प्राप्त है उसका बड़े अच्छे ढंगसे प्रतिपादन एवं स्पष्टीकरण किया गया है । साथ ही, जो यह बतलाया है कि, अनेकान्तदृष्टिको अपनाए बिना वास्तविक अहिंसा नहीं बन सकती—राग-द्वेष और विरोधकी परम्परा बन्द नहीं हो सकती, अनेकान्तदृष्टि जैनधर्मकी जान है, उसे छोड़कर अथवा भुलाकर हम वीरशासनके अनुयायी नहीं रह सकते, अनुयायी बनने और अपना भविष्य उज्ज्वल तथा जीवन सफल करनेके लिये हमें प्रत्येक प्रश्न पर—चाहे वह लौकिक हो या पार-लौकिक—अनेकान्त दृष्टिसे विचार करना होगा, वह सब खासतौरसे ध्यान देनेके योग्य है । आशा है पाठकजन लेखको गौरसे पढ़कर यथेष्ट लाभ उठाएँगे ।

—सम्पादक ]

**भा**रतीय-दर्शनशास्त्रोंके सामान्यतः दो विभाग किये जा सकते हैं—एक वैदिक दर्शन और दूसरे अवैदिक दर्शन । वैदिक दर्शनमें वेदको प्रमाण मानने वाले वैशेषिक, न्याय, उपनिषद्, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा आदि दर्शन हैं । अवैदिक दर्शनोंमें वैदिक यज्ञ-हिंसाके खिलाफ विद्रोह करने वाले, वेदकी प्रमाणता पर अविश्वास रखने वाले बौद्ध और जैनदर्शन हैं । वैदिक दर्शनके आधार एवं उद्भव स्थानमें विचारोंका प्रामुख्य है तथा अवैदिक दर्शनोंकी उद्भूति आचार-शोधनकी प्रमुखतासे हुई है । प्रायः सभी दर्शनोंका अन्तिम लक्ष्य 'मोक्ष' है । गौण या मुख्यरूपसे तत्त्व-ज्ञानको साधन भी सभीने माना है । वैदिकदर्शनकी परम्पराके स्थिर रखनेके लिये तथा उसके अतुल्य विकासके लिये प्रारम्भसे ही बुद्धिजीवी ब्राह्मणवर्गने सुदृढ प्रयत्न किया है । यही कारण है कि आज वैदिकदर्शनोंकी सूक्ष्मता एवं परिमाणकी तुलनामें यद्यपि अवैदिक दर्शन मात्रामें नहींवत् है, पर उनकी गहराई और सूक्ष्मता किसी भी तरह कम नहीं है । बौद्ध और जैन-दर्शनका मूलस्रोत जिन बुद्ध और महावीरके वाक्योंसे

निकलता है वे यद्यपि स्वयं आचारप्रधान थे तथापि उत्तरकालीन आचार्यवर्गने अपने अपने दर्शनोंके विकासमें तर्ककी पराकाष्ठा दिखाई है और उस उस तर्कजन्य विकासशील साहित्यसे दर्शनशास्त्र के कोषागार-में अपनी ओरसे भी पर्याप्त पूंजी जमा की है ।

## बौद्धदृष्टिकी उद्भूति

बुद्ध जब तपस्या करने जाते हैं तब उनकी विचार-धाराको देखिए । उसमें दर्शनशास्त्र-जैसी कल्पनाओंको कोई स्थान ही नहीं है । उस समय तो उनका करुणामय हृदय संसारके विषय कषायोंसे विरक्त होकर मार-विजयको उद्यत होता है । वे तो विषय-कषाय ज्वालासे बुरी तरह झुलसे हुए प्राणियोंके उद्धारके लिए अपना जीवन होम देनेकी भावनाको पुष्ट करते हैं । उनका चित्तप्रवाह संसारको जलबुद्बुदकी तरह क्षणभंगुर, अशुचि, निरात्मक—आत्मस्वरूपसे भिन्न आत्माके लिए निरुपयोगी, तथा दुःखरूप देखता है । वे इस दुःख-सन्ततिके मूल कारणोंका उच्छेद करनेके लिए किसी दर्शनशास्त्रकी रचना नहीं करके उसके मार्गकी खोजके लिए तपस्या करते हैं । छह वर्ष तक उग्र तपस्या चलती

है, पर जब सिद्धि नहीं होती तो तपस्याके उत्कट मार्गसे उनका भावुक मातृहृदय चित्त ऊबने लगता है। इस समय उनकी चित्तसन्तति, जो एकनिष्ठ होकर दुःखनिवृत्तिकी उग्रसाधना कर रही थी, अपनी असफलता देखकर विचारकी ओर झुकती है और उसके द्वारा मध्यम मार्गको ढूँढ निकालती है। वे स्थिर करते हैं कि—एक ओर यदि विषयासक्त हो शरीरपोषण करना अति है तो दूसरी ओर उग्रतपस्या-द्वारा शरीरशोषण भी अति है, अतः दोनोंके बीचका मार्ग ही श्रेयस्कर हो सकता है। वे इस मध्यममार्गके अनुसार अपनी तपस्याकी उग्रता ढीली करते हैं। इससे हम एक नतीजा तो सहज ही निकाल सकते हैं कि बुद्धका जीवनप्रवाह अहिंसात्मक आचारकी ओर ही अधिक था, इस समय बुद्धिका काम हुआ है तो साधनकी खोजमें। जब बोधिलाभ करनेके बाद संघ रचनाका प्रश्न आया, शिष्य-परिवार दीक्षित होने लगा, उपदेश-परम्परा शुरू हुई तब विचारका मुख्य कार्य प्रारम्भ हुआ। इस विचारक्षेत्रमें भी हम बुद्धके उपदेशमें दर्शनशास्त्रीय आत्मा आदि पदार्थोंके विवेचनमें अधिक कुछ नहीं पाते। वे तो मात्र दुःख, समुदय—दुःखके कारण, निरोध—दुःख-निवृत्ति और मार्ग—दुःख निवृत्तिका उपाय, इन चार आर्य सत्त्वोंका स्वरूप बताते थे और अपने अनुभूत दुःख-मोक्षके मार्ग पर चलनेकी अन्तःप्रेरणा करते थे। उन्होंने अपने आचरणकी उग्रताको ढीला करनेके लिए जिस मध्यमप्रतिपदाकी ओर ध्यान दिया था उस मध्यमप्रतिपदा (अनेकान्तदृष्टि) को उस समयके प्रचलित विभिन्न वादोंके समन्वयमें नहीं लगाया। हम उनके उपदेशोंमें इस मध्यमप्रतिपदासे होने वाले समीकरणका दर्शन प्रायः नहीं पाते। आत्मा आदिके विषयमें उस समय अनेकों विरोधी मत प्रचलित थे। कोई

आत्माको कूटस्थ-अविकारी नित्य, कोई व्यापक, कोई उसे अणुरूप तो कोई उसे भूत-विकाररूप ही मानते थे। बुद्धने इन विभिन्न वादोंके समन्वय करनेकी कोई कोशिश नहीं की बल्कि उन्होंने इन दिमागी गुत्थियोंका सुलझाना निरूपयोगी समझा और शिष्योंको इस दिमागी कसरतमें न पड़नेकी सूचना दी। उनका लक्ष्य मात्र आचरणकी ओर ही था।

हाँ, दयालुमानस बुद्धने उग्रतपस्यासे ऊबकर अपने मृदुमार्गके समाधानके लिए मध्यमदृष्टिका आलम्बन लिया था, उस आचरणकी सुविधाके लिए अवश्य ही उन्होंने मध्यमप्रतिपदाका बादमें भी उपयोग किया। बुद्धका हृदय माताकी तरह स्नेह तथा कोमल भावनाओंसे लबालब भरा हुआ था। उनके हृदयको अपने प्यारे लालोंकी तरह शिष्योंकी थोड़ी भी तकलीफ या असुविधासे बड़ी ठेस लगती थी, अतः जब भी शिष्योंके आचारकी सुविधाके लिए दो संघाटक (वस्त्र) रखनेकी, जन्ताघर (स्नानागार) बनानेकी, भिक्षामें सायंकालके लिए भी अन्न लाने आदिकी मांग पेश की तो माताकी तरह बुद्धका हृदय पिघल गया और उन्होंने पुत्रवत् शिष्योंको उन बातोंकी सुविधा दे दी। तात्पर्य यह कि—बुद्धकी मध्यम प्रतिपदा व्यक्तिगत आचारकी कठिनाइयोंको हल करनेके सहारेके रूपमें उद्भूत हुई थी और वह वहीं तक ही सीमित रही। उस पुनीत दृष्टिने अपना श्रेयस्कर प्रकाशका विस्तार विचार-क्षेत्रमें नहीं किया, नहीं तो कोई ऐसा माकूल कारण नहीं है कि जिससे बौद्धदार्शनिक ग्रंथोंमें परपक्ष-खडनके साथ ही इतर मतोंका समीकरण न देखा जाता। जब बुद्धने स्वयं ही इसे मध्यमप्रतिपदाका विचार क्षेत्रमें उपयोग नहीं किया तब उनके उत्तरकालीन आचार्योंसे तो उसके उपयोगकी आशा ही नहीं की जा सकती। यही कारण

है कि—उत्तरकालीन आचार्योंने बुद्धके उपदेशोंमें आए हुए क्षणिक, विभ्रम, शून्य, विज्ञान आदि एक एक शब्दके आधार पर प्रचुर ग्रन्थराशि रच डाली और क्षणभंगवाद, विभ्रमवाद, शून्यवाद, ज्ञानाद्वैतवाद आदि वादोंको जन्म देकर इतरमतोंका निरास भी बड़े फटाटोपसे किया। इन्होंने बुद्धकी उस मध्यमदृष्टिकी ओर समुचित ध्यान न देकर वैदिकदर्शनों पर ऐकान्तर प्रहार किया। मध्यमप्रतिपदा के प्रति इनकी उपेक्षा यहाँ तक बढ़ी कि—मध्यमप्रतिपदा (अनेकान्तदृष्टि) के द्वारा ही समन्वय करनेवाले जैनदार्शनिक भी इनके आक्षेपोंसे नहीं बचे सके। बौद्धाचार्योंने 'नैरात्म्य' शब्द के आधार पर आत्माका ऐकान्तिक खंडन किया; भले ही बुद्धने नैरात्म्य शब्दका प्रयोग 'जगतको आत्मस्वरूप से भिन्नत्व, जगत्का आत्माके लिए निरूपयोगी होना, कूटस्थ आत्मतत्त्वका अभाव' आदि अर्थोंमें किया था। 'क्षणिक' शब्दका प्रयोग तो इसलिए था कि—हम स्त्री आदि पदार्थोंको शाश्वत और एकरूप मानकर उनमें आसक्त होते हैं, अतः जब हम उन्हें क्षणिक-विनश्यत्, बदलनेवाले समझने लगेंगे तो उस ओरसे चित्तको विरक्त करनेमें पर्याप्त सहायता मिलेगी। स्त्री आदिको हम एक अवयवी-अमुक आकारवाली स्थूल वस्तुके रूपमें देखते हैं, उसके मुख आदि स्थूल अवयवोंको देखकर उसमें राग करते हैं, यदि हम उसे परमाणुओंका एक पुंज ही समझेंगे तो जैसे मिट्टीके ढेरमें हमें राग नहीं होता उसी तरह स्त्री आदिके अवयवोंमें भी रागकी उद्भूति नहीं होगी। बौद्धदर्शन-ग्रन्थोंमें इन मुमुक्षु भावनाओंका लक्ष्य यद्यपि दुःख-निवृत्ति रहा पर समर्थनका ढंग बदल गया। उसमें परपक्षका खंडन अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया तथा बुद्धि-कल्पित विकल्पजालोंसे बहु-विध पन्थ और ग्रंथ गूँथे गए।

मध्यमप्रतिपदाका शाब्दिक आदर तो सभी बौद्धाचार्योंने अपने अपने ढंगसे किया पर उसके अन्तर्निहित-तत्त्वको सचमुच भुला दिया। शून्यवादी मध्यमप्रतिपदाको शून्यरूप कहते हैं तो विज्ञानवादी उसे विज्ञानरूप। शून्यवादियोंने तो सचमुच उसे शून्यताका पर्यायवाची ही लिख दिया है—

“मध्यमा प्रतिपत्सैव सर्वधर्मनिरात्मता।

भूतकोटिश्च सैवेयं तथता सर्वशून्यता ॥”

अर्थात्—मध्यमाप्रतिपत्, सर्वधर्मनैरात्म्य और सर्वशून्यता, ये पर्यायवाची शब्द हैं। यही वास्तविक और तथ्यरूप है।

सारांश यह कि बुद्धकी मध्यमा प्रतिपत् अपने शैशवकालमें ही मुरझा गई, उसकी सौरभ सर्वत्र न फैल सकी और न उत्तराधिकारियोंने ही इस ओर अनुकूल प्रयत्न किया।

## जैनदृष्टिका आधार और विस्तार

भगवान् महावीर अत्यन्त कठिन तपस्या करनेवाले तपःशूर थे। इन्होंने अपनी उग्रतपस्यासे कैवल्य प्राप्त किया। भगवान् महावीरने बुद्धकी तरह अपने आचारको ढीला करनेमें अनेकान्तदृष्टिका सहारा नहीं लिया और न अनेकान्तदृष्टिका क्षेत्र केवल आचार ही रक्खा। महावीरने विचारक्षेत्रमें अनेकान्तदृष्टिका पूरा पूरा उपयोग किया; क्योंकि उनकी दृष्टिमें विचारोंका समन्वय किए बिना आचारशुद्धि असंभव थी। आत्मादि वस्तुओंके कथनमें बुद्धकी तरह महावीरने मौनावलम्बन नहीं किया; किन्तु उनके यथार्थ स्वरूपका निरूपण किया। उन्होंने कहा कि—आत्मा है भी, नहीं भी, नित्य भी है और अनित्य भी। यह अनेकान्तात्मक वस्तुका कथन उनकी मानसी अहिंसाका अवश्यम्भावी फल है।

कायिक अहिंसाके लिए व्यक्तिगत आचार-शुद्धि किसी तरह कारगर हो सकती है पर मानसी अहिंसाके लिए तो जब तक मानसिक-द्वन्द्वोंका वस्तुस्थितिके आधारसे समीकरण नहीं किया जायगा तब तक मानसिक अहिंसा हो ही नहीं सकती और इस मानसिक अहिंसाके बिना बाह्यअहिंसा निष्प्राण रहेगी। वह एक शोभाकी वस्तु हो सकती है हृदयकी नहीं। यह तो अत्यन्त कठिन है कि—किसी वस्तुके विषयमें दो मनुष्य दो विरुद्ध धारणाएँ रखते हों और उनका अपने अपने ढँगसे समर्थन भी करते हों, उनको लेकर वाद-विवाद भी करते हों; फिर भी वे आपसमें समस्तभाव—एक दूसरेके प्रति मानस अहिंसा रख सकें। चित्त शुद्धिके बिना अन्य अहिंसाके प्रकार तो याचितकमंडन-स्वरूप ही हैं। भगवान महावीरने इसी मानस-अहिंसाके पालनके लिए अर्निवचनीय-अखंड अनन्तधर्मवाली वस्तुके विषयमें प्रचलित विरुद्ध अनेक दृष्टियोंका समन्वय करनेवाली, विचारोंका समझौता करानेवाली पुण्यरूपा ‘अनेकान्तदृष्टि’ को सामने रखा। इससे हरएक वादी वस्तुके यथार्थस्वरूपका परिज्ञान कर अपने प्रतिवादियोंकी दृष्टिका उचित रूपसे आदर करे, उसके विचारोंके प्रति सहिष्णुताका परिचय दे, रागद्वेष विहीन हो, शान्त चित्तसे वस्तुके अनिर्वान्य स्वरूप तक पहुँचनेकी कोशिश करे।

समाजरचना और संघनिर्माणके लिए तो इस तात्त्विकी दृष्टिकी बड़ी आवश्यकता थी; क्योंकि संघमें विभिन्न सम्प्रदाय एवं विभिन्न विचारोंके व्यक्ति दीक्षित होते थे, इस यथार्थ दृष्टिके बिना उनका समीकरण होना असंभव था और बिना समन्वय हुए उनकी अहिंसाकी तथा संघमें वारस्परिक सद्भावकी कल्पना ही नहीं की जासकती थी। ऊपरी एकीकरणसे तो कभी भी विस्फोट हो सकता था, और हुआ भी।

### अनेकान्तदृष्टिका स्वरूप

अनेकान्तदृष्टिके मूलमें यह तत्त्व है कि—वस्तुमें अनेक धर्म हैं, उनको जाननेवाली दृष्टियाँ भी अनेक होती हैं, अतः दृष्टियोंमें विरोध हो सकता है, वस्तुमें नहीं। दृष्टियोंमें भी विरोध तभी तक भासित होता है जब तक हम अंश-ग्राहिणी दृष्टिमें पूर्णताको समझते रहें; उस समय सहज ही द्वितीय अंशको ग्रहण करनेवाली तथा प्रथम दृष्टिकी तरह अपनेमें पूर्णताका दावा रखनेवाली दृष्टि उससे टकराएगी। यदि उन दृष्टियोंकी यथार्थता का भाव हो जाय कि—ये दृष्टियाँ वस्तुके एक एक अंशको ग्रहण करनेवाली हैं, वस्तु तो इनसे परे अनन्त-धर्मरूप है, इनमें पूर्णताका अभिमान मिथ्या है तब स्वरसतः विरोधी रूपसे भासमान द्वितीय दृष्टिको उचित स्थान मिल जायगा। यही तत्त्व उत्तरकालीन आचार्योंने बड़े सुन्दर शब्दोंमें समझाया है कि—एकान्तपना वस्तुमें नहीं है, वह तो बुद्धिगतधर्म है। जब बुद्धि द्वितीय दृष्टिका प्रतिक्षेप न करके तत्सापेक्ष हो जाती है तब उसमें एकान्त नहीं रहता, वह अनेकान्त-मयी होजाती है। इसी समन्वयात्मकदृष्टिसे होनेवाला वचनव्यवहार ‘स्याद्वाद’ कहलाता है। यही अनेकान्त-ग्राहिणी दृष्टि ‘प्रमाण’ है। जो दृष्टि वस्तु के एक धर्मको मुख्यरूपसे ग्रहण कर इतरदृष्टियोंका प्रतिक्षेप न करके उचित स्थान दे वह ‘नय’ कहलाती है। इस मानस अहिंसाकी कारण-कार्यभूत अनेकान्त-दृष्टिके निर्वाहार्थ स्याद्वाद, नयवाद, सप्तमंगी आदिके ऊपर उत्तरकालीन आचार्योंने खूब लिखा। उन्होंने उदास्तापूर्वक यहाँ तक लिखा कि ‘समस्त मिथ्यैकान्तोंके समूहरूप अनेकान्तकी जय हो।’ यद्यपि पातञ्जल योगदर्शन, सांख्यदर्शन, भास्कर वेदान्ती आदि इतर-दर्शनकारोंने भी यत्र-तत्र इस समन्वय दृष्टिका यथासंभव

उपयोग किया है पर स्याद्वादके ही ऊपर संख्याबद्ध शास्त्र जैनाचार्यों ने ही रचे हैं।

उत्तरकालीन आचार्यों ने यद्यपि महावीरकी उस पुनीत दृष्टिके अनुसार शास्त्र रचना की पर उस मध्यस्थ भाव को अंशतः परपक्षखंडनमें बदल दिया। यद्यपि यह आवश्यक था कि प्रत्येक एकान्तमें दोष दिखाकर अनेकान्तकी सिद्धि की जाय, पर उत्तरकालमें महावीर की वह माननी अहिंसा उस रूपमें तो नहीं रही।

### अनेकान्तदृष्टि विकासकी चरमरेखा है

इस तरह दर्शनशास्त्रके विकासके लिहाजसे विचार करने पर हम अनेकान्तदृष्टिसे समन्वय करने वाले जैन-दर्शनको विकासकी चरमरेखा कह सकते हैं। चरमरेखा-से मेरा तात्पर्य यह है कि दो विरुद्धवादोंमें तब तक दिमागी शुष्क कल्पनाओंका विस्तार होता जायगा जब तक उसका कोई वस्तुस्पर्शी हल—समाधान—न मिल जाय। जब अनेकान्तदृष्टिसे उनमें सामञ्जस्य स्थापित हो जायगा तब झगड़ा किस बातका और शुष्कतर्कजाल किस लिए? प्रत्येक वादके विस्तारमें कल्पनाएँ तभी तक बराबर चलेंगी जब तक अनेकान्तदृष्टि समन्वय करके उनकी चरमरेखा पूर्ण—विराम—न लगा देगी।

### स्वतः सिद्ध न्यायाधीश

अनेकान्तदृष्टिको हम एक न्यायाधीशके पद पर अनायास ही बैठा सकते हैं। अनेकान्तदृष्टिके लिए न्यायाधीशपद-प्राप्तिके लिये बोट मांगनेकी या अर्जी देनेकी जरूरत नहीं है, वह तो जन्मसिद्ध न्यायाधीश है। यह मौजूदा यावत् विरोधिदृष्टि-रूप मुद्दे-मुद्दायलोंका उचित फैसला करने वाली है। उदाहरणार्थ—देवदत्त और यज्ञदत्त मामा-फट्टाके भाई भाई हैं। देवदत्त रामचन्द्रका लड़का है—और यज्ञदत्त भानजे। देवदत्त

अपने पिता रामचन्द्रको यज्ञदत्तके द्वारा मामा कहे जाने पर उससे झगड़ता है, इसी तरह यज्ञदत्त रामचन्द्र को देवदत्त द्वारा पिता कहे जाने पर लड़ बैठता है। दोनों लड़के थे बड़े बुद्धिमान। वे एक दिन शास्त्रार्थ करने बैठ जाते हैं—यज्ञदत्त कहता है कि—रामचन्द्र मामा ही है; क्योंकि उसकी बहिन हमारी माँ है हमारे पिता उसे साला कहते हैं, उसकी स्त्रीको हम माई (मामी) कहते हैं, जब वह आता है तो मेरी माँके पैर पड़ता है, हमें भानजा कहता है इत्यादि। इतना ही नहीं यज्ञदत्त रामचन्द्रके पिता होनेका खंडन भी करता है कि यदि वह पिता होता तो हमारी माँका भाई कैसे हो सकता था? फिर हमारे पिता उसे साला क्यों कहते? वह हमारी माँके पैर भी कैसे पड़ता? हम उसे मामा क्यों कहते? आदि। देवदत्त भी कब चुप बैठने वाला था, उसने भी रामचन्द्रके पिता होनेका बड़े फटा-टोपसे समर्थन करते हुए कहा कि—नहीं, रामचन्द्र पिता ही है क्योंकि हम उसे पिता कहते हैं, उसका भाई हमारा चाचा है, हमारी माँ उसे भाई न कहकर स्वामी कहती है। वह उसके मामा होनेका खंडन भी करता है कि—यदि वह मामा होता तो हमारी माँ क्यों उसे नाथ कहती? हम भी क्यों न उसे मामा ही कहते आदि। दोनों केवल शास्त्रार्थ ही करके नहीं रह जाते किन्तु आपसमें मारपीट भी कर बैठते हैं। अनेकान्त-दृष्टि वाला रामचन्द्र पासमें बैठे बैठे यह सब शास्त्रार्थ तथा मल्लयुद्ध देख रहा था। वह दोनों बच्चोंकी बातें सुनकर उनकी कल्पनाशक्ति तथा युक्तिवाद पर खुश होकर भी उस बौद्धिकवादके फलस्वरूप होने वाली मार-पीट-हिंसासे बहुत दुखी हुआ। उसने दोनों लड़कोंको बुलाकर धीरेसे वस्तुस्वरूप दिखा कर समझाया कि—बेटा यज्ञदत्त! तुम तो बहुत ठीक कहते हो, मैं तुम्हारा

तो मामा हूँ, पर केवल मामा ही तो नहीं हूँ देवदत्तका पिता भी हूँ । इसी तरह देवदत्तसे कहा—बेटा देवदत्त ! तुमने भी तो ठीक कहा, मैं तुम्हारा दरअसल पिता हूँ, पर केवल पिता ही तो नहीं हूँ, यज्ञदत्तका मामा भी हूँ । तात्पर्य यह कि उस समन्वयदृष्टिसे दोनों बच्चोंके मनका मैल निकल गया और फिर वे कभी भी पिता और मामाके नारण नहीं भगड़े ।

इस उदाहरणसे समझमें आ सकता है कि—हर एक एकान्तके समर्थनसे वस्तुके एक एक अंशका आशय लेकर गढ़ी गईं दलीलें तब तक बराबर चालू रहेंगी और एक दूसरेका खंडन ही नहीं किन्तु इसके फलस्वरूप रागद्वेष-हिंसाकी परम्परा बराबर चलेगी जब तक कि अनेकान्तदृष्टिसे उनका वास्तविक वस्तु स्पर्शी समाधान न हो जाय । अनेकान्तदृष्टि ही उन एकान्त पक्षीय कल्पनाओंकी चरमरेखा बनकर उनका समन्वय कराती है । इसके बाद तो बौद्धिक दलीलोंकी कल्पनाका स्रोत अपने आप सूख जायगा । उस समय एक ही मार्ग रह जायगा कि—निर्णीत वस्तुतत्त्वका जीवन-शोधनमें उपयोग किया जाय ।

न्यायाधीशका फैसला एक एक पक्षके वकीलों-द्वारा संकलित स्वपक्ष समर्थनकी दलीलोंकी फाइलोंकी तरह आकारमें भले ही बड़ा न हो, पर उसमें वस्तुस्पर्श, व्यावहारिकता एवं सूक्ष्मता अवश्य रहती है । और यदि उसमें मध्यस्थदृष्टि—अनेकान्तदृष्टि—का विचारपूर्वक उपयोग किया गया हो तो अपीलकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती । इसी तरह एकान्तके समर्थनमें प्रयुक्त दलीलोंके भंडारभूत इतरदर्शनोंको तरह जैनदर्शनमें कल्पनाओंका कोटिक्रम भले ही अधिक न हो और उसका परिमाण भी उतना न हो, पर उसकी वस्तु स्पर्शिता, व्यावहारिकता एवं अहिंसाधारतामें तो सन्देह-

को स्थान ही नहीं है । इस मध्यस्थताका निर्वाह उत्तर-कालीन आचार्योंने अंशतः परपक्ष-खण्डनमें पड़कर भले ही पूर्णरूपसे न किया हो और किसी अमुक आचार्यके फैसलेमें अपीलकी भी गुंजाइश हो, पर वह पुनीत दृष्टि हमेशा उनको प्रकाश देती रही और इसी प्रकाशके कारण उन्होंने परपक्षको भी नयदृष्टिसे उचित स्थान दिया है । जिस प्रकार न्यायाधीशके फैसलेके उपक्रममें उभयपक्षीय दलीलोंके बलाबलकी जाँचमें एक दूसरेकी दलीलोंका यथासंभव उपयोग होता है, ठीक उसी तरह जैनदर्शनमें भी इतरदर्शनोंके बलाबलकी जाँचमें एक दूसरेकी युक्तियोंका उपयोग किया गया है । अन्तमें अनेकान्तदृष्टिसे उनका समन्वय कर व्यवहार्य फैसला भी दिया है । इस फैसलेकी मिसलें ही जैनदर्शनशास्त्र हैं ।

### अनेकान्त दृष्टिकी व्यवहाराधारता

बात यह है कि—महावीर पूर्ण दृढ़ अहिंसक व्यक्ति थे । उनको बातकी अपेक्षा कार्य अधिक पसन्द था । जब तक हवाई बातोंसे कार्यायोगी व्यवहार्य वस्तु न निकाली जाय तब तक वाद तो हो सकता है, कार्य नहीं । मानस अहिंसाका निर्वाह तो अनेकान्तदृष्टिके बिना खरविषाण की तरह असंभव था । अतः उन्होंने मानस अहिंसाका मूल-ध्रुवमन्त्र अनेकान्तदृष्टिका आविर्भाव किया । वे मात्र बुद्धिजीवी या कल्पनालोकमें विचरण करनेवाले नहीं थे, उन्हें तो सर्वाङ्गीण अहिंसा प्रचारका सुलभ रास्ता निकालकर जगतको शक्तिका सन्देश देना था । उन्हें शुष्क मस्तिष्कके कल्पनात्मक बहुव्यायामकी अपेक्षा सत्तुद्दयसे निकली हुई छोटीसी आवाज़की कीमत थी तथा वही कारगर भी होती है । यह ठीक भी है कि—बुद्धिजीवी वर्ग, जिसका आचारसे कोई सम्पर्क ही न हो, बैठे बैठे अनन्त कल्पनाजालकी रचना कर सकता है और यही कारण है कि बुद्धिजीवी

वर्गके द्वारा वैदिकदर्शनोंका खूब विस्तार हुआ । पर कार्यक्षेत्रमें तो कल्पनाओंका स्थान नहीं है, वहाँ तो व्यवहार्यमार्ग निकाले बिना चारा ही नहीं है । अनेकान्तदृष्टि जिसे हम जैनदर्शनकी जान कहते हैं, एक वह व्यावहारिक मार्ग है जिससे मानसिक वाचनिक तथा कायिक अहिंसा पूर्णरूपसे पाली जा सकती है ।

उदाहरणके लिए राजनैतिक क्षेत्रमें महात्मा गान्धीको ही लेलीजिए—आज काँग्रेसमें रचनात्मक कार्य करने वाले गाँधी-भक्तोंके सिवाय समाजवादी, साम्यवादी, वर्गवादी, विरोधवादी एवं अनिर्णयवादी लोगोंका जमाव हो रहा है । सब वादी अपने अपने पक्षके समर्थनमें पूरे पूरे उत्साह तथा बुद्धिबलसे लोकतन्त्रकी दुहाई देकर तर्कोंका उपयोग करते हैं । देशके इस बौद्धिक विकास एवं उत्साहसे महात्माजी कुछ सन्तोषकी सांस भले ही लेते हों, पर मात्र इतनेसे तो देशकी गाड़ी आगे नहीं जाती । सभी वादियोंसे जब गान्धीजी कहते हैं कि—भाई, चरखा आदि हम एक तरफ रख देते हैं, तुम अपने वादोंसे कुछ कार्यक्रम तो निकालो, जिसपर अमल करनेसे देश आगे बढ़े । बस, यहीं सब वादियोंके तर्क लँगड़ा जाते हैं और वे विरोध करने पर भी महात्माजीकी कार्यार्थिताकी दाद देते हैं । अनेकान्तदृष्टि महात्माको सब वादियोंमें कार्याधारसे सामञ्जस्यका रास्ता निकालना ही पड़ता है । उनके शब्द परिमित पर वस्तुस्पर्शी एवं व्यवहार्य होते हैं, उनमें विरोधियोंके तर्कोंका उचित आदर तथा उपयोग किया जाता है । इसीलिए गान्धीजी कहते हैं कि—‘मैं वादी नहीं हूँ कारी हूँ, मुझे वादीगर न कहकर कारीगर कहिए, गान्धीवाद कोई चीज नहीं है ।’ तात्पर्य यह कि कार्यक्षेत्रमें अने-

कान्तदृष्टि ही व्यावहारिक मार्ग निकाल सकती है ।

इस तरह महावीरकी अहिंसात्मक अनेकान्तदृष्टि ही जैनदर्शनका मध्यस्तम्भ है । यही जैनदर्शनकी जान है । भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस ध्रुवसत्यको पाए बिना अपूर्ण रहता । पूर्वकालीन युगप्रतीक स्वामी समन्तभद्र तथा सिद्धसेन आदि दार्शनिकोंने इसी पुण्यरूपा अनेकान्तदृष्टिके समर्थनद्वारा सत्-असत्, नित्या-नित्य, भेदाभेद, पुण्य-पाप, अद्वैत-द्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ, आदि विविध वादोंमें सामञ्जस्य स्थापित किया । मध्यकालीन अकलंक, हरिभद्रादि आचार्योंने अंशतः परपक्ष खंडन करके भी उक्त दृष्टिका विस्तार एवं संरक्षण किया । इसी दृष्टिके उपयोगके लिए सप्तभंगी, नय, निक्षेप आदिका निरूपण हुआ है ।

भगवान् वीरने जिस उद्देश्यसे इस श्रेयःस्वरूप अनेकान्तदृष्टिका प्रतिपादन किया था, खेद है कि आज हम उसे भुला बैठे हैं ! वह तो शास्त्रसभामें सुननेकी ही वस्तु रह गई है ! उसका जीवनसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहा !! यही कारण है कि आज समाजमें विविध संस्थाएँ एक दूसरे पर अनुचित प्रहार करती हैं । विचारोंके समन्वयकी प्रवृत्ति ही कुण्ठित हो रही है ! हम यदि सचमुच वीरके अनुगामी होना चाहते हैं तो हमें मौजूदा हरएक प्रश्न पर अनेकान्तदृष्टिसे विचार करना होगा । अन्यथा, हमारा जीवन दिन-ब-दिन निस्तेज होता जायगा और हम विविध पन्थोंमें बंटकर विनाशकी ओर चले जायेंगे \* ।

\* यह लेख गत वीर-शासन-जयन्तीके अवसर पर वीरसेवामन्दिर, सरसावामें पढ़ा गया था ।

—सम्पादक

# मीनसंवाद

( जालमें मीन )

[ १ ]

क्यों मीन ! क्या सोच रहा पड़ा तू !  
देखे नहीं मृत्यु समीप आई !  
बोला तभी दुःख प्रकाशता वो—  
‘सोचूँ यही, क्या अपराध मेरा !!’

[ २ ]

न मानवोंको कुछ कष्ट देता,  
नहीं चुराता धन्य-धान्य कोई ।  
असत्य बोला नहिं मैं कभी भी,  
कभी तकी ना वनिता पराई ॥

[ ३ ]

संतुष्ट था स्वल्प विभूतिमें ही,  
ईर्ष्या-घृणा थी नहिं पास मेरे ।  
नहीं दिखाता भय था किसीको,  
नहीं जमाता अधिकार कोई ॥

[ ४ ]

विरोधकारी नहीं था किसीका,  
निःशस्त्र था, दीन-अनाथ था मैं !  
स्वच्छन्द था केलि करूँ नदीमें,  
रोका मुझे जाल लगा वृथा ही !!

[ ५ ]

खींचा, घसीटा, पटका यहाँ यों—  
‘मानो न मैं चेतन प्राणि कोई !  
होता नहीं दुःख मुझे ज़रा भी !  
हूँ काष्ठ-पाषाण-समान ऐसा !!’

[ ६ ]

सुना करूँ था नर धर्म ऐसा—  
‘हीनापराधी नहिं दंड पाते ।  
न युद्ध होता अविरोधियोंसे,  
न योग्य हैं वे वधके कहाते ॥

[ ७ ]

रक्षा करें वीर सुदुर्बलोंकी,  
निःशस्त्रपै शस्त्र नहीं उठाते’ ।  
बातें सभी झूठ लगें मुझे वो,  
विरुद्ध दे दृश्य यहाँ दिखाई ॥

[ ८ ]

या तो विडाल-व्रत ज्यों कथा है,  
या यों कहो धर्म नहीं रहा है ।  
पृथ्वी हुई वीर-विहीन सारी,  
स्वार्थान्धता फैल रही यहाँ वा ॥

[ ९ ]

बेगारको निन्द्य प्रथा कहें जो,  
वे भी करें कार्य जघन्य ऐसे !  
आश्चर्य होता यह देख भारी,  
‘अन्याय शोकी अनिआयकारी !!’

[ १० ]

कैसे भला वे स्व-अधीन होंगे ?  
स्वराज्य लेंगे जगमें कभी भी ?  
करें पराधीन, सता रहे जो,  
हिंसाव्रती होकर दूसरोंको !!

[ ११ ]

भला न होगा जग में उन्होंका—  
बुरा विचारा जिनने किसी का !  
न दुष्कृतोंसे कुछ भीत हैं जो,  
सदा करें निर्दय कर्म ऐसे !!

[ १२ ]

मैं क्या कहूँ और, कहा न जाता !  
हैं कण्ठमें प्राण, न बोल आता !!  
छुरी चलेगी कुछ देरमें ही !  
स्वार्थी जनोंको कब तर्स आता !!”

[ १३ ]

यों दिव्य-भाषा सुन मीनकी मैं,  
धिकारने खूब लगा स्वसत्ता ।  
हुआ सशोकाकुल और चाहा,  
देऊँ झुड़ा बन्ध किसी प्रकार ॥

[ १४ ]

पै मीनने अन्तिम श्वास खींचा !  
मैं देखता हाय ! रहा खड़ा ही !!  
गूँजी ध्वनी अम्बर-लोकमें यों—  
‘हा ! वीरका धर्म नहीं रहा है !!’

—‘युगवीर’

# वीर-शासनकी विशेषता

[ ले०—श्री अगस्त्यजी नाहटा ]



**भ**गवान् महावीरका पवित्र शासन अन्य सभी दर्शनों-से महती विशेषता रखता है। महावीर प्रभुने अपनी अखंड एवं अनुपम साधना द्वारा केवलज्ञान लाभकर विश्वके सामने जो नवीन आदर्श रक्खे उनकी उपयोगिता विश्वशान्तिके लिये त्रिकालाबाधित है। उन्होंने विश्व कल्याणके लिये जो मार्ग निर्धारित किये वे इतने निर्भ्रान्त एवं अटल सत्य हैं कि उनके बिना सम्पूर्ण आत्मविकास असंभव है।

वीर प्रभुने तत्कालीन परिस्थितिका जिस निर्भीकता-से सामना कर कायापलट कर दिया वह उनके जीवनकी असाधारण विशेषता है। सर्वजनमान्य एवं सर्वत्र प्रचलित भ्रामक सिद्धान्तों एवं क्रियाकाण्डोंका विरोध करना साधारण मनुष्य का कार्य नहीं; इसके लिये बहुत बड़े साहस एवं आत्मबलकी आवश्यकता है। वह आत्मबल भी महाकठिन साधनाद्वारा ही प्राप्त होता है। भगवान् महावीरका साधक जीवन \* उसी का विशिष्ट प्रतीक है। जिस प्रकार उनका जीवन एक विशिष्ट साधक जीवन था उसी प्रकार उनका शासन भी महती विशेषता रखता है। इसी विषय पर इस लघु लेखमें संक्षिप्तरूपसे विचार किया जाता है।

\* उनके साधक जीवनका सुन्दर एवं मननीय वर्णन 'आचारांग' नामक प्रथम अंगसूत्रमें बहुत ही विश्वसनीय एवं विशदरूपसे मिलता है। पाठकोंसे उक्त सूत्रके अंतिम भागकी पढ़नेका विशेष अनुरोध है।

वीरशासन-द्वारा विश्व-कल्याणका कितना घनिष्ट सम्बन्ध है? तत्कालीन परिस्थितिमें इस शासनने क्या काम कर दिखाया? यह भली भाँति तभी विदित होगा जब हम उस समयके वातावरणसे, सम्यक् प्रकारसे परिचित हो जायँ। अतः सर्व प्रथम तत्कालीन परिस्थितिका कुछ दिग्दर्शन करना आवश्यक है।

प्राचीन जैन एवं बौद्ध ग्रन्थोंके अनुशीलनसे ज्ञात होता है कि उस समय धर्मके एकमात्र ठेकेदार ब्राह्मण लोग थे, गुरुपद पर वे ही 'सर्वेसर्वा' थे। उनकी आज्ञा राजाज्ञासे भी अधिक मूल्यवान समझी जाती थी, राजगुरु भी तो वे ही थे। अतः उनका प्रभाव बहुत व्यापक था। सभी सामाजिक रीति-रस्में एवं धार्मिक क्रियाकाण्ड उन्हींके तत्वावधानमें होते थे, और इसलिये उनका जातीय अहंकार बहुत बढ़ गया था, वे अपनेको सबसे उच्च मानते थे। शूद्रादि जातियोंके धार्मिक एवं सामाजिक अधिकार प्रायः सभी छीन लिये गये थे, इतना ही नहीं वे उनपर मनमाना अत्याचार भी करने लगे थे। यही दशा मूक पशुओंकी थी, उन्हें यज्ञयागादि-में ऐसे मारा जाता था मानो उनमें प्राण ही नहीं है, और इसे महान् धर्म समझा जाता था। वेद-विहित हिंसा हिंसा नहीं मानी जाती थी।

इधर स्त्रीजातिके अधिकार भी छीन लिये गये थे। पुरुष लोग उनपर जो मनमाने अत्याचार करते थे वे उन्हें निर्जीवकी भाँति सहन कर लेने पड़ते थे।

उनकी कोई सुनाई नहीं थी। धार्मिक कार्योंमें भी उनको उचित स्थान न था अर्थात् स्त्री जाति बहुत कुछ पददलित सी थी।

यह तो हुई उच्च नीच जातीयवादकी बात, इसी प्रकार वर्णाश्रमवाद भी प्रधान माना जाता था। साधनाका मार्ग वर्णाश्रमके अनुसार ही होना आवश्यक समझा जाता था। इसके कारण सच्चे वैराग्यवान् व्यक्तियोंका भी तृतीयाश्रमके पूर्व सन्यास ग्रहण उचित नहीं समझा जाता था।

इसी प्रकार शुष्क क्रिया काण्डोंका उस समय बहुत प्राबल्य था। यज्ञयागादि स्वर्गके मुख्य साधन माने जाते थे, बाह्य शुद्धिकी ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। अन्तरशुद्धिकी ओरसे लोगोंका लक्ष्य दिनोंदिन हटता जा रहा था। स्थान स्थान पर तापस लोग तापसिक बाह्य कष्टमय क्रियाकाण्ड किया करते थे और जन साधारणको उनपर काफी विश्वास था।

वेद ईश्वर कथित शास्त्र हैं, इस विश्वासके कारण वेदाज्ञा सबसे प्रधान मानी जाती थी, अन्य महर्षियोंके मत गौण थे। और वैदिक क्रियाकाण्डों पर लोगोंका बहुत अधिक विश्वास था। शास्त्र संस्कृत भाषामें होनेसे साधारण जनता उनसे विशेष लाभ नहीं उठा सकती थी। वेदादि पढ़नेके एममात्र अधिकारी ब्राह्मण ही माने जाते थे।

ईश्वर एक विशिष्ट शक्ति है, संसारके सारे कार्य उसीके द्वारा परिचालित हैं, सुख-दुःख व कर्म फलका दाता ईश्वर ही है, विश्वकी रचना भी ईश्वरने ही की है, इत्यादि बातें विशेषरूपसे सर्वजनमान्य थीं। इनके कारण लोग स्वावलम्बी न होकर केवल ईश्वरके भरोसे बैठे रहकर आत्मोन्नतिके सच्चे मार्गमें प्रयत्नशील नहीं थे। मुक्ति लाभ ईश्वरकी कृपा पर ही निर्भर माना

जाता था। कल्याणपथमें विशेष मनोयोग न देकर लोग ईश्वरकी लम्बी लम्बी प्रार्थनाएँ करनेमें ही निमग्न थे। और प्रायः इसीमें अपने कर्तव्यकी 'इतिश्री' समझते थे।

इस विकट परिस्थितिके कारण लोग बहुत अशान्ति-भोग कर रहे थे। शूद्रादि तो अत्याचारोंसे ऊब गये थे। उनकी आत्मा शान्ति-प्राप्तिके लिये व्याकुल हो उठी थी। वे शान्तिकी शोधमें आतुरसे हो गये थे। भगवान् महावीरने अशान्तिके कारणों पर बहुत मननकर, शान्तिके वास्तविक पथका गंभीर अनुशीलन किया। उन्होंने पूर्व परिस्थितिका कायापलट किये बिना शान्ति-लाभको असम्भव समझ, अपने अनुभूत सिद्धान्तों-द्वारा क्रान्ति-मचादी। उन्होंने जगतके बातावरणकी कोई पर्वाह न कर साहसके साथ अपने सिद्धान्तोंका प्रचार किया। उनके द्वारा विश्वको एक नया प्रकाश मिला। महावीरके प्रति जनताका आकर्षण क्रमशः बढ़ता चला गया। फलतः लाखों व्यक्ति वीरशासनकी पवित्र छत्र-छायामें शान्ति लाभ करने लगे।

वीर शासनकी सबसे बड़ी विशेषता 'विश्वप्रेम' है। इस भावना-द्वारा अहिंसाको धर्ममें प्रधान स्थान मिला। सब प्राणियोंको धार्मिक अधिकार एक समान दिये गये। पापी से पापी और शूद्र एवं स्त्रीजातिको मुक्ति-तकका अधिकारी घोषित किया गया और कहा गया कि मोक्षका द्वारजा सबके लिये खुला है, धर्म पवित्र वस्तु है, उसका जो पालन करेगा वह जाति अथवा कर्मसे चाहे कितना ही नीचा क्यों न हो, अवश्य पवित्र हो जायगा। साथ ही जातिवादका ज़ोरोंसे खंडन किया गया, उच्च और नीचका सच्चा रहस्य प्रकट किया गया और उच्चता-नीचताके सम्बन्धमें जातिके बदले गुणोंको प्रधान स्थान दिया गया। सच्चा ब्राह्मण कौन है, इसपर विशद व्याख्या की गई, जिसकी कुछ रूपरेखा जैनो-

के 'उत्तराध्ययन सूत्र' एवं बौद्धोंके 'धम्मपद' में पाई जाती है। लोगोंको यह सिद्धान्त बहुत संगत और सत्य प्रतीत हुआ, फलतः लोकसमूह-भुण्डके भुण्ड महावीरके उपदेशोंको श्रवण करनेके लिये उमड पड़े। उन्होंने अपना वास्तविक व्यक्तित्व-लाभ किया। वीर-शासनके दिव्य आलोकसे चिरकालीन अज्ञानमय भ्रान्त धारणा विलीन हो गई। विश्वने एक नई शिक्षा प्राप्त की, जिसके कारण हज़ारों शूद्रों एवं लाखों स्त्रियोंने आत्मोद्धार किया। एक सदाचारी शूद्र निर्गुण ब्राह्मणसे लाखगुणा उच्च है अर्थात् उच्च नीचका माप जातिसे न होकर गुण-सापेक्ष है। कहा भी है—

'गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः'

धार्मिक अधिकारोंमें जिस प्रकार सब प्राणी समान हकदार हैं। उसी प्रकार प्राणीमात्र सुखाकांक्षी हैं, सब जीनेके इच्छुक हैं; मरणसे सबको भय एवं कष्ट है, अतएव प्राणिमात्र पर दया रखना वीर शासनका मुख्य सिद्धान्त है। इसके द्वारा, यज्ञयागादिमें असंख्यमूक पशुओंका जो आये दिन संहार हुआ करता था, वह सर्वथा रुक गया। लोगोंने इस सिद्धान्तकी सच्चाईका अनुभव किया कि जिस प्रकार हमें कोई मारनेको कहता है तो हमें उस कथन मात्रसे कष्ट होता है उसी प्रकार हम किसीको सताएँगे तो उसे अवश्य कष्ट होगा एवं परपीडनमें कभी धर्म ही नहीं सकता। मूकपशु चाहे मुखसे अपना दुख व्यक्त न कर सकें पर उनकी चेष्टाओं-द्वारा यह भली भाँति ज्ञान होता है कि मारने पर उन्हें भी हमारी भान्ति कष्ट अवश्य होता है। इस निर्मल उपदेशका जनसाधारणपर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और ब्राह्मणोंके लाख विरोध करनेपर भी यज्ञयागादिकी हिंसा बन्द हो ही गई। इस सिद्धान्तसे अनन्त जीवोंका रक्षण हुआ और असंख्य व्यक्तियोंका पापसे बचाव हुआ।

अहिंसाकी व्याख्या वीर शासनमें जिस विशद रूपसे पाई जाती है, किसी भी दर्शनमें वैसी उपलब्ध नहीं है। विश्वशान्तिके लिये इसकी कितनी आवश्यकता है यह भगवान् महावीरने भली भाँति सिद्ध कर दिखाया। कठोरसे कठोर हृदय भी कोमल होगये और विश्वप्रेमकी अखण्डधारा चारों ओर प्रवाहित हो चली।

वीरशासनमें वर्णाश्रमवादको अनुपयुक्त घोषित किया गया। मनुष्यके जीवनका कोई भरोसा नहीं। हज़ारों प्राणी बाल्यकाल एवं यौवनावस्थामें मरणको प्राप्त हो जाते हैं, अतः आश्रमानुसार धर्म पालन उचित नहीं कहा जा सकता। सब व्यक्तियोंका विकास भी एक समान नहीं होता। किसी आत्माको अपने पूर्व संस्कारों एवं साधनाके द्वारा बाल्यकालमें ही सहज-वैराग्य हो जाता है—धर्मकी ओर उसका विशेष झुकाव होता है; तब किसी जीवको वृद्ध होनेपर भी वैराग्य नहीं होता। इस परिस्थितिमें वैराग्यवान् बालकको गृहस्थाश्रम पालनके लिये मजबूर करना अहितकर है और वैराग्यहीन वृद्धका संन्यासग्रहण भी असार है। अतः आश्रमव्यवस्थाके बदले धर्मपालन योग्यता पर निर्भर करना चाहिये। हाँ, योग्यताकी परीक्षामें असा-वधानी करना उचित नहीं है।

इसी प्रकार ईश्वरवादके बदले वीरशासनमें कर्म-वाद पर जोर दिया गया है। जीव स्वयं कर्मका कर्ता है और वस्तुस्वभावानुसार स्वयं ही उसका फल भोगता है। ईश्वर शुद्ध बुद्ध है, उसे सांसारिक भ्रमोंसे कोई मतलब नहीं। वह किसीको तारनेमें भी समर्थ नहीं। यदि लम्बी लम्बी प्रार्थनासे ही मुक्ति मिल जाती तो संसारमें आज अनन्त जीव शायद ही मिलते। जीव अपने भले बुरे कर्म करनेमें स्वयं स्वतन्त्र है। पौरुषके बिना मुक्ति लाभ सम्भव नहीं। अतः प्रत्येक प्राणीको

अपना निजस्वरूप पहिचान कर अपने पैरों पर खड़े होने-का अर्थात् स्वावलम्बी बनकर आत्मोद्धार करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये। ईश्वर न तो सृष्टि रचयिता है और न कर्मफल-दाता।

शुष्क क्रियाकाण्डों और बाह्य शुद्धिके स्थान पर वीर शासनमें अन्तरशुद्धिपर विशेष लक्ष्य दिया गया है। अन्तरशुद्धि साध्य है बाह्यशुद्धि साधनमात्र। अतः साध्यके लक्ष्य-विहीन क्रिया फलवती नहीं होती। केवल जटा बढ़ा लेने, राख लगा लेने, नित्य स्नान कर लेने व पंचाग्नि तपने आदिसे सिद्धि नहीं मिल सकती। अतः क्रियाके साथ भावोंका होना नितान्त आवश्यक है।

वीर प्रभुने अपना उपदेश जनसाधारणकी भाषामें ही दिया; क्योंकि धर्म केवल पण्डितोंकी संपत्ति नहीं, उसपर प्राणिमात्रका समान अधिकार है। यह भी वीर-शासनकी एक विशेषता है। उनका लक्ष्य एकमात्र विश्वकल्याणका था।

सूत्रकृतांग सूत्रसे स्पष्ट है कि भगवान् महावीरके

समयमें भी वर्तमानकी भान्ति अनेकों मत-मतान्तर प्रचलित थे। इस कारण जनता बड़े भ्रममें पड़ी थी कि किसका कहना सत्य एवं मानने योग्य है और किसका असत्य? मत प्रवर्तकोंमें सर्वदा मुठभेड़ हुआ करती थी। एक दूसरेके प्रतिद्वन्दी रहकर शास्त्रार्थ चला करते थे। आपसी मात्सर्यसे अपने अपने सिद्धान्तों पर प्रायः सब अड़े हुए थे। सत्यकी जिज्ञासा मन्द पड़ गई थी। तब भगवान् महावीरने उन सबका समन्वय कर वास्तविक सत्यप्राप्तिके लिये 'अनेकान्त' को अपने शासनमें विशिष्ट स्थान दिया, जिसके द्वारा सब मतोंके विचारोंको समभावसे तोला जा सके, पचाया जा सके एवं सत्यको प्राप्त किया जा सके। इस सिद्धान्त द्वारा लोगोंका बड़ा कल्याण हुआ। विचार उदार एवं विशाल हो गये, सत्यकी जिज्ञासा पुनः प्रतिष्ठित हुई, सब वितण्डावाद एवं कलह उपशान्त हो गये। और इस तरह वीरशासनका सर्वत्र जय-जयकार होने लगा ॥

॥ यह लेख वीरसेवामन्दिर, सरसावामें वीरशासन-जयन्तीके अवसर पर पढ़ा गया था।

## सफल जन्म

(१)

मत भिन्नको, मत दहलाओ, यदि बनना महामना है !  
जो नहीं किया वह 'पर' है, कर लिया वही 'अपना' है !!  
दो-दिन का जीवन-मेला, फिर खँडहर-सी नीरवता—  
यश-अपयश बस, दो ही हैं, बाकी सारा सपना है !!

(२)

दो पुण्य-पाप रेखाएँ, दोनों ही जगकी दासी !  
है एक मृत्यु-सी घातक, दूसरी सुहृद् माता-सी !!  
जो ग्रहण पुण्य को करता, मणिमाला उसके पड़ती—  
अपनाता जो पापोंको, उसकी गर्दनमें फाँसी !!

(३)

इस शब्द-कोषमें केवल,—है 'आज' न मिलता 'कल' है !  
'कल' पर जो रहता है वह, निरुपाय और निर्बल है !!  
वह पराक्रमी-मानव है, जो 'कल' को 'आज' बनाकर—  
क्षण-भंगुर विश्व-सदनमें, करता निज जन्म सफल है !!

'भगवत्' जैन

# वीर-शासनमें स्त्रियोंका स्थान

[ ले०—श्रीमती सौ० इन्दुकुमारी जैन 'हिन्दीरत्न' ]



**आ**जसे करीब ढाई हजार वर्ष पहले जब कि इस देशका वातावरण दूषित हो गया था, कोरे क्रियाकाण्डोंमें ही धर्म माना जाता था, वैदिक मिशनके पोषणने स्त्रियों और शूद्रोंके धार्मिक अधिकार हड़प लिये थे, वेदमन्त्र पढ़ने या सुनने पर उन्हें कठोर प्राणदण्ड तक दिया जाता था—वेदमन्त्रका उच्चारण भी स्त्रियाँ नहीं कर सकती थीं; तब स्त्रीसमाजकी मानसिक दुर्बलताको देखकर धर्मके ठेकेदारोंने जो जो जुल्म किये उन सबको लेखनीसे लिखना कठिन ही नहीं किन्तु असंभव है। उन्हें केवल बच्चे जननेकी मशीन अथवा भोगकी एक चीज़ ही समझ लिया गया था, जिससे स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय स्त्रीसमाजका भारी अधःपतन हो चुका था। स्त्रीसमाज उस समय अपने जीवनकी सिसकियाँ ले रहा था, उसमें न बल था न साहस और न अध्यवसाय, मानो स्त्रीसमाज पतनकी पराकाष्ठाको पहुँच गया था।

ऐसी परिस्थितिमें भगवान महावीरने जन्म लेकर संसारमें धर्मके नाम पर होनेवाले अधर्मको, जाति तथा वर्णभेदकी अंधपरम्पराको और मिथ्या रूढ़ियोंके साम्राज्यको छिन्न भिन्न किया, उनके प्रवर्तकोंको समझाया और जनसमूहके अंधविश्वासको हटाकर उनमें बल तथा साहसका संचार किया। साथ ही, शूद्रों, स्त्रियों और पशुओं पर होनेवाले विवेकहीन अत्याचारों—जुल्मोंको दूर किया और स्त्रियोंको अपने चतुर्विध संघमें खास स्थान देकर उनके धर्मसेवनकी सब रुकावटोंको

दूर किया। फलतः आपके धर्मसंघमें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंकी संख्या बहुत अधिक रही।

एक बात यहां पर और भी नोट कर लेनेकी है, और वह यह कि भारतमें तात्कालिक विषम परिस्थितियोंको सुधारनेके लिये उस समय एक दूसरा सम्प्रदाय भी उठ खड़ा हुआ था, जिसके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध थे और जो अपने स्वतंत्र विचारोंके द्वारा उन प्रचलित व्यर्थके अधर्मरूप क्रियाकाण्डोंका विरोध करते थे, वर्णव्यवस्था एवं जातिभेद तथा याज्ञिक हिंसाके विरुद्ध अहिंसाका उपदेश देते थे। इतना सब कुछ होते हुए भी उन्हें स्त्रियोंको अपने संघमें लेनेमें संकोच एवं भय अवश्य था, वे तद्विषयक विरोधसे घबराते थे, इसीलिये देशकी उक्त परिस्थितिका मुकाबला करनेके लिये वे तय्यार नहीं हुए। किन्तु कुछ समय बाद वीरशासनमें स्त्रियोंका प्राबल्य देखकर उसके परिणामस्वरूप तथा अपने प्रधान शिष्य आनन्द कौत्स्यायनके विशेष आग्रह करने पर महात्मा बुद्धने अपने संघमें स्त्रियोंको लेना स्वीकार किया था।

इन्हीं सब विशेषताओंके कारण भगवान वीरका शासन चमक उठा था, उसमें जातिभेद और वर्णभेदकी गन्ध तक भी नहीं थी और न ऊँच-नीच आदिकी विषमता। उनकी समवसरण सभामें सभीको समान दृष्टिसे देखा जाता था और इसीसे सभी स्त्री-पुरुष तथा पशु पक्षी तक अपनी अपनी योग्यताके अनुसार वीरके शासनमें रहकर अपना अपना आत्म-विकास कर सकते थे।

भगवान् महावीरने अपनी इस उदारता, निर्भीकता एवं हृदयकी विशालताके कारण ही उस समयकी विकट परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की थी।

इसके सिवाय, भगवान् महावीरने अहिंसा और अनेकान्तको अपने जीवनमें उतारा था, उनकी आत्मा शुद्धि तथा शक्तिकी पराकाष्ठाको—चरम सीमाको—पहुँच चुकी थी और उनका शासन दया, दम, त्याग तथा समाधिकी तत्परताको लिये हुए था। इसी लिये विरोधी आत्माओं तथा तत्कालीन जनसमूह पर उनका इतना अधिक एवं गहरा प्रभाव पड़ा था कि वे लोग अधिक संख्या में अपने उन अधर्ममय शुष्क क्रियाकाण्डोंको छोड़कर तथा कदाग्रह और विचारसंकीर्णताकी जंजीरोंको तोड़कर बिना किसी हिचकिचाकटके वीर भगवानकी शरणमें आये, और उनके द्वारा प्ररूपित जैन धर्मके तत्त्वोंका अभ्यास मनन एवं नदनुकूल वर्तन करके अपनी आत्माके विकास करने में तत्पर हुए।

वीरशासनमें स्त्री और पुरुषोंको धार्मिक अधिकार समानरूपसे प्राप्त हैं। जिस तरह पुरुष अपनी योग्यतानुसार श्रावक और मुनिधर्मको धारण कर आत्मकल्याण कर सकते हैं उसी तरहसे स्त्रियाँ भी अपनी योग्यतानुसार श्राविका और आर्थिकाके व्रतोंका पालनकर आत्मकल्याण कर सकती हैं। भगवान् महावीरके संघमें एक लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ तथा चौदह हजार मुनि और छत्तीस हजार आर्थिकाएँ थीं। आर्थिकाओंमें मुख्य पदकी अधिष्ठात्री चन्दना सती थी। वीरशासनमें गृहस्थोचित कर्तव्योंका यथेष्ट रूपसे पालन करते हुए स्त्रियोंको धर्मसेवनमें कोई रुकावट नहीं है, जबकि संसारके अधिकांश धर्मोंमें स्त्रियोंको स्वतंत्ररूपसे धर्मसेवन करनेका थोड़ासा भी अधिकार प्राप्त नहीं है, और जिससे उनके प्रति उन धर्मसंस्थापकोंका महान्

अन्याय प्रतीत होता है। जैनधर्ममें तो पहलेसे ही स्त्रियोंने आर्थिका आदिकी दोचा लेकर आचारांगकी पद्धतिके अनुसार यथाशक्ति तपश्चरणादि कर देवेन्द्रादि पद प्राप्त किये हैं।

सच पूछिये तो धर्म किसी एक जाति या सम्प्रदायकी मीरास नहीं है, वह तो वस्तुका स्वभाव है उसे धारण करने और उसके द्वारा आत्माका विकास करनेका सभी जीवोंको अधिकार है—भले ही कोई जीव अपनी अल्पयोग्यताके कारण पूरा आत्मविकास न कर सके। परन्तु इससे उसके अधिकारोंको नहीं छीना जा सकता। जो धर्म पतितोंका उद्धार नहीं कर सकता—उन्हें ऊँचा नहीं उठा सकता—वह धर्म कहलानेके योग्य ही नहीं। जैनधर्ममें धर्मकी जो परिभाषा आचार्य समन्तभद्रने बतलाई है वह बड़ी ही सुन्दर है। उसके अनुसार जो संसारके प्राणियोंको दुःखोंसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धारण करे उसे 'धर्म' कहते हैं, अथवा जीवकी सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्यरूप परिणतिविशेष को 'धर्म' कहते हैं। इस परिणतिके द्वारा ही जीवात्मा आत्म उद्धार करनेमें सफल हो सकता है।

परन्तु खेद है कि आज हम भगवान् महावीरके पवित्र शासनको भूल गये। इसी कारण उनके महत्वपूर्ण सन्देशसे आज अधिकांश जनता अपरिचित ही दिखाई देती है। हमारे हृदय अन्धश्रद्धा और स्वार्थमय प्रवृत्तियोंसे भरे हुए हैं, ईर्ष्या द्वेष-अहंकार आदि दुर्गुणों से दूषित हैं। स्त्रियोंके साथ आज भी प्रायः वैसा ही व्यवहार किया जाता है जैसा कि अबसे ढाई हजार वर्ष पहले किया जाता था। हाँ, उसमें कुछ सुधार जरूर हुआ है; परन्तु अभी भारतीय स्त्री समाजको यथेष्ट स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हुई है। फिर भी धर्मसेवनकी जो कुछ स्वतन्त्रता मिली है उसमें यदि स्त्रीसमाज चाहे तो वह

अपनी बहुत-कुछ प्रगति करनेमें सफल हो सकता है, किन्तु वर्तमानकी अधिकांश स्त्रियाँ अपने कर्तव्यसे अपरिचित ही हैं—उसे भूली हुई हैं—भारत और विदेशोंमें होने वाली विविध परिस्थितियोंसे अनभिज्ञ हैं, उन्हें तो घरके कार्योंसे ही फुरसत नहीं मिलती, फिर अपने उत्थान और पतनको कौन सोचे? वे समाजमें फैली हुई मिथ्याश्रद्धियों, अन्धश्रद्धा, दम्भ, द्वेष और कलह आदि दोषोंको दूर करना अपना कर्तव्य कैसे समझ सकती हैं? और पतनके गर्तसे अपनेको कैसे बचा सकती हैं?

अतः सुन्न बहिनो! उठो, और अपने कर्तव्यकी ओर दृष्टिपात करो। भगवान् महावीरके उपकारोंका स्मरणकर उनके पवित्र सन्देशको दुनियाके कौने कौनेमें पहुँचानेका प्रयत्न करो और जगतको दिखाला दो कि हममें जीवन है, उत्साह है, कर्तव्यपालनकी भावना है और अपनी कौमके पतनका दर्द है। हम अबला नहीं हैं, सबला हैं और सब कुछ कर सकती हैं। साथ ही, अपनी सन्तानको शिक्षित, सुशिक्ष और कर्तव्यपरायण

बनानेका भरसक प्रयत्न करो, अपने स्त्रीसमाजमें फैली हुई कुरीतियोंको दूर करनेमें अग्रसर बनो और अपनी सभी बहनोंको शिक्षिता, सभ्या तथा अपने धर्म-देशकी रक्षार्थ प्राणोंकी बलि देने वाली वीर नारियाँ बनानेका पूरा पूरा उद्योग करो। ऐसा करके ही हम वीर भगवान् और उनके शासनकी सच्ची उपासिका कहला सकेंगी और वीरशासनके प्रचार-द्वारा अपना तथा जगत्का उद्धार करनेमें समर्थ हो सकेंगी।

अन्तमें एक पद्यको पढ़कर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करती हूँ। आशा है अपने हितमें सावधान कृतज्ञ बहनें वीरशासनके अपनाने और प्रचार देनेको अपना मुख्य कर्तव्य समझेंगी।

हम जाग उठीं, सब समझ गई,  
अब करके कुछ दिखला देंगी।

हाँ, विश्वगगनमें एक बार फिर,  
जिन-शासन चमका देंगी ॥

ॐ यह लेख लेखिकाने स्वयं वीरसेवामन्दिरमें ता० २ जुलाईकी होनेवाले वीरशासन-जयन्तीके जलसे पर पढ़कर सुनाया था।

—सम्पादक

## नर-कंकाल

(१)  
माँके फटे हुए अंचलसे मुँह ढक कर जो सोया है !  
आँसू-हीन, दरिद्र-नयनोंसे, जो जीवन भर रोया है !!  
साधन-शून्य, दुलार-दृष्टिको, अभिभावक अपना माना !  
सूखी-छाती चूस-चूस सुख माँका जिसने पहिचाना !!

(२)  
घने-अभावों और व्यथाओं में पलकर जो बड़ा हुआ !  
प्रकृति-जननिकी कृपा-कोरसे अपने पैरों खड़ा हुआ !!  
सित-भविष्यके मधु-सपनोंमें भूला जो दुखकी गुरुता !  
रुचिर कल्पनाओंकी मनमें जोड़ा करता जो कविता !!

(३)  
इन्द्र-धनुष जिसकी अभिलाषा, वर्तमान जिसका रौरव !  
युग-सी घड़ियाँ बिता-बिता जोखोजरहा अपना वैभव !  
तिरस्कार भोजन, प्रहार उपहार, भूमि जिसकी शैय्या !  
धनाधियोंके दया-सलिलमें खेता जो जीवन-नैय्या !!

(४)  
नहीं विश्वमें जिसका अपना, पद-तल भू-ऊपर आकाश !  
दुखकी घटनाओंसे परित, है जिसका जीवन-इतिहास !!  
कौन?—कौन?—‘मजदूर’ कहाने वाला वह भारतका लाल !  
छाया-चित्र कहो उसको, या पुरुष, कहो या नर-कंकाल !!

# वीर-शासनकी पुण्य-वेला

[ ले०—पं० सुमेरचन्द जैन, दिवाकर, बी. ए., एलएल. बी., न्यायतीर्थ शास्त्री ]

**मौ**जूदा जमाना भगवान् महावीरका तीर्थकहलाता है, क्योंकि अभी वीरप्रभुका ही शासन वर्तमान है। उन भगवान् महावीरके प्रति अनुरक्ति के कारण भव्य तथा भक्तजन उनके जन्म-दिवस, वैराग्य-काल आदिके अवसर पर हर्ष-प्रकाशन एवं भक्ति-प्रदर्शन किया करते हैं। तात्त्विक रूपसे देखा जाय तो जब कैवल्य-प्राप्तिके पूर्व वे वास्तवमें महावीर पदको प्राप्त नहीं हो सके थे तब उनके गर्भ, जन्म, वैराग्य-कल्याणकोंकी पूजा करना कहाँ तक अधिक युक्तिसंगत है, यह स्वयं सोचा जा सकता है \*। यह सच है कि भगवान् महावीरके बाल्यकाल आदिमें इतरजनोंकी अपेक्षा लोकोत्तरता थी, फिर भी वह उनके विश्ववन्दनीय बननेका समर्थ कारण नहीं कही जा सकती। उन चमत्कारजनक अतिशयोंकी ओर स्वामी समन्तभद्र-जैसे तार्किक चूड़ामणिका चित्त आकर्षित नहीं हुआ। इसी कारण वे अपने देवागमस्तोत्रमें अपने हार्दिक उद्गारोंको इस प्रकार प्रकट कर चुके हैं कि:—

‡ देवागमनभोयान-चामरादि-विभूतयः ।

मायाविष्वपि दृश्यन्ते नागस्वमसिनो महान् ॥

\* हमारा भाव यह नहीं है कि अन्य कल्याणकोंकी पूजा न की जाय। यहाँ हमारे विवेचनका लक्ष्य इतना ही है कि वास्तविक पूज्यताका जैसा कारण कैवल्यके समय उत्पन्न होता है, वैसा तथा उतना महत्वपूर्ण और युक्ति संगत निमित्त अन्य समयोंमें नहीं होता। नैगमनयकी दृष्टिसे अन्य कल्याणकोंमें पूज्यता आती है।

‡ भगवन् ! देवोंका आना, आकाशमें गमन होना, चमर छत्रादिकी विभूतियोंका पाया जाना तो इन्द्रजालियोंमें भी पाया जाता है, इसलिए इन कारणों से आप हमारे लिए महान् नहीं हैं।

जो भी विचारशील व्यक्ति अपने अंतःकरणमें विचार करेगा, उसके चित्तमें स्वामी समन्तभद्रका युक्तिवाद स्थान बना लेगा, और वह भी कह उठेगा, भगवन् ! 'नातस्त्वमसि नो महान्'—इस कारण ही आप हमारे लिए महान् (Great) नहीं हैं।

और भी अनेक बातें हैं, जो भगवान् महावीर के अतिरिक्त व्यक्तियोंमें हीनाधिक मात्रामें पाई जाती हैं। किन्तु एक विशेषता है जो भगवान् महावीरमें ही पाई जाती है, और जिसके कारण उनके अन्य गुण पुञ्ज अधिक दीप्तिमान हो उठते हैं। उनके विवेकचतुर्भुज श्रीसमन्तभद्र कहते हैं—

† स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।

अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

त्रिलकुल ठीक बात है। भगवान् महावीरके तत्त्व-प्रतिपादनमें तर्कशास्त्रसे असंगति नहीं पाई जाती, क्योंकि उनके द्वारा प्ररूपित तत्त्व प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अखंडित है।

अब हमें देखना है कि प्रभुमें 'युक्तिशास्त्रा-विरोधिवाक्पना' कब प्रकट हुआ, जिससे वे लोकोत्तर एवं भुवनत्रय-प्रपूजित हो गए।

उन्होंने मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अंतराय आदि कर्मोंका नाश कर बैशाख शुक्ला

\* यहां भगवान् महावीरका नामोल्लेख प्रकरण-वश किया गया है। यही बात अन्य जैन तीर्थंकरोंमें भी पाई जाती है।

† हे भगवन् ! वह निर्दोष तो आप ही हैं, क्योंकि आपकी वाणी युक्ति तथा शास्त्रके अविरोध है। इस अविरोधताका कारण यह है कि जो बात आपको अभिमत है वह प्रत्यक्षादिसे बाधित नहीं होती।

दशमीको कैवल्यकी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी, जिससे ज्ञेयमात्र उनके विमल ज्ञानमें विशदरूपसे अवभासमान होने लगे थे । क्या उस समय भगवान् महावीरमें स्वामीसमंतभद्रका हेतु 'युक्ति और शास्त्र के अविरुद्ध वाणी संपन्न होनेसे' प्रकटरूपसे प्रकाश में आया था ? इस विषयमें मौन ही उत्तर होगा, क्योंकि शक्ति होते हुए भी उस समय तक भगवान् की उक्त विशेषता निखिल विश्वके अनुभवगोचर नहीं हो पाई थी; कारण सर्वज्ञ होते हुए भी समुचित साधनके अभाववश उनकी दिव्यध्वनि प्रकट नहीं हुई, जिससे लोग लाभ उठाते और कृतज्ञतासूचक गुणकीर्तन करते । स्वयं मोक्षमार्गके नेता, कर्माचलके भेत्ता तथा विश्वतत्त्वके ज्ञाताके मुखारविन्दसे मुक्तिका मार्ग सुननेके भव्यात्माएँ तथा योगीजन उत्कंठित हो रहे थे, किन्तु भगवान् की दिव्यवाणीको सुननेका सौभाग्य ही नहीं मिल रहा था । ऐसी चिंतापूर्ण तथा चकित करने वाली सामग्रीके होने पर देवोंके अधिनायक सुरेन्द्रने अपने दिव्यज्ञानसे जाना कि, भगवान् सहश महान् धर्मोपदेशके लिये महान् श्रोता एवं उनके कथनका अनुवाद करनेवाले गणधरदेवका अभाव है । साथ ही यह भी जाना कि इस विषयकी पात्रता इंद्रभूति गौतम नामक अजैन विद्वानमें है । अतएव अपनी कार्यकुशलतासे देवेन्द्रने इंद्रभूतिको भगवान् महावीरकी धर्मसभा—समवसरण—की ओर लाकर उपस्थित किया । इतनेमें मानस्तंभका दर्शन होते ही इंद्रभूतिके विचारोंमें मार्दवभाव उत्पन्न हो गए, सारी अकड़ जाती रही और वह क्षणभरमें महावीर प्रभुकी महत्तासे प्रभावित बन गया । प्रभुके वैराग्य, आत्मतेज और योगबलने

गौतमके जीवनमें युगान्तरकारी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया । वे संपूर्ण परिग्रहोंका परित्याग करके प्राकृतिक परिधानके धारक जैन श्रमण बन गए और उन्होंने महावीर प्रभुकी ही मुद्रा धारण की । अपनी आत्मशक्तिके सहसा विकसित हो जानेसे श्रीगौतमने अनेक प्रकारके महान् ज्ञानोंको प्राप्त किया तथा वे 'गणधर' जैसे महान् पद पर प्रतिष्ठित हो गए । इधर इतना हुआ ही था कि, उधर भगवान् महावीरकी सर्वभाषात्मिका दिव्यवाणी सब प्राणियोंके कर्णगोचर होने लगी । अनेकान्तके सूर्यका प्रकाश फैलनेसे एकान्तका निविड अन्धकार दूर होगया, जगतको अपने सच्चे सुधारका मार्ग दीखने लगा और यह मालूम होने लगा कि वास्तवमें कर्मबंधनसे छूटनेका उपाय आत्मशक्तिका निश्चय, उसका परिज्ञान तथा आत्मामें अखंड लीनता है । उस धर्मदेशना अर्थात् शासन-तीर्थके प्रकट होनेका प्रथम पुण्य दिवस श्रावणकृष्ण प्रतिपदाका सुप्रभात था, जब संसारका भगवान् महावीरकी वास्तविक एवं लोकोत्तर महत्ताका परिज्ञान हुआ । मिथ्यात्वके अंधकारके कारण अनन्त योनियोंमें दुःख भोगने वाले प्राणियोंको सच्चे कल्याणमार्गमें लगानेकी बलवती भावना भगवान् महावीरने एक बार शुद्ध अंतःकरणसे की थी, उस भावनाके कारण उन्होंने 'तीर्थंकर प्रकृति' नामक पुण्य कर्मका संचय किया था; उक्त तिथिको उस पुण्य प्रकृतिके विपाकका सबको अनुभव हुआ । लोगोंको ज्ञात हुआ कि वास्तवमें सर्वज्ञ महावीरकी वाणी अखण्डनीय एवं अनुलनीय है, जो भी वादी उनके समीप आता था वह 'समंतभद्र' बन जाता था; देखिए स्वामी समंतभद्र कितनी सुन्दर बात कहते हैं—

\* त्वयि ध्रुवं खंडितमानशृंगो भक्त्यभद्रोपि समंतभद्रः ।

वास्तवमें इंद्रभूति गौतमका परिवर्तन इस बातका सजीव उदाहरण है ।

यह तिथि महावीर प्रभुके तीर्थवासियोंके लिए एक अपूर्व समय है, जो इस बातका स्मरण कराती है कि लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान महावीरने हमको मुक्तिका मार्ग बताया था । इससे अन्य तिथियोंकी अपेक्षा वह हमारे लिए विशेष आदर तथा पूजाके योग्य है । गुणोत्कर्षकी दृष्टिसे अन्य काल भी अपनी अपनी अपेक्षासे महत्वपूर्ण हैं, किन्तु हमारे लिए प्रभुके प्रति आंतरिक कृतज्ञता प्रकाशके लिए अधिक उपयुक्त उपयुक्त वेला है ।

जिस प्रकार संपूर्ण कर्मोंका ध्वंस करनेके कारण सिद्ध परमात्मामें अधिक पूज्यता है, किन्तु अरहंत देवके कारण हमारी हित-साधना विशेषता पूर्वक हुई है, इससे णमोकार मंत्रमें 'णमो सिद्धाणं' के पूर्वमें 'णमो अरहंताणं' का पाठ पढ़ा जाता है: इसी प्रकार हमारे कल्याणको लक्ष्यमें रखकर प्रभुके प्रति कृतज्ञता प्रकाशनका सबसे बढ़िया अवसर उक्त वेला है । क्योंकि उसी दिन तीर्थंकर प्रकृतिरूप मनोज्ञ वृक्षके सुमधुर फल चखनेको प्राप्त हुए थे तथा तीर्थंकरत्वका पूर्णरूपसे विकास हुआ था ।

इस प्रसंगमें यह शंका होना साहजिक है कि वह ऐसी कृति या विशेषता कौन थी, जिसके कारण उस दिनको महत्व प्रदान किया जाय ? इस विषयमें युक्त्यानुशासनका यह पद्य बड़ा मार्मिक एवं मनोहर है, जिसमें वीरशासनकी विशेषता इन शब्दोंमें बताई गई है—

\* प्रभो ! आपके समीप आनेवाले व्यक्तिके मानके सींग खंडित हो जाते हैं और अभद्र—दुष्ट-व्यक्ति भी समंतभद्र—सर्वांग समीचीन-बन जाता है ।

दया-दम-त्याग-समाधि-निष्ठं

नय प्रमाण-प्रकृतांजसार्थं ।

अधृष्यमन्येरखिलैः प्रवादौ ।

जिन त्वदीयं मतमद्वितीयं ॥

हे जिनेन्द्र ! दया, इंद्रिय-दमन, त्याग तथा समाधि-समन्वित, नय तथा प्रमाणसे पदार्थोंका समीचीन रूपसे प्रकाशन करने वाला और संपूर्ण प्रवादियोंके द्वारा अखंडनीय आपका मत अप्रतिम—लासानो ( unparalleled ) है ।

भगवानकी वाणीमें 'सत्यं शिवं सुन्दरं' का लोकोत्तर समन्वय पाया जाता है ।

यह दिन हमें अपने स्वरूपके चिंतन करनेका अवसर प्रदान करता है और यह स्मरण कराता है कि यदि हमने बाह्य महावीरके गुणोंका विचार कर अपने भीतर निहित महावीरका चिंतन किया और उसे प्रकाशमें लानेका सच्चा प्रयत्न किया, तो निकट भविष्यमें हम भी महावीरकी महत्ताके अधीश्वर बन सकते हैं । महावीरके गुणोंकी मञ्चा आराधना आराधकको महावीर बनाए बिना न रहेंगी । इसके लिए रत्नत्रय की प्राप्तिका प्रशस्त प्रयत्न करना होगा, क्योंकि बिना सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्रिके यह आत्मा अपने आत्मत्वकी प्राप्ति नहीं कर सकता है ।

प्रभुकी धर्मदेशनाके दिवसमें यह भी उचित है कि हम इस प्रकारका उद्योग तथा उदारताका प्रदर्शन करें, जिससे महावीरका महत्वपूर्ण शिक्षण संसारके कोने कोनेमें पहुँचे, और सारा जगत वीतरागकी जीवन भरी शिक्षाओंसे आलोकित हो उठे—महावीर-वादसे भूमंडल गूँज उठे ।

वीरभक्तो ! उठो, महावीर प्रभुके प्रदर्शित पथ पर चलो और संसारमें उनकी महत्ताका प्रकाश फैलाओ ।



# मनुष्योंमें उच्चता-नीचता क्यों ?

[ ले०—पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य ]

( गत १२ वीं किरण से आगे )

किस गतिमें कौन गोत्रका उदय रहता है

उपरके कथनमें यह बात निश्चित कर दी गई है कि पहिले गुणस्थानसे लेकर पाँचवें गुणस्थान तक नीच और उच्च दोनों गोत्रोंका और छठे से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक केवल उच्चगोत्रका उदय रहता है तथा सिद्ध जीव गोत्रकर्म के सम्बन्ध से रहित हैं । अब यहाँ पर यह बतलानेकी कोशिश की जायगी कि किस गतिमें कौनसे गोत्रकर्मका उदय रहता है ।

शास्त्रोंमें नारकी जीवोंके जीवनका चित्रण बहुत ही दीन और क्रूरतापूर्ण किया गया है । वे अपनी भूख मिटानेके लिये इधर उधर बड़ी आशाभरी दृष्टिसे दौड़ते हैं, यहां तक कि एक दूसरेको खानेके लिये भी तैयार हो जाते हैं । यद्यपि तीव्रअसात कर्मके उदयसे उनके लिये भूख-प्यास मिटाने के साधन नहीं मिलते हैं फिर भी उनका यह प्रयास बराबर चालू रहता है । शास्त्रों में लिखा है कि नारकी जीवोंके सामने तीन लोककी खाद्य और पेय सामग्री रख दी जावे तो भी उससे उनकी भूख और प्यास नहीं मिट सकती है, इनने पर भी उन्हें एक कण भी खाद्य सामग्री का और एक बूंद भी पानीकी नहीं मिलती है । ऐसी अधमवृत्ति सातों नरकोंके नारकियोंकी बतलायी गयी है, इसलिये इस वृत्तिकारणभूत नीच गोत्रकर्मका उदय उनके माना गया है ।

तिर्यचों की वृत्ति भी दीनता और क्रूरतापूर्ण देखी जाती है । जंगली जानवरोंकी वृत्ति विशेषतया क्रूर

होती है और ग्राम्य पशुओंकी वृत्ति विशेषतया दीन होती है, इसलिये इन दोनों प्रकारकी वृत्तिमें कारण-भूत नीच गोत्रकर्मका उदय तिर्यचोंके भी माना गया है । भोग-भूमिके तिर्यच यद्यपि क्रूरवृत्ति वाले नहीं होते हैं, कारण कि वे किसी भी जीवको अपना पेट भरनेके लिये सताते नहीं हैं, सबको बिना प्रयास ही भरपेट खानेको मिलता है, इसलिये वे अपना जीवन स्वतंत्र और आनन्दपूर्वक व्यतीत करते हैं, परन्तु उनके लिये भी खानेको कर्मभूमि-जैसी घास आदि दीनता-सूचक पतित सामग्री ही मिला करती है । जिस प्रकार कल्प-वृक्षोंसे भोगभूमिके मनुष्योंको इच्छानुसार उत्तम उत्तम भोजन मिला करता है उस प्रकार वहाँके पशुओंको नहीं मिलता, पशु बुद्धिकी मंदता व विलक्षण शरीररचनाके कारण इस प्रकारके प्रयास करने तकमें असमर्थ रहते हैं, इसलिये उनकी वृत्ति दीन वृत्ति ही कही जा सकती है और यही कारण है कि भोगभूमिके तिर्यचोंके भी नीचगोत्रकर्मका उदय बतलाया गया है ।

देवगतिमें देवोंके उच्चगोत्रकर्मका उदय बतलाया है और यह ठीक भी है, कारण कि एक तो देवोंको कई वर्षोंके अन्तरसे भूख लगा करती है और इतने पर भी मानसिक विकल्पमात्रसे ही उनकी भूख शान्त हो जाया करती है, इसलिये देवोंकी वृत्ति लोकमें सर्वोत्तम मानी जाती है, और यही कारण है कि सम्पूर्ण देवों को उच्चगोत्री बतलाया गया है । यद्यपि भवनवासी देवों में असुरकुमार व व्यन्तरोमें भूत, पिशाच, राक्षस आदि जैसे क्रूरकर्मवाले देव भी पाये जाते हैं, कल्पवासी

देवों तकमें किलिष जातिके देव ऐसे पाये जाते हैं जिनका वर्णन मनुष्यजातिके अस्पृश्य शूद्रोंके समान किया गया है; फिर भी इन सबको उच्चगोत्री इसलिये माना गया है कि इन सभी देवोंके इन कार्योंका उनकी वृत्तिसे कोई सम्बन्ध नहीं है—वृत्तिकी उच्चता सब देवोंमें समानरूपसे पायी जाती है, इसलिये सभी देव उच्चगोत्री माने गये हैं।

मनुष्यजातिमें सम्मूर्च्छन मनुष्य तो पतित हैं ही, इसलिये उनके नीचगोत्रका अविवाद रूप है। अन्तर्दीपज मनुष्योंमें भोगभूमि-समप्रणधि मनुष्योंकी वृत्ति दीन है, कारण कि उनके खानेके लिये मिट्टी आदि अधम पदार्थ ही मिला करते हैं। कर्मभूमि-समप्रणधि मनुष्य म्लेच्छखंडोंकी तरह विशेषतया क्रूर वृत्ति वाले ही माने जा सकते हैं, इसलिये ये दोनों प्रकारके अन्तर्दीपज मनुष्य नीचगोत्री माने गये हैं। म्लेच्छखंडोंके मनुष्यों की वृत्ति विशेषतया क्रूर वृत्ति है, कारण कि उनकी अजीविकाके साधन क्रूर हैं, इसलिये ये भी नीचगोत्री ही कहे जाते हैं।

भोगभूमिके मनुष्यों की वृत्ति स्वाभिमानपूर्ण है। उन्हें बिना किसी परिश्रमके उनकी इच्छानुकूल अच्छे भोजन कल्पवृक्षोंसे मिला करते हैं, उनको अपने पेट भरनेके लिये दीनता अथवा क्रूरतापूर्ण कार्य नहीं करने पड़ते हैं, इसलिये वे उच्चगोत्री माने गये हैं। आर्यखंडके साधु भी उल्लिखित स्वाभिमानपूर्ण वृत्तिके कारण उच्च गोत्री माने गये हैं।

आर्यखंडके बाकी मनुष्योंकी वृत्ति भिन्न २ प्रकार की देखी जाती है। वृत्तिभेदके कारण ही आर्यखंडके मनुष्योंकी नाना जातियां कायम हो गई हैं। इस भारत-क्षेत्रके आर्यखंडमें कर्मभूमिकी रचनाके बाद ही मनुष्योंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये जातियां वृत्ति-भेदके

कारण कायम हुईं। धीरे धीरे इन्हींके और भी अवान्तर भेद वृत्तिभेदके कारण होते गये; जैसे सुनार, लुहार, बढ़ई, धोबी, चमार, भंगी आदि। वृत्तिभेदके कारण म्लेच्छ नामकी जाति भी इसी आर्यखंडके मनुष्यों की बन गयी है। यह बात नहीं है कि म्लेच्छखंडोंसे आये हुये म्लेच्छ ही यहां पर म्लेच्छ नाम से पुकारे जाते हैं, यहांके (आर्यखंडके) बाशिन्दे आर्य ही, जो कि भोगभूमिके समयमें बहुत ही सरल वृत्तिके थे, कालांतरमें क्रूर वृत्तिके धारक बन गये। वे ही 'म्लेच्छ' कहलाने लगे हैं। यह परिवर्तन आज भी देखनेमें आता है।

जैनियोंमें भी जिन लोगोंका यह खयाल है कि "जातियां अनादि हैं" (जातयोऽनादयः) इस वाक्यके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा इनके अवान्तर भेद सुनार, लुहार आदि सभी जातियां अनादि हैं, उन्हें यह बात नहीं भूलना चाहिये कि भोगभूमिके जमानेमें इस भरतक्षेत्रके आर्यखंडमें सभी मनुष्य समान थे, उनमें किसी भी प्रकारका जातिभेद न था और यह बात तो स्पष्ट है, कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों (वर्णों) में मनुष्य का विभाजन ऋषभदेव व उनके पुत्र भरत चक्रवर्तीने किया था। इसके बाद धीरे धीरे और भी भेद इनमें वृत्तिभेदके कारण कायम होते गये और आज तक कायम होते जा रहे हैं।

यद्यपि धर्म, सम्प्रदाय, देश, प्रान्त व्यक्तिविशेष आदिके आधार पर भी मनुष्योंमें बहुत सी जातियोंकी कल्पना की गयी है और की जा रही है परन्तु गोत्रकर्मके प्रकरणमें इन जातियोंकी विवक्षा नहीं है, इसलिये ऐसी जातियोंका समावेश यहां पर नहीं किया गया है।

इस कथनका तात्पर्य यह है कि मनुष्योंमें जितने

भेद वृत्ति अर्थात् अजीविकाके निमित्त पाये जाते हैं उतनी ही जातियां मनुष्योंकी आज कल्पित की जा सकती है; इतना अवश्य है कि ये सब वृत्तिभेद लोकमान्य और लोकनिष्ठ इस तरहसे दो भागोंमें बांटे जा सकते हैं, इसलिये यह भी निश्चित है कि जिन जातियोंकी या जिन मनुष्योंकी वृत्ति लोकमान्य है वे उच्चगोत्री और जिनकी वृत्ति लोकनिष्ठ है वे नीचगोत्री ही कहे जायेंगे या उनको ऐसा समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जब आर्यखंडके मनुष्योंकी वृत्तियां उच्च और नीच दो प्रकारकी पायी जाती हैं तो वे मनुष्य भी उच्च और नीच गोत्र वाले सिद्ध होते हैं।

### गोत्रपरिवर्तन और उसका निमित्त

ऊपर गोत्रकर्मके स्वरूप, कार्य व भेदोंके विषयमें अच्छी तरहसे प्रकाश डाला गया है और यह बात अच्छी तरहसे प्रमाणित कर दी गयी है कि मनुष्योंमें उच्च और नीच दोनों गोत्रोंका उदय पाया जाता है तथा वह लोक-व्यवहारके साथ साथ युक्ति अनुभव व आगमके भी अनुकूल है। अब सवाल यह रह जाता है कि गोत्रपरिवर्तन हो सकता है या नहीं? अर्थात् उच्चगोत्र वाला जीव कभी उच्चगोत्री व नीचगोत्र वाला कभी उच्चगोत्री हो सकता है या नहीं?

पहिले कह आये हैं कि जीवकी लोकमान्य वृत्ति उच्चगोत्रकर्मके उदयसे होती है और लोकनिष्ठवृत्ति नीचगोत्रकर्मके उदयसे होती है अर्थात् इन दोनों गोत्रकर्मोंका उदय अपने अपने कर्मस्वरूप वृत्तिका अंतरंग कारण है। ज्ञानी होनेके कारण वृत्तिका कर्ता व फलानुभवन करने वाला जीव है, यही कारण है कि गोत्रकर्मको जीवविपाकी प्रकृतियोंमें गिनारा गया है। जीवका जिस शरीरसे जब संयोग हो जाता है और जब तक वह संयोग विद्यमान रहता है तब और तब तक

वह शरीर वृत्तिका प्रयोजक कारण पड़ता है; क्योंकि जीव को किसी-न-किसी शरीरका संयोगरूप जीवन प्राप्त होने पर ही खाने पीने आदि आवश्यकताओं की पूर्तिके लिये वृत्तिकी आवश्यकता महसूस होती है, शरीर वृत्तिका सहायक निमित्त भी है अर्थात् शरीरके द्वारा ही जीव किसी न किसी प्रकारकी वृत्तिको अपनाने में समर्थ होता है

यही कारण है कि शरीरको गोत्रकर्मका नोकर्म बतलाया गया है। जिस कुलमें जीव पैदा होता है वह कुल जीवको वृत्ति अपनाने में अवलम्बनरूप निमित्त पड़ता है; क्योंकि उस कुलमें लोकमान्य या लोकनिष्ठ जिस वृत्तिके योग्य बाह्य साधनसामग्री मिल जाती है उसी वृत्तिको जीव अपने जीवनकी आवश्यकताओंकी पूर्तिके लिये अपनालेता है। यही कारण है कि राज-वार्तिक आदि ग्रन्थोंमें उच्चकुल और नीचकुलमें जीवका पैदा हो जाना मात्र ही क्रमसे उच्चगोत्र और नीचगोत्र-कर्मका कार्य बतला दिया गया है।

यहां पर कुलसे तात्पर्य उस स्थानविशेषसे है जहां पर पैदा होकर जीव अपनी वृत्ति निश्चित करनेके लिये बाह्य साधनसामग्री प्राप्त करता है। नोकर्म-वर्गणाके भेदरूप कुल तो केवल शरीर-रचनामें भेद करने वाले हैं, जीवकी वृत्ति पर इन कुलोंका कुछ भी असर नहीं होता है। मनुष्य-शरीरके निर्माण-योग्य जिस नोकर्मवर्गणासे एक ब्राह्मणका शरीर बन सकता है उसी नोकर्मवर्गणासे एक भंगीका भी शरीर बन सकता है, और इसका प्रयोजन सिर्फ इतना है कि उस ब्राह्मण और उस भंगीकी आकृतिमें समानता रहेगी। जिन लोगोंका यह खयाल है कि ब्राह्मणका शरीर शुद्ध नोकर्मवर्गणाओंका पिंड है और भंगीका शरीर अशुद्ध नोकर्मवर्गणाओंका पिंड है और ये शरीर

जीवनभर क्रमसे शुद्ध और अशुद्ध ही बने रहेंगे, उनका यह खयाल जैन सिद्धान्तोंके विपरीत है, क्योंकि जैन सिद्धान्तके अनुसार ब्राह्मण और भंगी ये संज्ञायें उनके योग्य वृत्तियोंके आधार पर कल्पितकी गयी हैं। इसलिये जो व्यक्ति जिस वृत्ति का धारण करने वाला होगा और जब तक उस वृत्तिको धारण करे रहेगा तब तक वह व्यक्ति उसी संज्ञामें व्यवहार-योग्य बना रहेगा। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण भी अपने जीवनमें भंगी बन सकता है और भंगी भी अपने जीवनमें ब्राह्मण बन सकता है। इसलिये यह बात निश्चित है कि नोर्कर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंमें पवित्रता (उच्चता) अपवित्रता (नीचता) रूपसे विषमता नहीं है और यही कारण है कि नोर्कर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंसे जीवके आचरण (वृत्ति) में भी उच्चता और नीचता रूपसे विषमता नहीं आसकती है। जिस प्रकार अत्यधिक आकृतिभेदसे देव, मनुष्य, तिर्यच और नारकियोंके नोर्कर्मवर्गणा के भेदरूप कुलों का पृथक् पृथक् विभाजन कर दिया है उसीप्रकार एक एक गतिके कुलोंके जो लाखों करोड़ भेद कर दिये हैं उनका अभिप्राय भी देव आदि पर्यायोंकी समानतामें भा आकृतिभेदका पाया जाना ही है। यदि मनुष्योंके नोर्कर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंमें किन्हीं को उच्च और किन्हीं को नीच माना जायगा तथा उनके आधार पर यह व्यवस्था बनायी जायगी कि उच्चगोत्र वालोंका शरीर उच्च नोर्कर्मवर्गणासे और नीचगोत्र वालोंका शरीर नीच नोर्कर्मवर्गणाओंसे बना हुआ है, तो देवोंमें भी कल्पवासियोंमें किल्बिष जातिके देवोंका शरीर व व्यन्तरीमें क्रूरकर्म वाले राक्षस, पिशाच व भूतजातिके देवोंका शरीर तथा भवनवासियोंमें भी

अम्बावरीष जातिके असुरकुमारोंका शरीर भी नीच नोर्कर्मवर्गणाओं से बना हुआ मानना पड़ेगा, जिससे देवोंमें भी उच्च व नीच दोनों गोत्रोंका सद्भाव मानना अनिवार्य होगा। इसी प्रकार तिर्यचोंमें भी कोई कोई तिर्यच देखनेमें इतने प्रिय मालूम पड़ते हैं कि मनुष्य उनको अपने पास रखनेमें अपना सौभाग्य समझता है। ऐसी हालतमें उनका शरीर भी उच्च नोर्कर्मवर्गणाओंसे बना हुआ मानना पड़ेगा, जिससे तिर्यचोंमें भी दोनों गोत्रोंका सद्भाव मानना अनिवार्य होगा, जो कि आगम विरुद्ध है। इसलिये यह बात निश्चित है कि गोत्रकर्मको व्यवस्थामें नोर्कर्मवर्गणाके भेदरूप कुलोंका बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है। यही कारण है कि जीवकी उच्च-नीच वृत्तिके अनुकूल बाह्य साधन सामग्रीको जुटा देने वाले स्थानविशेष ही यहाँ पर 'कुल' शब्दसे ग्रहण किये गये हैं।

ये कुल मोटे रूपसे चार भागोंमें बांटे जा सकते हैं नरकगति (नरककुल) तिर्यगगति (तिर्यक्कुल) मनुष्यगति (मनुष्यकुल) देवगति (देवकुल)। कारण कि ये चारों गतियाँ जीवोंकी वृत्तिमें अवलम्बनरूप निमित्तपड़ती हैं।

नरकगति और तिर्यचगतिमें जीवनपर्यंत नीच-वृत्तिके अनुकूल ऊपर लिखे अनुसार बाह्य साधनसामग्री मिला करती है। इसी प्रकार सम्मूर्च्छन, अन्तर्हीन व भ्लेच्छखंडोंमें रहने वाले मनुष्योंको भी अपने स्थानोंमें जीवनपर्यंत नीच वृत्तिके अनुकूल ही बाह्य साधन-सामग्री मिला करती है, इसलिये इन सबमें जीवन पर्यंत एक नीच गोत्र कर्म का ही उदय रहता है। देव-गतिमें देवोंको व भोग भूमिमें मनुष्योंको जीवनपर्यन्त उच्चवृत्तिके अनुकूल ही बाह्य साधनसामग्री मिला करती है, इसलिये इनमें जीवनपर्यन्त उच्च गोत्र कर्मका ही उदय माना गया है। अब केवल आर्यखंडोंके

मनुष्य ही ऐसे रह जाते हैं जिनमें बाह्य साधन-सामग्री के परिवर्तनसे वृत्ति-परिवर्तनकी सम्भावना पायी जाती है। जैसे इस भरतचेत्रके आर्यखंडमें जब तक भोग-भूमिका काल रहा तब तक बाह्य साधनसामग्री भोग-भूमिकी तरह उच्च वृत्तिके ही अनुकूल रही, कर्मभूमिके प्रारम्भ हो जाने पर उन्हींकी संतानके वृत्तिभेदका प्रारम्भ हुआ और पहिले कहे अनुसार वृत्तिभेदसे सबसे पहिले इनका विभाग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार जातियों ( वर्णों ) में हुआ, बादमें इनके भी अवान्तरभेदवृत्तिभेदके कारण होते चले गये तथा एक ही प्रकारकी वृत्तिके धारण करने वाले नाना मनुष्य होनेके कारण ये सब भेद जाति अथवा कुल शब्दसे व्यवहृत किये जाने लगे और वृत्तिके आधार पर कायम हुए ये ही कुल अथवा जातियाँ भविष्यमें पैदा होने वाले मनुष्योंकी वृत्तिके नियामक बन गये। फिर भी बाह्यसाधन-सामग्रीके बदलनेकी सम्भावना होनेसे इनमें वृत्तिभेद हो सकता है और वृत्ति-भेदके कारण गोत्र-परिवर्तन भी अवश्यभावी है \*। ऐसे कई दृष्टान्त मौजूद हैं जो किसी समय क्षत्रिय थे वे आज वैश्य माने जाने लगे हैं। पद्मावतीपुरवालोंमें जो आजकल पंडे हैं वे किसी जमानेमें ब्राह्मण होंगे परन्तु आज वे भी वैश्योंमें ही शुमार किये जाते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंमें परस्पर यथायोग्य विवाह करनेकी जो आज्ञा शास्त्रोंमें बतलायी है वहां पर विवाही हुई कन्याका गोत्र परिवर्तन मानना ही पड़ता है और इसका कारण वृत्तिका परिवर्तन ही होसकता है और यही कारण है कि भलेकुल-कन्याओंका चक्रवर्ती आदिके साथविवाह हो जानेपर वृत्ति परिवर्तन हो जानेके कारण ही दीक्षाका अधिकार उनको आगममें दिया गया है। इसी परिवर्तनकी वजहसे ही धवलके कर्ताने कुलको अवास्तविक बतलाया है और

इसीलिये जो मनुष्य साधु हो जाता है उसके उस अवस्थामें कुलसंज्ञा नहीं रहती है। इसलिये यह निश्चित है कि एक भंगा भी अपनी वृत्तिसे उदासीन होकर यदि दूसरी उच्च वृत्तिको अपना लेता है तो उसके अपनायी हुई उच्च वृत्तिके अनुसार गोत्र का परिवर्तन मानना ही पड़ेगा। इसी परिवर्तनके कारण ही दार्शनिकग्रन्थोंमें ब्राह्मणत्व, क्षत्रियत्व आदिमें जातिवकी कल्पनाका बड़ी खूबीके साथ खंडन किया गया है।

इस प्रकार इस लेखमें यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यखंडके मनुष्य उच्च और नीच दोनों प्रकारके होते हैं। शूद्र हीनवृत्तिके कारण व भलेकुल क्रूर वृत्तिके कारण नीचगोत्री, बाकी वैश्य, क्षत्रिय ब्राह्मण और साधु स्वाभिमान पूर्ण वृत्तिके कारण उच्च गोत्री माने जाते हैं और पहली वृत्तिको छोड़कर यदि कोई मनुष्य या जाति दूसरी वृत्तिको स्वीकार कर लेता है तो उसके गोत्रका परिवर्तन भी हो जाता है, जैसे भोगभूमिकी स्वाभिमानपूर्ण वृत्तिको छोड़कर यदि आर्यखंडके मनुष्योंने दोनवृत्ति और क्रूरवृत्तिको अपनाया तो वे क्रमशः शूद्र व भलेकुल बनकर नीचगोत्री कहलाने लगे। इसी प्रकार यदि ये लोग अपनी दीन वृत्ति अथवा क्रूर वृत्तिको छोड़कर स्वाभिमानपूर्ण वृत्तिको स्वीकार कर लें तो फिर ये उच्चगोत्री हो सकते हैं। यह परिवर्तन कुछ कुछ आज हो भी रहा है तथा आगममें भी बतलाया है कि छठे कालमें सभा मनुष्योंके नीचगोत्री हो जाने पर भी उत्सर्पिणीके तृतीय कालकी आदिमें उन्हींकी संतान उच्चगोत्री तीर्थंकर आदि महापुरुष उत्पन्न होंगे।

अत्यधिक लम्बाई हो जानेके कारण इस लेखको यहीं पर समाप्त करता हूँ और पहिले लेखमें कही हुई जिन बातोंके ऊपर इस लेखमें प्रकाश नहीं डाल सका हूँ उनके ऊपर अगले लेख द्वारा प्रकाश डालनेका प्रयत्न करूंगा। साथ ही, जिन आवश्यक बातोंकी ओर टिप्पणी द्वारा संपादक अनेकान्तने मेरा ध्यान खींचा है उनपर भी अगले लेख द्वारा प्रकाश डालूंगा।

\* इस वाक्य तथा अगली कुछ पंक्तियों परसे लेखक-महोदयका ऐसा आशय ध्वनित होता है कि प्रायः वृत्तिके आश्रित गोत्र का उदय है गोत्रकर्मके उदयाश्रित वृत्ति नहीं है। क्या यह ठीक है ? इसका स्पष्टीकरण होना चाहिये।

# साहित्य-सम्मेलनकी परीक्षाओंमें जैनदर्शन

[ ले०—पं० रतनलाल संघवी, न्यायतीर्थ-विशारद ]

**हि**न्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयागका हिन्दी संसारमें प्रायः वही स्थान और महत्त्व है, जो कि भारतीय-राजनैतिक जगत्में कांग्रेसका । गत तीस वर्षों से यह संस्था हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-भाषाकी अच्छी सेवा करती आरही है । हिन्दीका व्यापक और स्थायी प्रचार करनेकी दृष्टिसे इसने “हिन्दी-विश्व-विद्यालय” नामक एक अलग परीक्षा-विभाग कायम कर रक्खा है, जो कि नियमानुसार एवं व्यवस्थित ढंगसे प्रतिवर्ष अनेक परीक्षाएँ लेता है । भारतके लगभग सभी प्रान्तोंके और प्रायः सभी जातियों एवं धर्मोंके हजारों छात्र इन परीक्षाओंमें सम्मिलित होते रहते हैं । परीक्षाओंका क्रम, विषयोंका वर्गीकरण, पाठ्यक्रमकी शैली, ऐच्छिक विषयोंका चुनाव, उपाधि-प्रदान-पद्धति, आदि व्यवस्था सरकारी विश्वविद्यालयोंके समान ही इसकी भी हैं । इसकी प्रथमा परीक्षाकी पद्धति और विषयोंका वर्गीकरण मैट्रिकके समान है, विशारदकी शैली बी०ए० के सदृश है और साहित्यरत्नके विषयोंका वर्गीकरण एम० ए० के समान है । परीक्षार्थियोंकी योग्यता भी इन परीक्षाओंसे अच्छी हो जाती है । इन परीक्षाओंका स्टेन्डर्ड उँचा होनेसे इनका मान भी देशमें ठीक ठीक किया जाता है । बिहार सरकारने (और शायद यू० पी० सरकारने भी) इनको सरकारी तौर पर मान दे दिया है । यू० पी० बोर्डने तो विशारद-उत्तीर्णको मैट्रिक और एफ० ए० के एक ही विषयमें “अंग्रेजी” में भी बैठने की आज्ञा

प्रदान करदी है ।

जैन-छात्र प्रतिवर्ष सैकड़ोंकी संख्यामें इन परीक्षाओंमें सम्मिलित होते हैं और अच्छी श्रेणीमें सम्मेलनसे मेडल तक प्राप्त करके सम्मानपूर्वक इन परीक्षाओंमें उत्तीर्ण होते रहते हैं । किन्तु अनेक छात्रों और जैन संस्थाओंको विषय-चुनावमें कठिनाई आती है, अतः मैंने सोचा कि यदि प्रथमा मध्यमामें जैनदर्शनको भी वैकल्पिक विषयोंमें स्थान दे दिया जाय तो जैनछात्रों और जैन संस्थाओंको बहुत सुविधा हो जायगी । जैन-संस्थाओंके पाठ्यक्रममें भी सादृश्यता आजावेगी और प्रति वर्ष जैन परीक्षार्थियोंकी संख्या भी बढ़ जावेगी ।

मेरा प्रस्ताव तो यहाँ तक है कि प्रथमा, विशारद और साहित्यरत्नमें प्राकृत-अपभ्रंश भाषा और जैनदर्शन दोनोंको वैकल्पिक विषयोंमें स्थान दिया जाय । कारण यह है कि भारतीय दर्शन-धाराका अध्ययन तत्रतक अपूर्ण, एकांगी और अव्यवस्थित रहता है, जब तक कि जैन दर्शनका भी तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक पद्धतिसे बौद्धदर्शन और वैदिकदर्शनके साथ अध्ययन नहीं करलिया जाय । भारतीय-विचारपद्धति, भारतीय संस्कृति, भारतीय-कला और भारतीय-साहित्यके निर्माणमें जैनदर्शनने हर प्रकारसे सर्वतोमुखी और महत्त्वपूर्ण भाग लिया है । भारतीय विकासकी सभी दिशाओंमें जैनदर्शनने अमिट प्रभाव डाला है और पूरा पूरा सहयोग दिया है । दूसरा कारण यह है कि जैन-

साहित्यमें “भाषा, साहित्य, लिपि, संस्कृति, धर्म, राजनीति” आदि विभिन्न विषयोंके इतिहासकी सामग्री विपुल मात्रामें सन्निहित है। अतः प्राकृत-अपभ्रंश भाषा और जैनदर्शनको इन परीक्षाओंमें स्थान देना आवश्यक ही नहीं किन्तु अनिवार्य है, ऐसा मेरा विश्वास है। यही कारण है कि भारतके अनेक सरकारी विश्व-विद्यालयोंने भी प्राकृत-अपभ्रंश-भाषा और जैनसाहित्यको एफ० ए०, बी० ए०, की परीक्षाओं तक में स्थान दे दिया है। संस्कृतके सरकारी परीक्षालयोंमें भी प्रथमा, मध्यमा, तीर्थ, शास्त्री और आचार्य आदि परीक्षाओंमें जैन-साहित्यको स्थान मिल चुका है। किन्तु खेद है कि सम्मेलनकी परीक्षा-समितिके इस ओर अभी कोई ध्यान नहीं दिया। इस संबंधमें मैं परीक्षा-मन्त्रीजी सम्मेलन प्रयागसे गत दो वर्षसे पत्र-व्यवहार कर रहा हूँ। उन्होंने सं० ६४ पत्र नं० ६५६३ में लिखा कि आपका प्रस्ताव परीक्षा-समितिके सामने विचारार्थ रखेंगे और निर्णयकी सूचना यथासमय आपको दी जावेगी। फिर मेरे दूसरे पत्रके उत्तरमें सं० ६४ पत्र नं० ६७८४ में लिखा कि—मैं स्वयं जैनदर्शनको प्रथमा, मध्यमा परीक्षाओंके वैकल्पिक विषयोंमें रखनेके पक्षमें हूँ। पर परीक्षा-समितिकी राय लेकर ही इस संबंधमें निश्चित रूपसे आपको लिख सकूंगा। तीसरे पत्र नं० ८२८६ सं० ६४ में रजिस्ट्रार हिन्दी विश्वविद्यालयने मुझसे पाठ्यक्रम, और पूरी योजना मांगी; तदनुसार मैंने पाठ्यक्रम, और योजना भेज दी। तत्पश्चात् पत्र नं० ६६६५ और ११४१० सं० ६४ में इसी बातकी पुनरावृत्ति की कि अभी परीक्षा-समितिका अधिवेशन नहीं हुआ है, निर्णयकी सूचना आपको यथासमय तुरन्त ही

दी जावेगी; अंतमें परीक्षा-समितिका निर्णय मांगा तो यही उत्तर मिला कि परीक्षा-समितिके वैकल्पिक विषयोंमें जैनदर्शनको स्थान देनेसे इन्कार कर दिया है। मुझे यह पढ़कर अत्यन्त आश्चर्य और खेद हुआ! परीक्षा-मन्त्रीजी श्री दयाशंकरजी दुबे इस प्रस्तावके पक्षमें थे, जैसा कि उन्होंने अपने पत्रमें स्वीकार किया है। मालूम नहीं इस प्रस्तावके विरोधी सदस्योंकी क्या मनोभावना थी? क्या उन्होंने जैन-दर्शनसे विद्वेषकी भावनासे ऐसा किया अथवा इसे निरुपयोगी ही समझा, यह कह सकना कठिन है। किन्तु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि यह उनकी अनुदारता और अविचारकता अवश्य है। क्या वे अब भी कृपा करके इस प्रस्ताव पर पुनः समुचित विचार कर उसे स्वीकार करेंगे? मैं आशा करता हूँ कि वे ऐसी कृपा अवश्य करेंगे।

जैन-संस्था-संचालकों, जैन-पत्र-संपादकों और जैनविद्वानोंसे निवेदन है कि वे ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे प्राकृत-अपभ्रंश-भाषा और जैनसाहित्यको सम्मेलनकी परीक्षाओंके वैकल्पिक विषयों में स्थान मिल सके। इससे अनेक जैन संस्थाओंको पाठ्यक्रम-संबंधी अस्थिरता और अन्य कठिनाइयोंसे मुक्ति मिल सकेगी।

आदरणीय पं० नाथूरामजी प्रेमी, बाबू जैनेन्द्र-कुमारजी, पं० सुखलालजी, पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार और बाबू कामताप्रसादजी आदि विद्वान महानुभाव और शास्त्रार्थ संघ अम्बाला आदि जैसी संस्थाएँ यदि सम्मेलनसे पत्र-व्यवहार करने मात्रका थोड़ा-सा कष्ट करें तो इसमें अतिशीघ्र सफलता मिल सकती है। क्या ये ऐसा करनेकी कृपा करेंगे? मैं इस आशाके साथ यह निवेदन समाप्त

करता हूँ कि जैनपत्र-संपादक और विद्वान् मझानु-भाव इस और अवश्य प्रयत्न करनेकी कृपा करेंगे।

## सम्पादकीय नोट—

प्रस्तुत विषयमें लेखकमहोदय का प्रस्ताव और उन्होंने दो वर्ष तक पत्र-व्यवहारादिका जो परिश्रम किया है वह सब निःसन्देह बहुत ही समयोपगी, स्तुत्य और प्रशंसनीय है। परीक्षासमितिका उसपर उपेक्षाभाव धारण करना अवश्य ही खेदजनक है! मालूम नहीं उसकी इस अस्वीकृतिके मूलमें क्या रहस्य संनिहित है। परन्तु जहाँ तक मैं समझता हूँ जैनसाहित्य और उसके महत्त्वसे अनभिज्ञता ही इसका प्रधान कारण जान पड़ता है। जैन विद्वानोंको स्वयं तथा उन अजैन विद्वानोंके द्वारा जिन्होंने जैनसाहित्यके महत्त्वका अनुभव किया है, परीक्षासमितिके सदस्यों पर जैनदर्शन एवं जैनसाहित्यकी उपयोगिता और महत्ताको प्रकट करना चाहिये—उनके ध्यानमें यह जमा देना चाहिये कि इस और उपेक्षा धारण करके वे अपने कर्तव्यका ठीक पालन नहीं कर रहे हैं। प्रत्युत, अपनी भूलसे बहुतोंको यथोचित लाभसे वंचित रख रहे हैं, जो उनकी ऐसी सार्वजनिक संस्थाकी उदारता और दूर-दृष्टिताके विरुद्ध है। इस प्रकारके प्रयत्न और यथेष्ट आन्दोलनके द्वारा आशा है समितिका ध्यान इस और ज़रूर आकृष्ट होगा और वह शीघ्र ही अपनी भूलको सुधारनेमें समर्थ हो सकेगा। बिना आन्दोलन और प्रयत्नके कोई भी अच्छे-से अच्छा कार्य सफल नहीं हो सकता।

—सम्पादक

## सामायिक-विचार

एकाग्रता और सावधानीके बिना इन बत्तीस दोषोंमेंसे कोई न कोई दोष लग जाते हैं। विज्ञानवेत्ताओंने सामायिकका जघन्य प्रमाण दो घड़ी बांधा है। यह व्रत सावधानीपूर्वक करनेसे परम शान्ति देता है। बहुतसे लोगोंका जब यह दो घड़ीका काल नहीं बीतता, तब वे बहुत व्याकुल होते हैं। सामायिकमें खाली बैठनेसे काल बीत भी कैसे सकता है? आधुनिक कालमें सावधानीसे सामायिक करने वाले बहुत ही थोड़े लोग हैं। जब सामायिकके साथ प्रतिक्रमण करना होता है, तब तो समय बीतना सुगम होता है। यद्यपि ऐसे पामर लोग

प्रतिक्रमणको लक्षपूर्वक नहीं कर सकते, तो भी वे केवल खाली बैठनेकी अपेक्षा, इसमें कुछ न कुछ अन्तर अवश्य पड़ता है। जिन्हें सामायिक भी पूरा नहीं आता वे विचारे सामायिकमें बहुत घबड़ाते हैं। बहुतसे भारी-कमी लोग इस अवसर पर व्यवहारके प्रपंच भी घड़ डालते हैं। इससे सामायिक बहुत दूषित होता है।

सामायिकका विधिपूर्वक न होना इसे बहुत खेद-कारक और कर्मकी बाहुल्यता समझना चाहिए। साठ घड़ीके दिन रात व्यर्थ चले जाने हैं। असंख्यात दिनों से परिपूर्ण अनंतकालचक्र व्यतीत करने पर भी जो सिद्ध नहीं होता, वह दो घड़ीके विषुद्ध सामायिकसे सिद्ध हो जाता है। लक्षपूर्वक सामायिक करनेके लिये सामायिकमें प्रवेश करनेके पश्चात् चार लोगस्मसे अधिक लोगस्मका कायोत्सर्ग करके चित्तकी कुछ स्वस्थता प्राप्त करनी चाहिये और बादमें सूत्रपाठ अथवा किसी उत्तम ग्रंथका मनन करना चाहिये। वैराग्यके उत्तम श्लोकोंको पढ़ना चाहिए, पहिलेके अध्ययन किये हुएको स्मरण कर जाना चाहिये और नूतन अभ्यास होसके तो करना चाहिये, तथा किसीको शास्त्रके आधारसे उपदेश देना चाहिये। इस प्रकार सामायिकका काल व्यतीत करना चाहिये। यदि मुनिराजका समागम हो, ती आराम की वाणी सुनना और उसका मनन करना चाहिये। यदि ऐसा न हो, और शास्त्रोंका परिचय भी न हो तो विचक्षण अभ्यासियोंके पास वैराग्य-बोधक उपदेश श्रवण करना चाहिये अथवा कुछ अभ्यास करना चाहिये यदि ये सब अनुकूलतायें न हों, तो कुछ भाग ध्यान-पूर्वक कायोत्सर्गमें लगाना चाहिये, और कुछ भाग महापुरुषोंकी चरित्र-कथा सुननेमें उपयोगपूर्वक लगाना चाहिये, परन्तु जैसे बने तैसे विवेक और उत्साहसे सामायिकके कालको व्यतीत करना चाहिए। यदि कुछ साहित्य न हो, तो पंचपरमेष्ठी मंत्रका जाप हो उत्साह-पूर्वक करना चाहिये। परन्तु कालको व्यर्थ नहीं गंवाना चाहिये। धीरजसे, शान्तिसे और यतनासे सामायिक करना चाहिये। जैसे बने तैसे सामायिकमें शास्त्रका परिचय बढ़ाना चाहिये।

साठ घड़ीके अहोरात्रमेंसे दो घड़ी अवश्य बचाकर सामायिक तो सद्भावसे करो! —श्रीमद्राजचन्द्र

# यापनीय साहित्यकी खोज

[ ले०—श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी, बम्बई ]



## यापनीय संघ

**जै**न धर्मके मुख्य दो सम्प्रदाय हैं, दिगम्बर और श्वेताम्बर। इन दोनोंके अनुयायी लाखों हैं और साहित्य भी विपुल है, इसलिए इनके मतों और मत भेदोंसे साधारणतः सभी परिचित हैं, परन्तु, इस बात का बहुत ही कम लोगोंको पता है कि इन दोके अतिरिक्त एक तीसरा सम्प्रदाय भी था जिसे 'यापनीय' या 'गोप्य' संघ कहते थे और जिसका इस समय एक भी अनुयायी नहीं है।

यह सम्प्रदाय भी बहुत प्राचीन है। 'दर्शनसारके कर्त्ता देवसेनसूरिके कथनानुसार कमसे कम वि० सं० २०५ से तो इसका पता चलता ही है और यह समय दिगम्बर-श्वेताम्बर<sup>२</sup> उत्पत्तिसे निर्फ ६०-७० वर्ष बाद पड़ता है। इसलिए यदि मोटे तौर पर यह कहा जाय कि ये तीनों ही सम्प्रदाय लगभग एक ही समयके हैं तो कुछ बड़ा दोष न होगा, विशेष कर इसलिए कि सम्प्रदायोंकी उत्पत्तिकी जो तिथियाँ बताई जाती हैं वे बहुत सही नहीं हुआ करतीं।

किसी समय यह सम्प्रदाय कर्नाटक और उसके

आसपास बहुत प्रभावशाली रहा है। कदम्ब<sup>३</sup>, राष्ट्रकूट<sup>४</sup> और दूसरे 'वंशोंके राजाओंने इस संघको और इसके आचार्योंको भूमिदान किये थे। प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य हरिभद्रसूरिने<sup>६</sup> अपनी ललितविस्तरामें यापनीयतंत्रका सम्मान-पूर्वक उल्लेख किया है।

श्रुतकेवलदेशीयाचार्य शाकटायन ( पाल्यकीर्ति ) जैसे सुप्रसिद्ध वैयाकरण इस सम्प्रदायमें उत्पन्न हुए हैं। चालुक्य-चक्रवर्ती पुलकेशीकी प्रशस्तिके लेखक कालिदास और भारविकी समताकरनेवाले महाकवि रविकीर्ति भी इसी सम्प्रदायके मालूम होते हैं।<sup>७</sup>

इस संघका लोप कब हुआ और किन किन कारणोंसे हुआ, इसका विचार तो आगे कभी किया जायगा; परन्तु अभी तककी खोजसे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दि तक यह सम्प्रदाय जीवित था। कागवाडेके शिलालेखमें, जो<sup>८</sup> जैनमन्दिर-

---

३ कदम्बवंशी राजाओंके दानपत्र, देखो जैन-हितैषी, भाग १४ अंक ७-८

४ देखो, इ० ए० १२पृ० १३-१६ में राष्ट्रकूट प्रभूत वर्षका दानपत्र।

५ देखो इ० ए० १५पृ० १६-१६ में पृथ्वीकोगणि महाराजका दानपत्र

६ श्रीहरिभद्रसूरिका समय आठवीं शताब्दि है।

७ देखो प्राचीन लेखमाला भाग १ पृ० ६८-७२।

८ देखो बाम्बे यू० जर्नलके मई १९३३ के अंकमें प्रो० ए० एन० उपाध्याय एम० ए० का 'यापनीय संघ' नामक लेख और जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७ में उसका अनुवाद।

---

१ कल्लाणे वरणयरे दुखिणसए पंचउत्तरे जादे।

जावणियसंघभावो सिरिकलसादो हुसेवडदो ॥२६॥

२ छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।

सोरट्टे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संवो ॥१॥

श्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार दिगम्बरोंकी उत्पत्ति वीरनिर्वाणके ६०६ वर्ष बाद ( वि० सं० १३६ में) हुई है।

के भौहिरमें है, यापनीय संघके धर्मकीर्ति और नाग-चन्द्रके समाधि-लेखोंका उल्लेख है। इनके गुरु नेमि-चन्द्रको तुलुवराज्यस्थापनाचार्यकी उपाधि दी हुई है जो इस बातकी द्योतक है कि वे एक बड़े राज्यमान्य व्यक्ति थे और इसलिए संभव है कि आगे भी सौ पचास वर्ष तक इस सम्प्रदायका अस्तित्व रहा हो।

### यापनीय साहित्यका क्या हुआ ?

बेलगावके 'दोडुवस्ति' नामक जैनमन्दिरकी श्रीनेमिनाथकी मूर्तिके नीचे एक [खंडित लेख<sup>१</sup>] है, जिससे मालूम होता है कि उक्त मन्दिर यापनीय संघके किसी पारिसव्या नामक व्यक्तिने शक ६३५ ( वि० सं० १०७० ) में बनवाया था और आजकल उक्त मन्दिरकी यापनीयप्रतिष्ठितप्रतिमा दिगम्बरियोंद्वारा पूजी जाती है।

जिस तरह यापनीय संघकी उक्त प्रतिमा इस समय दिगम्बर सम्प्रदायद्वारा मानी-पूजी जाती है, क्या आश्चर्य है जो उनके साहित्यका भी समावेश उसके साहित्यमें हो गया हो ! यापनीय संघकी प्रतिमायें निर्वस्त्र होती हैं, इसलिए सरसरी तौरसे नहीं पहचानी जा सकती कि वे दिगम्बर सम्प्रदायकी हैं या यापनीयकी। इसी तरह यापनीय संघका बहुत-सा साहित्य भी तो ऐसा हो सकता है जो स्थूल दृष्टिसे दिगम्बर सम्प्रदाय जैसा ही मालूम हो। उदाहरणके लिए हमारे सामने शाकटायन व्याकरण है ही। वह दिगम्बर सम्प्रदायमें सैकड़ों वर्षोंसे केवल मान्य ही नहीं है उस पर बहुत-से दिगम्बर विद्वानोंने टीकायें तक लिखी हैं।

शाकटायनाचार्यका व्याकरणके अतिरिक्त एक

और ग्रन्थ प्रकाशमें आया है जिसका नाम 'स्त्री-मुक्ति-केवलि-भुक्ति प्रकरण'<sup>१</sup> है। इस ग्रन्थमें इसके नामके अनुसार स्त्रीको उसी भवमें मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं, इन दो बातों को सिद्ध किया गया है। चूंकि ये दोनों सिद्धांत दिगम्बर सम्प्रदायसे विरुद्ध हैं, इसलिए इसका संग्रह दिगम्बर भण्डारोंमें नहीं किया गया परन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय इन बातोंको मानता है इसलिए उसके भण्डारोंमें यह संग्रहीत रहा।

जैसा कि पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा यापनीय संघ सूत्र या आगम ग्रन्थोंको भी मानता था और उनके आगमोंकी वाचना उपलब्ध वत्तलभी वाचनासे, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें मानी जाती है, शायद कुछ भिन्न थी। उसपर उनकी स्वतंत्र टीकायें भी होंगीं जैसी कि अपराजित सूत्रकी दशवैकालिक सूत्रपर टीका थी। इस सब साहित्यमेंसे कुछ न कुछ साहित्य जरूर मिलना चाहिए।

जिस सम्प्रदायके अस्तित्वका पन्द्रहवीं शताब्दि तक पता लगता है और जिसमें शाकटायन, रविकीर्ति जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् हुए हैं, उसका साहित्य सर्वथा ही नष्ट हो गया होगा, इस बातपर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। वह अवश्य होगा और दिगम्बर-श्वेताम्बर भंडारोंमें ज्ञात-अज्ञात रूपमें पड़ा होगा।

विक्रमकी बारहवीं-तेरहवीं शताब्दि तक कनड़ी साहित्यमें जैन विद्वानोंने सैकड़ों एकसे एक बढ़कर ग्रन्थ लिखे हैं। कोई कारण नहीं है कि जब उस समय तक यापनीय संघके विद्वानोंकी परम्परा चली आ रही थी तब उन्होंने भी कनड़ी साहित्यको दस-बीस ग्रन्थ

१ जैन साहित्य संशोधक भाग २ अंक ३, ४ में यह प्रकरण प्रकाशित हो चुका है।

भेंट न किये होंगे ।

यापनीय संघके साहित्यकी एक बड़ी भारी उपयोगिता यह है कि जैनधर्मका तुलनात्मक अध्ययन करनेवालोंको उससे बड़ी सहायता मिलेगी । दिगम्बर-श्वेताम्बर मत भेदोंके मूलका पता लगानेके लिए यह दोनोंके बीचका और दोनोंको परस्पर जोड़नेवाला साहित्य है और इसके प्रकाशमें आये बिना जैनधर्मका प्रारम्भिक इतिहास एक तरहसे अपूर्ण ही रहेगा ।

### यापनीय सम्प्रदायका स्वरूप

मैंने अपने 'दर्शनसार-विवेचना और उसके परिशिष्ट' में यापनीयोंका विस्तृत परिचय दिया है और सप्रमाण दिया है । यहाँ मैं उसकी पुनरावृत्ति न करके सार-मात्र लिख देता हूँ, जिससे इस लेखका अग्रिम भाग समझनेमें कोई असुविधा न हो ।

ललितविस्तराके कर्त्ता हरिभद्रसूरि, षट्दर्शनसमुच्चय-के टीकाकार गुणरत्नसूरि और षट्प्राभृतके व्याख्याता श्रुतसागरसूरिके अनुसार यापनीय संघके मुनि नग्न रहते थे, मोरकी पिच्छि रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे<sup>३</sup> और वन्दना करनेवाले श्रावकोंको धर्मलाभ देते थे । ये सब बातें तो दिगम्बरियों जैसी थीं, परन्तु साथ ही वे मानते थे कि स्त्रियोंको उसी भवमें मोक्ष हो सकता है, केवली भोजन करते हैं और

सम्प्रन्थावस्थामें तथा परशासनसे भी मुक्त होना सम्भव है । इसके सिवाय शाकटायनकी अमोघवृत्तिके कुछ उदाहरणोंसे मालूम होता है कि यापनीय संघमें आवश्यक, छेद-सूत्र, निर्युक्ति और दशवैकालिक आदि ग्रन्थोंका पठन-पाठन भी होता था<sup>४</sup> अर्थात् इन बातोंमें वे श्वेताम्बरियोंके समान थे ।

### अपराजितसूरि यापनीय थे

यापनीय संघकी मानताओंका थोड़ा-सा परिचय देकर अब हम यह बतलाना चाहते हैं कि क्या सचमुच ही कुछ यापनीय साहित्य ऐसा है जिसे इस समय दिगम्बर सम्प्रदाय अपना मान रहा है, जिस तरह कि कुछ स्थानोंमें उनके द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमाओंको ? इसके प्रमाणमें हम सबसे पहिले मूलाराधनाकी टीका श्री-विजयोदयाको उपस्थित करते हैं, जो अपराजितसूरि या श्रीविजयाचार्यकी बनाई हुई है ।

यह टीका भगवती आराधनाके वचनिकाकार पं० सदासुखजीके सम्मुख थी । सबसे पहले उन्होंने ही इस पर सन्देह किया था और लिखा था कि इस ग्रन्थको टीकाका कर्त्ता श्वेताम्बर है । वस्त्र, पात्र, कम्बलादिका पोषण करता है, इसलिए अप्रमाण है । सदासुखजी चूँकि यापनीय संघसे परिचित नहीं थे, इसलिए वे अपराजितसूरिको श्वेताम्बरके सिवाय और कुछ लिख भी नहीं सकते थे । इसी तरह स्व० डाक्टर के० बी० पाठकको भी अमोघवृत्तिमें आवश्यक छेद-

१-२ देखो जैनहितैषी भाग १३ अंक ५-६

और १-१०

३ "या पंचजैनाभासैरंचलिकारहितापि नग्नमूर्तिरपि प्रतिष्ठिता भवति सा न वन्दनीया न चार्चनीया च ।" षट्प्राभृतटीका पृष्ठ ७१ । श्रुतसागरके इस वचनसे मालूम होता है कि यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमायें नग्न होती थीं क्योंकि यापनीय उनके पाँच जैनाभासोंके अन्तर्गत हैं ।

४ एकमावश्यकमध्यापय । इयमावश्यकमध्यापय । अमोघवृत्ति १-२-२०३-४

भवता खलु छेदसूत्रं वोढव्यं । निर्युक्तिरधीश्व । निर्युक्ति धीते । ४-४-१३३-४०

कालिकसूत्रस्यानध्यायदेशकालाः पठिताः । ३-२-४७

अथो जमाश्रमणैस्ते ज्ञानं दीयते १-२-२०१

सूत्र, निर्युक्ति आदिके उदाहरण देखकर शाकटायनको श्वेताम्बर मान लेना पड़ा था, जो कि निश्चित रूपसे यापनीय थे।

अपराजितसूरिके यापनीय होनेका सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि उन्होंने दशवैकालिक सूत्रपर एक टीका लिखी थी और उसका भी नाम इस टीकाके समान 'श्रीविजयोदया' रखा था। इसका जिक्र उन्होंने स्वयं ११६७ नम्बरकी गाथाकी टीकामें किया है—  
“दशवैकालिकटीकायां श्रीविजयोदयायां प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते।” अर्थात् मैंने उद्गमादि दोषोंका वर्णन दशवैकालिक टीकामें किया है, इसलिये अब उसे यहाँ नहीं करता। दिगम्बर सम्प्रदायका कोई आचार्य किसी अन्य सम्प्रदायके आचार-ग्रन्थकी टीका लिखेगा, यह एक तरहसे अद्भुत-सी बात है जब कि दिगम्बर सम्प्रदायकी दृष्टिमें दशवैकालिकादि सूत्र नष्ट हो चुके हैं। वे इस नामके किसी ग्रन्थके अस्तित्वमें मानते ही नहीं हैं।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय-मान्य जो आगम ग्रन्थ हैं यापनीयसंघ शायद उन सभीको मानता था; परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनोंके आगमोंमें कुछ पाठ-भेद था और इसका कारण शायद यह हो कि वर्तमान वल्लभीवाचना से पहलेकी कोई वाचना (संभवतः माथुरी वाचना) यापनीय संघके पास रही हो। क्योंकि विजयोदया टीकामें आगमोंके जो उद्धरण दिये गये हैं वे श्वेताम्बर आगमोंमें विल्कुल ज्योंके त्यों नहीं मिलते हैं।

### अचेलकताकी चर्चामें यापनीयत्व

जिस ४२७ नं० की गाथाकी टीकापरसे पं० सदा-सुखजीने टीकाकारको श्वेताम्बरी करार दिया है, वह यह है—

आचेलककुहेसियसेजाहरारायपिंडकरियम्मे ।

वद जट्टेपडिवक्कमणे मासं पज्जो सबणकप्पो ॥

इस गाथामें दश प्रकारके श्रमणकल्प अर्थात् श्रमणों या जैन साधुओंके आचार गिनाये हैं। उनमें सबसे पहला श्रमणकल्प आचेलक्य या अचेलकता या निर्वस्त्रता है। साधुओंको क्यों नग्न रहना चाहिए, और निर्वस्त्रतामें क्या क्या गुण हैं, वह कितनी आवश्यक है, इस बातको टीकाकारने खूब विस्तारके साथ लगभग दो पेजमें स्पष्ट किया है और इसका बड़े जोरोंसे समर्थन किया है। उसके बाद शंका की है कि यदि ऐसा मानते हो, अचेलकताको ही ठीक समझते हो, तो फिर पूर्वागमोंमें जो वस्त्र-पात्रादिका ग्रहण उपदिष्ट है, सो कैसे ?\*

पूर्वागमोंमें वस्त्रपात्रादि कहाँ उपदिष्ट हैं, इसके उत्तरमें आगे उन पूर्वागमोंसे नाम और स्थानसहित उद्धरण दिये हैं। जिन आगमोंके वे उद्धरण हैं, उनके नामोंसे और उन उद्धरणोंका जो अभिप्राय है, उससे साफ समझमें आ जाता है कि वे कोई दिगम्बर सम्प्रदायके आगम या शास्त्र नहीं हैं बल्कि वही हैं जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें उपलब्ध हैं और कुछ पाठ-भेदके साथ यापनीय संघमें माने जाते थे।

अक्सर ग्रन्थकार किसी मतका खंडन करनेके लिए उभी मतके ग्रन्थोंका भी हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धांतको पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीकामें ऐसा नहीं है; यहाँ तो अपने ही आगमोंका हवाला देकर अचेलकता सिद्ध की गई है और बतलाया है कि अपवादरूपसे अवस्था-विशेषमें ही वस्त्रका उपयोग किया जा सकता है।

\* अथैवंमन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्टं तथा (तत्कथं ?)

पहला उद्धरण 'आचार-प्रणिधि' का है<sup>१</sup> और यह आचार-प्रणिधि दशवैकालिक सूत्रके आठवें अध्ययनका नाम है। उसमें लिखा है कि पात्र और कम्बलकी प्रतिलेखना करना चाहिए, अर्थात् देख लेना चाहिए कि वे निर्जन्तुक हैं या नहीं।<sup>२</sup> और फिर कहा है कि प्रतिलेखना तो तभीकी जायगी जब पात्र कम्बलादि होंगे, उनके बिना वह कैसे होगी?<sup>३</sup> दूसरा उद्धरण आचारांगसूत्र का है उसके लोकविचय नामके दूसरे अध्ययनके पाँचवें उद्देश्यमें भी कहा है कि भिक्षु पिच्छिका, रजोहरण, उगगह और कटासन इनमेंसे कोई उपाधि रखे।<sup>४</sup>

इसके आगे वत्येसणा (वस्त्रैषणा) और पाएषणा (पात्रैषणा) के तीन उद्धरण दिये हैं जिनका सारांश यह है कि जो साधु हीमान या लज्जालु हो, वह एक वस्त्र धारण करे और दूसरा प्रतिलेखनाके लिए रखे, जिसका लिंग बेडौल जुगुप्साकर हो वह दो वस्त्र धारण करे और तीसरा प्रतिलेखनाके लिए रखे और जिसे शीतादि परिषह सहन न हो वह तीन वस्त्र धारण करे और चौथा प्रतिलेखनाके लिए रखे<sup>५</sup>। यदि मुझे तूबी लकड़ी या मिट्टीका अल्पप्राण, अल्पबीज, अल्पप्रसार,

और आल्पाकारवाला पात्र मिलेगा, तो उसे ग्रहण करूंगा।<sup>†</sup>

इन उद्धरणोंको देकर पूछा है कि यदि वस्त्र-पात्रादि ग्राह्य न हों तो फिर ये सूत्र कैसे लिये जाते हैं ?<sup>‡</sup>

इसके आगे भावना (आचारांगसूत्रका २४ वाँ अध्ययन) का उद्धरण दिया है कि भगवान् महावीरने एक वर्ष तक वस्त्र धारण किया और उसके बाद वे अचेलक (निर्वस्त्र) हो गये।<sup>१</sup>

सूत्रकृतांगके पुण्डरीक अध्ययनमें कहा है कि साधु-को किसी वस्त्रपात्रादिकी प्राप्तिके मतलबसे धर्मकथा नहीं कहनी चाहिए<sup>२</sup> और निशीथसूत्रके दूसरे उद्देश्यमें भी कहा है कि जो भिक्षु वस्त्र-पात्रोंको एक साथ ग्रहण करता है उसे लघुमासिक प्रायश्चित्त लेना पड़ता है।<sup>३</sup>

शंकाकार कहता है कि इस तरह सूत्रोंमें जब वस्त्र-ग्रहणका निर्देश है, तब अचेलता कैसे बन सकती है<sup>४</sup>? इसके समाधानमें टीकाकार कहते हैं कि अग्रममें अर्थात् आचारांगादिमें आर्यिकाओंको वस्त्रकी अनुज्ञा है परन्तु भिक्षुओंको वह अनुज्ञा कारणकी अपेक्षा है। जिस भिक्षुके शरीरावयव लज्जाकर हैं और जो परीषह

† पुनश्चौक्तं तत्रैव—आत्माभुपतं वा दारुगपत्तं-वा मट्टिगपत्तं वा अण्पपाणं अण्पबीजं अण्प सरिदं तथा अण्पकारं पात्रलाभे सति पडिग्गाहिस्समीति।

‡ वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते ?

१-वरिसं चीवरधारि तेन परमचेलके तु जिये।

२-ए कहेज्जो धम्मकहं बत्थपत्तादिहेतुमिति।

३-कसिणाहं वत्थकंबज्जाहं जो भिक्खु पडिग्गाहिदि-पज्जदि मासिगं लहुगं इति।

४-एवं सूत्रनिर्दिष्टे चेत्ते अचेलता कथं इति।

१—आचारप्रणिधौ भणितं । २-३-प्रतिलिखे-त्पात्रकम्बलं ध्रुवमिति । असत्सु पात्रादिषु कथं प्रति-लेखना ध्रुवं क्रियते । ४-आचारस्यापि द्वितीयाध्ययनो लोकविचयो नाम, तस्य पञ्चमे उद्देशे एवमुक्तं । पडिले-हणं पादपुच्छं उगगहं कटासनं अरण्यदरं उपधिं पावेज्ज इति । ५-तथा वत्येसणा ए वुत्तं तत्थ एसेहिरिमणे सेगं-बत्थं वा धारेज्ज पडिलेहणं विदियं, तत्थ एसे जुगिदे दुवे बत्थाणि-धारेज्ज पडिलेहणं विदियं । तत्थ एसे परिस्स-हं अण्पधिहासस्स तगोवत्थाणि-धारेज्ज पडिलेहणं च-उत्थं ।

सहन करनेमें असमर्थ है वही वस्त्र ग्रहण करता है<sup>१</sup> और फिर इस बातकी पुष्टिमें आचारांग तथा कल्प<sup>२</sup> (बृहत्कल्प) के दो उद्धरण देकर आचारांगका एक ऐसा उद्धरण दिया है जिसमें कारणकी अपेक्षा वस्त्र ग्रहण करनेका विधान है<sup>३</sup> और उसकी टीका करते हुए लिखा है कि यह जो कहा है कि हेमन्त ऋतुके समाप्त हो जाने पर परिजीर्ण उपाधिको रख दे, सो इसका अर्थ यह है कि यदि शीतका कष्ट सहन न हो तो वस्त्र ग्रहण कर ले और फिर ग्रीष्मकाल आ जाने पर उसे उतार दे। इसमें कारणकी अपेक्षा ग्रहण कहा है। परन्तु जीर्णको छोड़ दे, इसका मतलब यह नहीं है कि दृढ़ (मजबूत) को न छोड़े। अन्यथा अचेलतावचनसे विरोध आ जायगा। वस्त्रकी परिजीर्णता कही गई है, प्रक्षालनादि संस्कारके अभावसे, दृढ़का त्याग करनेके लिए नहीं<sup>४</sup> और यदि ऐसा मानोगे कि संयमके लिए

पात्रग्रहण सिद्ध है तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अचेलताका अर्थ है परिग्रहका त्याग और पात्र परिग्रह है, इसलिए उसका त्याग सिद्ध है। अर्थात् वस्त्र-पात्र-ग्रहण कारणसापेक्ष है। जो उपकरण कारणकी अपेक्षा ग्रहण किये जाते हैं उनकी जिस तरह ग्रहण-विधि है उसी तरह उनका परिहरण भी अवश्य करना चाहिए। इसलिए बहुतसे सूत्रोंमें अर्थाधिकारकी अपेक्षा जो वस्त्र-पात्र कहे हैं सो उन्हें ऐसा मानना चाहिए कि कारणसापेक्ष ही कहे गये हैं। और जो भावना (आचारांगका २४ वाँ अध्ययन) में कहा है कि भगवान् महावीरने एक वर्ष तक चीवर धारण किया और उसके बाद वे अचेलक हो गये, सो इसमें बहुत-सी विप्रतिपत्तियाँ हैं, बहुतसे विरोध और मतभेद हैं। क्योंकि कुछ लोग कहते हैं कि वीर जिनके उस वस्त्रको उसीदिन उस लटका देनेवालेने ही ले लिया था दूसरे कहते हैं कि वह काँटों और डालियों आदिसे छह महीनेमें छिन्न भिन्न हो गया था। कुछ लोग कहते हैं कि एक वर्षसे कुछ अधिक बीत जाने पर खंडलक नामक ब्राह्मणने उसे ले लिया था और दूसरे कहते हैं कि जब वह हवासे उड़ गया और भगवान्ने उसकी उपेक्षा की, तो लटकाने वालेने फिर उनके कन्धेपर रख दिया। इस तरह अनेक विप्रतिपत्तियाँ होनेके कारण इस बातमें कोई तत्त्व नहीं दिखलाई देता। यदि सचेतलिंग प्रकट करने के लिए भगवान्ने वस्त्र ग्रहण किया था तो फिर उसका विनाश क्यों इष्ट हुआ? उसे मदा ही धारण किये

१-आर्थिकाणामागमे अनुज्ञातं वस्त्रं कारणपेक्षया भिच्छूणाम्। हीमानयोग्यशरीरावयवो दुश्चर्माभिलम्बमानबीजो वा परोषहसहने वा अरुणः स गृह्णाति।

२-हिरिहेतुकं व होइ देहदुर्गुणंतिदेहे जुगिदगे धारेजसियं वथं परिस्सहाणं च ण विहासीति।

३-द्वितीयमपि सूत्रं कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधकं आचारांगे विद्यते—अहं पुण एवं जाणेज्ज। पातिकंते हेमंतेहि सुपडि वण्णे से अथ पडिजुणमुवधिं पदिट्ठावेज्ज।

४-हिमसमये शीतबाधासहः परिग्रह्य चेलं तस्मिन्निष्क्रान्ते ग्रीष्मेसमायाते प्रतिष्ठापयेदिति कारणमपेक्ष्य ग्रहणमाख्यातं। परिजीर्णविशेषोपादानाद्दृढानामपरित्याग इति चेत् अचेलतावचनेन विरोधः। प्रक्षालनादि संस्कार विरहात्परिजीर्णता वस्त्रस्य कथिता न तु दृढस्यत्यागकथनार्थं पात्रप्रतिष्ठापनासूत्रेणोक्तेति। संयमार्थं पात्रग्रहणं सिद्ध्यति इति मन्यसे, नैव। अचेलता नाम परिग्रहत्यागः पात्रं च परिग्रह इति त-

स्यापि त्यागः सिद्ध एवेति। तस्मात्कारणपेक्षं वस्त्रपात्र-ग्रहणं। यदुपकरणं गृह्यते कारणमपेक्ष्य तस्य ग्रहण-विधिः ग्रहीतस्य च परिहरणमवश्यं वक्तव्यमेव। तस्माद्वस्त्रं पात्रं चार्थाधिकारमपेक्ष्य सूत्रेषु बहुषु यदुक्तं तत्कारणमपेक्ष्य निर्दिष्टमिति ग्राह्यम्।

रहना था और यदि उन्हें पता था कि वह नष्ट हो जायगा तो फिर उसका ग्रहण करना निरर्थक हुआ और यदि पता नहीं था तो वे अज्ञानी सिद्ध होते हैं। और फिर यदि उन्हें चेलप्रज्ञापना बांछनीय थी तो फिर यह वचन मिथ्या हो जायगा कि पहले और अन्तिम तीर्थंकरका धर्म आचेलक्य (निर्वस्त्रता) था<sup>१</sup>।

और जो नवस्थान (?) में कहा है कि जिस तरह मैं अचेलक हूँ उसी तरह पिछले जिन (तीर्थंकर) भी अचेलक होंगे, सो इससे भी विरोध आयागा। इसके सिवाय वीर भगवानके समान यदि अन्य तीर्थंकरोंके भी वस्त्र थे तो उनका वस्त्र-त्याग-काल क्यों नहीं बतलाया जाता है? इसलिए यही कहना उचित मालूम होता है कि सब कुछ त्यागकर जब जिन (वीर भगवान्) स्थित थे तब किसीने उनके ऊपर वस्त्र डाल दिया था और वह एक तरहका उपसर्ग था<sup>२</sup>।

१-यच्चभावानायामुक्तं—वरिसं चीवरधारि तेण परमचेलगो जिनोति तदुक्तं विप्रतिपत्तिबहुलत्वात्। कथं? केचिद्वदन्ति तस्मिन्नैव दिने तद्वस्त्रं वीरजिनस्य विलम्बनकारिणा गृहीतमिति। अन्येषण मासाच्छिन्नं तत्कण्टकशाखादिभिरिति। साधिकेन वर्षेण तद्वस्त्रं खण्डलकब्राह्मणेन गृहीतमिति केचित्कथयन्ति। केचिद्वातेन पतितमुपेक्षितं जिनेनेत्यपरे वदन्ति विलम्बनकारिण जिनस्य स्कन्धे तदारोपितमिति। एवं विप्रतिपत्तिबाहुल्यान्न दृश्यते तत्त्वं। सचेललिंगप्रकटनार्थं यदि चेलग्रहणं जिनस्य कथं तद्विनाश इष्टः? सदातद्वारयितव्यम्। किं च, यदि नश्यतीति ज्ञानं निरर्थकं तस्य ग्रहणं, यदि न ज्ञातमज्ञानस्य प्राप्नोति। अपि च चेलप्रज्ञापना बांछिता चेत् 'आचेलकको धम्मो पुरिमच्चरिमाणं' इति वचो मिथ्या भवेत्।

२-यदुक्तं 'यथाहमचेली तथा होउ पच्छिमो इति होक्खदिति' तेनापि विरोधः। किं च जिनानामितरेषां वस्त्रत्यागकालः वीरजिनस्येव किं न निर्दिश्यते यदि वस्त्रं

इसके बाद कहा है कि परीषहसूत्रोंमें (उत्तराध्ययन-में) जो शीत-दंश-मसक तृणस्पर्श-परीषहोंके सहनके वचन हैं वे सब अचेलताके साधक हैं। क्योंकि जो सचेल या सवस्त्र हैं उन्हें शीतादिकी बाधा होती ही नहीं है।<sup>२</sup>

फिर उत्तराध्ययनकी ऐसी नौ गाथायें उद्धृत की हैं जो अचेलताको प्रकट करती हैं<sup>३</sup>। इस तरह इस आचेलक्य श्रमणकल्पकी समाप्त की गई है।

इससे अच्छी तरह स्पष्ट होजाता है कि व्याख्याकार यापनीय संघके हैं, वे उन सब आगमों आदिको मानते हैं जिनके उद्धरण उन्होंने अचेलकताके प्रकरणमें दिये हैं। उनका अभिप्राय यह है कि साधुओंको नग्न रहना चाहिए; नग्न रहनेकी ही आगमोंकी आज्ञा है और कहीं कहीं जो वस्त्रादिका उल्लेख मिलता है सो उसका अर्थ इतना ही है कि यदि कभी अनिवार्य जरूरत आ पड़े, शीतादिकी तकलीफ बरदाश्त न हो, या शरीर बेडौल धिनौना हो तो कपड़ा ग्रहण किया जा सकता है

तेषामपि भवेत्। एवं तु युक्तं वक्तुं सर्वत्यागं कृत्वा स्थिते जिने केनचिद्वस्त्रं वस्तुं निश्चितं उपसर्ग इति।

२-इदं चाचेलताप्रसाधनपरं शीतदंशमसकतृणस्पर्शपरीषहसहनवचनं परीषहसूत्रेषु। नहि सचेलं शीतादयो बाधन्ते।

३-स्थानाभावसे यहाँ उत्तराध्ययनकी चार ही गाथायें दी जाती हैं—

परिचत्तेसु वत्थेषु ण पुणो चेलमादिए, अचेलपवरो-भिक्षू जियरूबधरे सदा। अचेलगस्स लूहस्स संजयस्स तवस्सिणो, तण्णेषु सयमाणस्स णं ते होदि विराहिणा ण मे णिवारणं अत्थि छवित्ताणं ण विज्जई, अहंतु अग्गि सेवामि इदि भिक्षू ण चितए ॥ आचेलकको य जो धम्मो जो वायं पुणरुत्तरो, देसिदो वड्डमाणेण पासेण य महप्पणा।

परन्तु वह ग्रहण करना कारणसापेक्ष है और एक तरह से अपवादरूप है<sup>१</sup>। भगवान् महावीरकी वे उन सब भिन्न भिन्न कथाओंका उल्लेख करते हैं जो उनके कुछ काल तक वस्त्रधारी रहनेके सम्बन्धमें श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें प्रचलित हैं और दिगम्बर सम्प्रदायमें जिनका कहीं जिक्र तक नहीं है।

विजयोदया टीकाका यह एक ही प्रसंग उसे यापनीय सिद्ध करनेके लिए काफी है और इसी लिए यह खास तौरसे पाठकोंके सामने पेश किया गया है। और भी कई प्रसंग और उद्धरण दिये जा सकते हैं परन्तु उनमें जो दिगम्बर-यापनीय भेद हैं वे इतने सूक्ष्म हैं कि उन्हें जल्दी नहीं समझाया जा सकता। और उन पर विवाद भी किया जा सकता है।

### अपराजितसूरिकी । गुरुपरम्परा

श्रीविजयोदया टीकाके अनुसार अपराजितसूरि बलदेवसूरिके शिष्य और चन्द्रनन्दि महाप्रकृत्याचार्यके प्रशिष्य थे। नागनन्दिगणिकी चरण-सेवासे उन्हें ज्ञान

१—इस विषयमें यापनीय संघकी तुलना शुरूके भट्टारकोंसे की जासक्ती है। वे थे तो दिगम्बर सम्प्रदायके ही अनुयायी, श्रीकुन्दकुन्दकी आम्नायके माननेवाले और नग्नताके पोषक, परन्तु अनिवार्य आवश्यकता होने पर वस्त्रका भी उपयोग कर लेते थे, यों वे अपने मठोंमें वस्त्र छोड़कर नग्न ही रहते थे और भोजनके समय भी नग्न होजाते थे। श्रीश्रुतसागरसूरिने षट्पाहुड टीकामें इसे अपवादवेष कहा है यथा—

“कलौ किल स्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वा उपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति, तेन मण्डपदुर्गोऽथ वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य पुनस्तन्मुञ्चति इत्युपदेशः कृतः संयमिनां, इत्यपवादवेषः।” तत्त्वार्थटीकामें उन्होंने इसे द्रव्यलिङ्ग कहा है यथा— “द्रव्यलिङ्गिनः असमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलादिङ्गुहीत्वा न प्रचालयन्ते न सीव्यन्ति न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति अपरकाले परिहरन्ति।”

ग्राम हुआ था और श्रीनन्दिगणिके कहनेसे उन्होंने यह टीका लिखी थी। वे आरातीय सूत्रियोंमें श्रेष्ठ थे<sup>१</sup>। श्री-विजय उनका दूसरा नाम था<sup>२</sup> और शायद इसीसे इस टीकाका तथा दशवैकालिक टीकाका नाम श्रीविजयोदया रखा गया है।

दिगम्बर-सम्प्रदायके किसी भी संघकी गुर्वावली या पट्टावलीमें यह गुरुपरम्परा नहीं मिलती, और यह आरातीय पद भी विनयदत्त, श्रीदत्त, शिवदत्त और अर्हदत्त, इन चार आचार्योंके सिवाय<sup>३</sup> और किसी भी आचार्यके लिए व्यवहृत नहीं किया गया है। सर्वार्थसिद्धि टीकाके अनुसार भगवान्के साक्षात् शिष्य गणधर और श्रुतकेवलियोंके बाद जो आचार्य हुए हैं और जिन्होंने दशवैकालिकादि सूत्र उपनिबद्ध किये हैं वे आरातीय कहलाते हैं<sup>४</sup>।

१—“चन्द्रनन्दिमहाप्रकृत्याचार्यः प्रशिष्येण आरातीयसूरिचूलामणिना नागनन्दिगणिपादपद्मोप-सेवाजातमतिलवेन बलदेवसूरिशिष्येण जिनशासनोद्धरणधीरेण लब्धयशः प्रसरेणापराजितसूरिणा श्रीनन्दिगणिनावचोदितेन रचिता—।”

२—आशाधरने अपराजितको अपने ग्रन्थोंमें श्रीविजयाचार्यके नामसे भी लिखा है—“एतच्च श्री-विजयाचार्यविरचितसंस्कृत मूलाराधनटीकायां सुस्थित सूत्रे विस्तरतः समर्पितं दृष्टव्यं।”

—अनगारधर्माभूत टीका पृ० ६७३

३—विनयधरः श्रीदत्तः शिवदत्तोऽन्योऽर्हदत्तनामैते । आरातीयाः यतयस्ततोऽभवन्नङ्गपूर्वधराः ॥ २४

—श्रुतावतार

४—त्रयो वक्तारः सर्वज्ञतीर्थकरः इतरो वा श्रुत-केवली आरातीय इवेति ।

—अनागार धर्माभूत टीका पृ० ६७३

आरातीयै पुनराचार्यैः कालदोषात्संचितसायुर्मति बलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धं, तत्प्रमाणमर्थ-तस्तदेवेदमिति क्षीराण्यवजलं घटगृहीतमिव ।

—अ०१ सूत्र २०

चूँकि अपराजितसूरिने दशवैकालिककी टीका लिखी थी, शायद इसीलिए वे 'आरातीय-चूडामणि' कहलाते हों। दिगम्बर सम्प्रदायके अनुसार दशवैकालिकादि अंगबाह्य श्रुत तो हैं; परन्तु उसकी दृष्टिमें वे छिन्न होगये हैं और जो उपलब्ध हैं वे अप्रमाण हैं। अतएव दिगम्बर सम्प्रदायका कोई भी आचार्य इस पदवीका धारक नहीं है।

### यापनीयों का नन्दिसंघ

गंगवंशी पृथ्वीकोङ्कणि महाराजका शक ६६८ (वि० सं० ८३३) का एक दानपत्र<sup>१</sup> मिला है जो श्रीपुर (शिरूर) के लोकतिलक नामक जैनमन्दिरको 'पौनल्लि' नामक ग्रामके रूपमें दिया गया था। उसमें जो गुरुपरम्परा दी है वह इस प्रकार है—श्रीचन्द्रनन्दि गुरु, उनके शिष्य कुमारनन्दि, उनके कीर्तिनन्दि और उनके विमलचन्द्राचार्य। इन्हें श्रीमूल<sup>२</sup> मूलगणाभिनन्दित नन्दिसंघ, एरे गितूर नामक गण और मूलिकल् गच्छका बतलाया है। हमारा खयाल है कि जिस तरह मूलसंघके अन्तर्गत एक नन्दिसंघ है, उसी तरह यापनीय संघके अन्तर्गत भी एक नन्दि संघ था। इसके प्रमाणमें हम राष्ट्रकूटनरेश द्वि० प्रभूतवर्षके एक<sup>३</sup> दानपत्रको पेश कर सकते हैं, जिसमें शक ७३५ (वि० सं० ८७०) को यापनीय-नन्दिसंघके विजयकीर्तिके शिष्य

अर्ककीर्ति मुनिको मान्यपुर (मैसूर राज्यके नेल मंगल ताल्लुकेका मौने नामक ग्राम) के शिलाग्राम जिनेन्द्र-भवनको एक गाँव भेंट किया गया है। उसमें स्पष्टतासे "श्रीयापनीय-नन्दिसंघ-पुंनागवृक्षमूलगण" लिखा हुआ है। इस नन्दिसंघके अन्तर्गत उसकी शाखारूप पुंनाग-वृक्षमूल नामका गण था। जिस तरह मूलसंघके अन्तर्गत, देशीय काणूर आदि गण हैं, उसी तरह यापनीयनन्दिसंघमें यह भी था। रायबाग<sup>१</sup> के शिलालेखमें जो ई०स० १०२० का लिखा हुआ है, यापनीयसंघ-पुंनागवृक्षमूलगणके कुमारकीर्तिदेवको कुछ दान दिया गया है। इसी तरह कोल्हापुरके 'मंगलवारवस्ति' नामक जैनमन्दिरकी एक प्रतिमाके नीचे एक शिलालेख<sup>२</sup> है जिससे मालूम होता है कि पुंनागवृक्षमूलगण यापनीयसंघके विजयकीर्ति पण्डितके शिष्य और रवियण्णके भाई वोमियण्णने उसकी प्रतिष्ठा कराई थी। इन दो लेखोंमें यापनीयसंघ पुंनागवृक्षमूलगणका उल्लेख तो है परन्तु नन्दिसंघका नहीं है, फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि नन्दिसंघ यापनीयों में भी था और उसके अन्तर्गतपुंनागवृक्षमूलगण था।

### द्रविड़ संघमें भी नन्दिसंघ

यापनीय संघ ही नहीं द्रविड़ या प्रमिल संघमें भी नन्दिसंघ नामका संघ था जिसका उल्लेख कई

१-इण्डियन एण्टिक्वेरी २-१८६-४६ श्रीमूल-मूलशरणाभिनन्दित—नन्दिसंघान्वयएरेगितूर नाम्नि गणेमूलिकलगच्छे स्वच्छतरगुणकिरणप्रततिप्रह्लादित-सकललोकश्चन्द्र इवापरश्चन्द्रनन्दिनाम गुरुरासीत् ...।

२-'श्रीमूलमूलशरणाभिनन्दित' पाठ शायद ठीक नहीं है। सम्भव है पढ़नेवालेने 'गण' को 'शरण' पढ़ लिया है।

३-ई०ए० जिल्द १२ पृ० १३-१६...श्रीयापनीय-नन्दिसंघपुंनागवृक्षमूलगणे श्रीकीर्त्याचार्यान्वेये ।

१-जर्नल आफ बाम्बे हिस्टारिकल सुसाइटी जिल्द ३ पृ० १६२-२००

२-प्रो० के० जी० कुंडनगरने कनड़ी मासिक पत्र 'जिनविजय' (सन् १९३२) में यह और यापनीयोंके अन्य लेख प्रकाशित किये थे। इनका उल्लेख प्रो० उपाध्यायने अपने 'यापनीय संघ' शीर्षक लेखमें किया है। देखो जैनदर्शन वर्ष ४ अंक ७।

शिलालेखोंमें मिलता है<sup>१</sup> और यह एक मार्केकी बात है कि देवसेनसूरिने यापनीयके समान द्रविड़ संघको भी जैनाभासोंमें गिना है<sup>२</sup> ।

प्रायः प्रत्येक संघमें गण, गच्छ, अन्वय, बाल आदि शाखायें रहती थीं। कभी कभी गण गच्छादिको संघ और संघोंको गण गच्छ भी लिख दिया जाता था। मतलब सबका मुनियोंके एक समूहसे था।

### संघों और गणोंके नामकी उपपत्ति

इन संघों या गणोंके नाम कुछ देशोंके नामसे जैसे द्रविड़, माथुर, लाड-बागड़ आदि, कुछ ग्रामोंके नामसे जैसे कित्तूर<sup>३</sup>, नमिलूर<sup>४</sup>, तगरिल<sup>५</sup>, श्रीपुर<sup>६</sup>, हन-सोमे<sup>७</sup> आदि, और कुछ दूसरे चिन्होंसे रखे गये हैं।

इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें लिखा है कि जो मुनि शात्मलिवृक्षमूलसे आये उनका अमुक नाम पड़ा, जो खण्डकेसरद्रुममूलसे आये उनका अमुक और जो अशोकवाटिकासे आये उनका अमुक<sup>८</sup>। इस विषयमें जो मतभेद हैं उनका भी उन्होंने उल्लेख कर

दिया है। यद्यपि वृक्षोंसे नामोंकी कोई ठीक उपपत्ति नहीं बैठती है फिर भी यह माननेमें कोई हर्ज नहीं कि शुरू शुरूमें कुछ संघों या गणोंके नाम वृक्षोंपरसे भी पड़े थे।

ये पुन्नागवृक्षमूलगण और श्रीमूलमूलगण भी इसी तरहके मालूम होते हैं। पुन्नाग नागकेसरको कहते हैं और श्रीमूल शात्मलि या सेमरको। बंगला भाषामें सेमरको 'शिमूल' कहते हैं जो श्रीमूलका ही अपभ्रंश मालूम होता है। कनड़ीमें भी संभव है कि शिमूल या श्रीमूलसे ही मिलता जुलता कोई शब्द सेमरके लिए होगा।

संस्कृत कोषोंमें नन्दि भी एक वृक्षका नाम है, इससे कल्पना होती है कि शायद नन्दिसंघ नाम भी उक्त वृक्षके कारण पड़ा होगा। ऐसी दशामें मूल संघके समान अन्य संघोंमें भी नन्दि संघ होना स्वाभाविक है।

हमारा अनुमान है कि पृथ्वीकौङ्कणि महाराजके दानपत्रके चन्द्रनन्दि आचार्यके ही प्रशिष्य अपराजितसूरि होंगे। उक्त दानपत्रमें उनके एक शिष्य कुमारनन्दिकी ही शिष्यपरम्परा दी है, दूसरे शिष्य बलदेवसूरिकी परम्परामें अपराजितसूरि हुए होंगे।

दानपत्रमें मूलसंघ (दि० स०) के नन्दिसंघसे पृथक्त्व प्रकट करनेके लिए 'श्रीमूलमूलगणाभिनन्दित विशेष' पण दिया गया है।

### क्या शिष्य भी यापनीय थे ?

अपराजितसूरि के विषयमें विचार करते हुए मूल ग्रन्थमें भी कुछ बातें ऐसी मिली हैं जिनसे मुझे उसके कर्ता शिष्य भी यापनीय संघके मालूम होते हैं। देखिए—

१ इस ग्रन्थकी प्रशस्तिमें लिखा है कि आर्य जिननन्दि गणि, आर्य सर्वगुप्त गणि और आर्य मित्र

१-श्रीमहामिलसंघेस्मिन्नन्दि संघेऽस्त्यहंगलः ।

अन्वयो भांति योऽशेषशास्त्रवारीश पारगः ॥

...श्री द्रमिणगणदनन्दिसंघदरुल्लान्वयदाचार्यावलि येन्ते दोड़े.....

जैनशिलालेखसंग्रह पृ० ३१७

२-दक्षिणमहुएजादो दाविडसंघो महामोहो ।

३-७-इन नामोंके स्थान कर्नाटकमें अब भी हैं। बलि, गच्छ और अन्वयके नाम इन्हींपरसे रखे गये हैं। कित्तूर और कित्तूर एक ही हैं। कित्तूरका पुराना नाम कीर्तिपुर है जो पुन्नाट देशकी राजधानी थी। 'परे' कनड़ीमें को कहते हैं। 'कित्तूर' और 'परे कित्तूर' दोनों ही नामके गण या गच्छ हैं।

८-ये शात्मलिमहाद्रुममूलाद्यतयोऽभ्युपगताः ।

ये खण्डकेसरद्रुममूलान्मुनयः समागताः, प्रथितादशोक-वाटारसमागता ये मुनीश्वराः इत्यादि ।

नन्दि गणिके चरणोंसे अच्छी तरह सूत्र और उनका अर्थ समझकर और पूर्वाचार्योंकी रचनाको उपजीव्य बनाकर 'पाणितलभोजी' शिवार्यने यह आराधना रची<sup>१</sup> हम लोगोंके लिये प्रायः ये सभी नाम अपरिचित हैं<sup>२</sup> । अपराजितसूरिकी परम्पराके समान यह परम्परा भी दिगम्बर सम्प्रदायकी पट्टावली या गुर्वावली आदिमें नहीं मिलती। शिवकोटि और शिवार्य एक ही हैं जो स्वामि समन्तभद्रके शिष्य थे, इस धारणाके सही होनेका भी कोई पुष्ट और निर्भ्रान्त प्रमाण अभी तक नहीं मिला है। जो कुछ प्रमाण इस सम्बन्धमें दिये जाते हैं, वह बहुत पीछेके गढ़े हुए मालूम होते हैं<sup>३</sup> । स्वयं शिवार्य ही यह स्वीकार नहीं करते कि मैं समन्तभद्रका शिष्य हूँ ।

अपराजितसूरि यदि यापनीय संघके थे तो अधिक सम्भावना यही है कि उन्होंने अपने ही सम्प्रदायके ग्रन्थकी टीका की होगी ।

आराधनाकी गाथायें काफी तादादमें श्वेताम्बर सूत्रोंमें मिलती हैं<sup>४</sup>, इससे शिवार्यके इस कथनकी पुष्टि

१-अउजजिणयंदिगणियअउजमित्तणंदीयं ।

अवगमियपायमूले सम्मं सुत्तंच अत्थं च ॥ २१६१

पुब्बाथरियणिवद्धा उपजीवित्ता इमा ससत्तीए ।

आराहणा सिवज्जेण पाणिदलभोइणा रहदा ॥

२१६२

२-यापनीय संघके मुत्तियोंमें कीर्तिनामान्त अधिकतासे हैं जैसे पाण्यकीर्ति, रविकीर्ति, विजयकीर्ति, धर्मकीर्ति, आदि नन्दि, चन्द्र, गुप्त नामान्त भी हैं जैसे-जिननन्दि, मित्रनन्दि, सर्वगुप्त, नागचन्द्र, नेमिचन्द्र आदि नामोंसे किसी संघका निरचयपूर्वक निर्णय नहीं हो सकता है ।

३-देखो भगवती आराधना वचनिकाकी भूमिका पृ० ३-६ ।

होती है कि पूर्वाचार्योंकी रची हुई गाथायें उनकी उपजीव्य हैं ।

जिन तीन गुरुओंके चरणोंमें बैठकर उन्होंने आराधना रची है उनमें से 'सर्वगुप्त गणि' शायद वही हैं जिनके विषयमें शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें लिखा है कि "उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः" १-३-१०४ । अर्थात् सारे व्याख्याता या टीकाकार सर्वगुप्त से नीचे हैं । चूंकि शाकटायन यापनीय संघके थे इसलिए विशेष सम्भव यही है कि सर्वगुप्त यापनीय संघके ही सूत्रों या आगमोंके व्याख्याता होंगे ।

शिवार्यने अपनेको "पाणितलभोजी" अर्थात् हाथोंमें आस लेकर भोजन करनेवाला कहा है। यह विशेषण उन्होंने अपनेको श्वेताम्बर सम्प्रदायसे अलग प्रकट करनेके लिए दिया है। यापनीय साधु हाथ पर ही भोजन करते थे ।

आराधनाकी ११३२ वीं गाथामें 'मेदस्स मुणिसस्स अक्खणं' (मेतार्यमुनेराख्यानम्) अर्थात् मेतार्य मुनिकी कथाका उल्लेख किया है जहाँ तक हम जानते हैं दिगम्बर साहित्यमें कहीं यह कथा नहीं मिलती है । यही कारण है कि पं० सदासुखजीने अपनी वचनिकामें इस पदका अर्थ ही नहीं किया है । यही हाल पं० जिनदास शास्त्रीका भी है । संस्कृतटीकाकार पं० आशाधरजीने तो इस गाथाकी टीका इसलिए विशेष नहीं की है कि वह सुगम है परन्तु आचार्य अमितगतने इसका संस्कृतानुवाद करना क्यों छोड़ दिया ?

४-भगवती आराधना वचनिकाके अन्तमें उन गाथाओंकी एक सूची दी है जो मूलाचार और आराधनामें एकसी हैं और पं० सुखबालजी द्वारा सम्पादित पंचप्रतिक्रमण सूत्रमें मूलाचारकी उन गाथाओंकी सूची दी है जो भद्रबाहुकृत 'आवरयकनियुक्ति' में भी हैं ।

मेतार्य मुनिकी कथा श्वेताम्बर सम्प्रदायमें बहुत प्रसिद्ध है<sup>१</sup>। वे एक चाण्डालिनीके लड़के<sup>२</sup> थे परन्तु किसी सेठके घर पले थे। अत्यन्त दयाशील थे। एक दिन वे एक सुनारके यहाँ भिक्षाके लिए गये। उसने उसी समय सोनेके जौ बनाकर रखे थे। वह भिक्षा लानेके लिए भीतर गया और मुनि वहीं खड़े रहे जहाँ जौ रखे थे। इतनेमें एक क्राँच पक्षीने आकर वे जौ चुग लिये। सुनारको सन्देह हुआ कि मुनिने ही जौ चुग लिये हैं। मुनिने पक्षीको चुगते तो देख लिया था परन्तु कहा नहीं। यदि कह देते तो सुनार उसे मार डालता और जौ निकाल लेता। सुनारने सन्देह हो जानेसे मुनिको बहुत कष्ट दिया और अन्तमें भीगे चमड़ेमें कस दिया जिससे उनकाशरीरान्त होगया और उन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त किया। मेरी समझमें यह कथा दिगम्बर सम्प्रदायमें हो भी नहीं सकती।

दश स्थितिकल्पोंके नामवाली गाथा जिसकी टीकासे अपराजितसूरिको यापनीय संघ सिद्ध किया गया है, जीतकल्प-भाष्यकी १६७२ नं० की गाथा है। श्वेताम्बर सम्प्रदायकी अन्य टीकाओं और निर्युक्तियोंमें भी यह मिलती है और आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्डके स्त्री-मुक्ति-विचार (नया एडीशन पृ० ३३१) प्रकरणमें इसका उल्लेख श्वेताम्बर सिद्धान्तके रूपमें ही किया है—

—“नाचालेक्यं नेष्यते (अपि तु ईष्यते व) ‘आचेलकुहेसिय सेज्जाहर रायपिंडकियिकम्मे’ इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात्।”

१-देखो आवश्यक-निर्युक्ति गाथा ८६७-७०।

२-चाण्डालिनीके लड़केका मुनि होना भी शायद दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुकूल नहीं है।

आराधनाकी ६६५ और ६६६ नम्बरकी गाथायें<sup>१</sup> भी दिगम्बर सम्प्रदायके साथ मेल नहीं खाती हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लब्धियुक्त और माया-चाररहित चार मुनि ग्लानिरहित होकर क्षपकके योग्य निर्दोष भोजन और पानक (पेय) लावें। इसपर पं० सदा-सुखजीने आपत्ति की है और लिखा है कि “यह भोजन लानेकी बात प्रमाणरूप नहीं है।” इसी तरह ‘सेज्जोगा-सण्णिसेज्जा’<sup>२</sup> आदि गाथापर (जो मूलाचारमें भी है) कविवर वृन्दावनदासजीको शंका हुई थी और उसका समाधान करनेके लिए दीवान अमरचन्द्रजीको पत्र लिखा था। दीवानजीने उत्तर दिया था कि “इसमें वैयावृत्ति करने वाला मुनि आहार आदिसे मुनिका उपकार करे; परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया है कि आहार स्वयं हाथसे बनाकर दे। मुनिकी ऐसी चर्चा आचारांगमें नहीं बतलाई है<sup>३</sup>।

आराधनाका चालीसवाँ ‘विजहना’ नामका अधिकार भी विलक्षण और दिगम्बर सम्प्रदायके लिए अभूतपूर्व है, जिसमें मुनिके मृत शरीरको रात्रि भर जागरण करके रखनेकी और दूसरे दिन किसी अच्छे स्थानमें वैसे ही (बिना जलाये) छोड़ आने की विधि

१-चत्तारिजणा भत्तं (पाण) उवकप्पंति अगिला-  
णए पाउग्गं।

छंडियमवगददोसं अमाइणो लद्धिसंपणा ॥

२-सेज्जोगासण्णिसेज्जा तहो उवहिपडिल्लिहण-  
हि उवगाहो।

—मूलाचार ३६१

आहारोसयभोयणविकिक्कणं वंदणादीयं ॥

—भगवती आराधना ३१०

३-देखो भ० आ० वचनिकाकी भूमिका पृष्ठ १२ और १३।

वर्णित है<sup>१</sup>। अन्य किसी दिगम्बर ग्रन्थमें अभी तक यह देखने में नहीं आई।

१५४४ नम्बरकी गाथामें कहा है कि घोर अवमोदर्य या अल्प भोजनके कष्टसे बिना संक्लेश बुद्धिके किये हुए भद्रबाहु मुनि उत्तम स्थानको प्राप्त हुए<sup>२</sup>।

दिगम्बर सम्प्रदायकी किसी भी कथामें भद्रबाहुके इस ऊनोदर-कष्टके सहनका कोई उल्लेख नहीं है।

४२८ वें नम्बरकी गाथा<sup>३</sup> में आधारवत्त्व गुणके धारक आचार्यको 'कम्पव्यवहारधारी' विशेषण दिया है और कल्प-व्यवहार निशीथ सूत्र श्वेताम्बर सम्प्रदायके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इसी तरह ४०७ नम्बरकी गाथा<sup>४</sup> में निर्यापक गुरुकी खोजके लिए परसंघमें जानेवाले मुनि की 'आचार-जीद-कम्पगुणदीवणा' होती है। विजयोदया टीकामें इस पदका अर्थ किया है—'आचारस्य जीद-संश्लितस्य कल्पस्य च गुण प्रकाशना।' और

१-देखो भ० अ० वचनिकाकी भूमिका पृष्ठ १२ और १३।

२-ओमोदारिए घोराए भद्रबाहु असंकलिष्टमदी।

घोराए विगिद्धाये पडिवरणो उत्तमं ठायं ॥

३-चोइस दसणवपुण्वी मतामदी सायरोव्व गंभीरो।

कम्पव्यवहारधारी होदिहु आधारवं णाभ ॥

४ आचारजीदकम्पगुणदीवणा अत्तसोधिनिज्झम्मा।

अज्जवम्मद्व-लाघवतुट्ठी पल्लादणं च गुणाः ॥

यही गाथा जरासे पाठान्तरके साथ १३० वें नम्बर पर भी है उसमें 'तुट्ठी पल्लादणं च गुणाः' की जगह 'भत्ती पल्लादकरणं च' पाठ है।

पं० आशाधरकी टीकामें लिखा है—'आचारस्य जीदस्य कल्पस्य च गुणप्रकाशना। एतानि हि शास्त्राणि रत्नत्रयतामेव दर्शयन्ति।' पं० जिनदास शास्त्रीने हिन्दी अर्थमें लिखा है कि 'आचार शास्त्र, जीत शास्त्र, और कल्प शास्त्र इनके गुणोंका प्रकाशन होता है।' अर्थात् तीनोंके मतसे इन नामोंके शास्त्र हैं और यह कहनेकी जरूरत नहीं कि आचारांग और जीतकल्प श्वेताम्बर सम्प्रदायमें प्रसिद्ध हैं

इन सब बातोंसे मेरा अनुमान है कि शिवार्य भी यापनीय संघके आचार्य होंगे। पण्डित जन सावधानीसे अध्ययन करेंगे तो इस तरहकी और भी अनेक बातें मूल-ग्रन्थमें उन्हें मिलेंगी जो दिगम्बर सम्प्रदायके साथ मेल नहीं खातीं। मैंने तो यहाँ दिग्दर्शन मात्र किया है। साम्प्रदायिक आग्रहसे और पाण्डित्यके जोरसे खींच-तान करके मेल बिठाया जा सकता है, परन्तु इतिहासके विद्यार्थी ऐसे पाण्डित्यसे दूर रहते हैं, उनके निकट सत्यकी खोज ही बड़ी चीज़ है।

अन्तमें मैं फिर इस बातपर जोर देता हूँ कि यापनीय संघके साहित्यकी खोज होनी चाहिए, जो न केवल हमारे प्राचीन मन्दिरोंमें ही बन्द पड़ा है बल्कि विजयोदयाटीका और मूलाराधनाके समान उसे हम अबतक कुछका कुछ समझते रहे हैं।

विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे श्रीवट्टकेरि आचार्यके मूलाचारकी भी जाँच करें कि कहीं वह भी तो यापनीय संघका नहीं है। कुछ कथाग्रन्थ भी यापनीय संघके मिल सकते हैं।





# मातृत्व

लेखक—

श्री० भगवन् जैन

‘फूलों की कोमलतामें, ज्योत्स्ना की स्निग्धताके भीतर और प्रकृतिके सु-विस्तृत-अंचलमें मिलती है मातृत्वकी हृदय-इष्टभावना...!...अकपट-प्रेम और आत्मीयताके पवित्र-बन्धनोंसे अलंकृत रहता है—मातृत्व !... जिसे समग्र-संसारकी निधियाँ भी नहीं खरीद सकतीं ! जो अमूल्यतासे ध्रुव सम्बन्ध रखता है !.....’

(१)

**डु**र्लभ दृष्टान्तोंमें उसे कहना चाहिए—नमूना !  
जैसी कि प्रायः देखने-सुननेमें नहीं आती,  
वह वैसी ही बात थी !.....

वसुदत्ता थी बड़ी, और वसुमित्रा थी छोटी । दोनों  
में अपार-स्नेह, अगाध-प्रेम ! और दोनों ही अनिघ-सुन्दरी,  
न बड़ी कम, न छोटी ज्यादा !

वर्णिक-वर समुद्रदत्त अपनी दोनों स्त्रियोंकी हार्दिक-  
कृता पर अतीव प्रसन्न ! घरमें स्वर्ग-सुख ! मनोमालि-  
न्य, ईर्ष्या, द्वेष और स्वभावतः होने वाला गृह-कलह  
नाममात्रको भी नहीं ! इससे अधिक चाहिए भी क्या ?  
फिर पति-प्रेम भी न्याय—संगत—दोनोंको बराबर बरा-  
बर प्राप्त था !

दिन आनन्दमें बीतते गए ।

इसी समय वसुमित्राको प्रसूति हुई । मरु-भूमिमें  
जैसे हरियाली पनपी ! चिर-पिपासित-नेत्रों की तृषा  
शमन होने को आई ! देखा—नवनीत-सा, बालक !  
चांद-सा सुन्दर, चांदनी-सा आह्लादकर ! सारा घर प्रसन्न-  
तामें डूबने-उतराने लगा !

समुद्रिकी गोदमें बैठे हुये इस छोटेसे परिवारको  
इसीकी आवश्यकता थी कि, तमसान्वित-भवन आलो-  
कित हो ! सुघड़, दृष्टि-प्रिय वल्लरी सन्मल, स-पुष्प हो !  
और वह हो सकता था एक पुत्र-रत्नकी प्राप्तिके द्वारा  
ही !... बालकका जन्मोत्सव एक महान् वृष्टिकी पूर्तिके  
रूपमें मनाया गया !

उज्ज्वल-भविष्यका क्रान्तिमय-पिएड-सा, वह सुको-  
मल-शिशु ! ऐसा लगता, जैसे परिवारके अपरिमित-  
हर्षका साकार केन्द्र-स्थल हो ! या—हो तीनों अधिकारी  
संस्दोंके मोदमय-जीवनका प्रथम-अध्याय !... दिन-का-  
दिन बीत जाता, रातके दो-दो पहर निकल जाते; तब  
भी वह बच्चेको खिलाते, चुमकारते और आनन्द लेते  
दिखलाई देते ! परीक्षाके लिए बैठे विद्यार्थीकी भाँति  
जैसे वह अध्ययनमें संलग्न हों ! और बार-बार फेल  
होनेके बाद, मिला हो परीक्षार्थियोंकी पंक्तिमें बैठनेका  
अवसर !...

इसके बाद भी—समुद्रदत्तको एक-ब्रात और देखने  
को मिली, जो उनके लिए असीम आनन्द-दायक थी !  
और दूसरे लोगोंके लिए विस्मय-जनक ! वह यह कि—

वसुमित्राको माँ बनते देखकर भी, प्रथम-पत्नी-वसुदत्ता-ईर्षालु न हुई ! न उसके हृदयमें विषादका अंकुर ही उगा ! बल्कि वह और भी सरस-हृदय, विनोदप्रिय और आनन्दी बनती गई !

बालक जितना वसुदत्ता पर खेलता, प्रसन्न रहता, उतना दूसरों पर नहीं ! वह अपनी माँ से भी अधिक वसुदत्ता पर हिल गया ! इसका कारण ?—मौलिक नहीं ! यही कि पालन-पोषणकी सावधानी और स्नेह-पूर्ण-दुलार ! इन्हीं चीज़ोंकी तो बालकको ज़रूरत थी । उस छोटेसे सुन्दराकार माँस-पिण्डको अभी साँसारिक-गम्भीर और विशद-अभिलाषाओंने दबाया ही कहाँ था, जो दिन प्रति बढ़ने वाली आवश्यकताएँ—उत्पीडन देतीं ? थोड़ा सा क्षेत्र और सीमित-इच्छा !...

स्वर्ग और नरककी परिभाषा करते समय यदि सांसारिक दृष्टिकोणको अधिक तरजीह दी जाए तो यही फल सामने आयेगा कि जहाँ मैत्री है, प्रेम है, हार्दिकता है, वहीं स्वर्ग है । और नरक उसकी संज्ञा है—जहाँ कलह, हत्या, पशुत्व और आत्म-हननकी साधनाएँ सद्भाव रखती हैं !...

तो ऐसेही स्वर्गीय-सुखोंमें बढ़ने लगा वह नवजात-शिशु ! जिसके पास—अन्य, शैशव-विभूतिवानोंसे—द्विगणित-मातृत्व था ! क्या चर्चा उसके भाग्योदय की ?

\* \* \*

[२]

कई वर्ष आए और चले गए !—

इस बीचमें कितना युगान्तर हुआ, इसका ठीक बतला सकना कठिन है ! दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, अयण और वर्षने समय समयमें जो परिवर्तन किया, वह सोचनेकी बात है !...

व्यापारके सुनहरे-प्रलोभनों और निवास-नगरकी असुविधाओंने समुद्रदत्तको नगर छोड़ देनेके लिये विवश किया । कुछ दिन बात टालमटूल पर रही ! आखिर वह दिन आकर ही रहा, जब समुद्रदत्त अपने छोटे-से परिवारको लिए, राजगृही आ उपस्थित हुए !...

उन दिनों 'राजगृही' महाराज श्रेणिककी राजधानी थी । जो अपनी न्याय-निष्ठा और कर्तव्य-परायणताके सबब काफ़ी ख्याति उपार्जन कर रहे थे !... उनके आधीनस्थ एक ऐसी शक्ति थी, जो उनसे अधिक विज्ञ, चतुर और राज-नीतिमें पारंगत थी । उसकी विलक्षणता के द्वारा होने वाले रहस्य-मय, उलझन-पूर्ण मामलोंके न्याय, संसारके लिए चर्चाके विषय बन जाते थे ! सह-योगी-शासक-वर्ग उन न्याय-पूर्ण रहस्योद्घाटनको देख-सुन अवाक् रह जाता, दांतों तले उंगली दाब जाता ! उस साकार-शक्तिका नाम था—अभयकुमार !

जो महाराजका प्यारा पुत्र था । प्रजाकी गंभीर और आशा-पूर्ण मुखरित वाणी थी ।... दूसरे शब्द में जनताका सहायक-नेता और अधिनायक सेनापति था । इसलिए कि शासनकी बागडोर अभी उसके हाथमें नहीं थी—युवराज था—वह !

\* \* \*

थोड़ा समय और निकल गया ।

अचानक समुद्रदत्त पर रुग्णता का प्रहार हुआ ! इस अरुचिकर-यवनिका-पातने सारे घरकी प्रसन्नताको अदर्शनीय बना दिया !... दोनों नारी-हृदय भयाकुल हो, तमसाच्छन्न-भविष्यकी डरावनी-कल्पनामें लीन होने लगे ! यथा-साध्य उपचार करनेमें कुछ त्रुटि न रह जाए, इसका सतर्कता-पूर्वक ध्यान रखा जाने लगा !...

जब तक संज्ञा-शून्य न हुए, किंचित भी होश और वाणी-प्रकाशनकी सामर्थ्य रही, बराबर समुद्रदत्त न-

रियोंके हृदयोंको सान्त्वनात्मक-शब्द और अमर आशा, बालकके मुकुलित-मुखको निरख निरख, सन्तोष प्रकट करते रहे !...लेकिन जब जीवन-नाटकके अन्त होनेका समय आ पहुँचा, तब किसीकी एक न चली !

और.....?—

और ड्राप-सीन होकर ही रहा ! अपने विषयके ज्ञाता भिषग्वरोंकी चेष्टाएँ, बहुमूल्य, दुर्लभ-प्राप्य-औषधियोंकी रामबाणकी तरह दुर्निवार-शक्तियाँ, चिताकी राखकी भाँति बेकार—निष्फल—साबित हुई !

फिर...?—विवशताका अवलम्ब !

दो नारी-कण्ठोंके हृदयवेधक क्रन्दनसे सदनकी चहार-दीवारें निनादित होने लगीं !...प्रकम्पित होने लगा—वायु-मण्डल !!

रौद्रताका ताण्डव !!!

लुट गया, सौभाग्य-सिन्दूर !

.....?

\* \* \*

[ ३ ]

तीसरे दिन—

पंचायतके सामने एक नई समस्या थी, नया मज्मून !.....

कहा गया—‘जिसका यह पुत्र है, वही सेठजीकी अपार-विभूतिकी स्वामिनी है !’

इस पर—

‘मेरा पुत्र है !’

‘नहीं, मेरा है !’

पंच-गण दंग !...विस्मित !! आश्चर्यान्वित !!!... क्या निर्णय दें ?—

इन सबके इतिहाससे अनभिज्ञ ! वह इतना ही जानते हैं—‘जाने कहाँसे आकर यह छोटा-सा स-विभू-

ति-परिवार यहां आ बसा है ! कुछ दिन हुए तभी ! ये दोनों स्त्रियाँ स्वर्गीय-सेठकी सहधर्मणी हैं । बालक पर अब तक दोनोंकी समान ममता दिखलाई देती रही है । पता नहीं, यथार्थमें माँ कौन है—इस सुन्दर-बालक की...?...

प्रजाके माननीय-प्रतिनिधियोंने राज-सत्ताका भय दिखलानेका रूपक बाँधते हुए कहा—‘एक पुत्रकी दो माताएँ नहीं हो सकतीं ! अवश्य ही, तुम दोनोंमें से एक का कहना ग़लत है ! शायद तुम नहीं जानतीं कि, इस प्रकार जिम्मेदारीके कार्यमें झूठ बोलना तुम्हारे लिये कितना हानिकारक हो सकता है ! बात अभी पंचायत के अधिकारमें है, जो प्रत्येक तरह की सहानुभूति तुम लोगों को दे सकती है ! और अगर पंचायत इस उल-झनको नहीं निपटा सकती तो उसका अर्थ—झगड़ेका दरबारमें पहुँचना और मिथ्याभाषिणीको कष्ट मिलना होता है !...सोचलो एकबार ! खुला सत्य है—यह !’

‘पुत्र मेरा है । इसे मिथ्या नहीं ठहराया जा सकता’ वसुदत्ताने दृढ़ स्वरमें कहा ।

‘...ग़लत ! झूठ कह रही है—बहिन ! पुत्रकी माँ, मैं हूँ ! पुत्र मेरा है !’ —वसुमित्राने कम्पित-स्वरमें व्यक्त किया !...सुंह पर थी अमर-उदासी !

‘प्रमाण—सुबूत ?’—पूछा गया ।

‘सुबूत ?’—वसुमित्रा सोचमें पड़ गई ! बोली—‘सत्यके लिये भी सुबूतकी जरूरत होती है—भाई ?... माँ, अपने पुत्रको कह सकने-भरका अधिकार नहीं रखती ?—उसके लिए भी सुबूत चाहिए ? यही सुबूत है कि यह मेरा पुत्र है, मेरा ही लाल है !’

...पंलग पर पड़ा बालक शिशु-जात-कल्पनाओंके साथ खेल रहा था ! विकार-वर्जित मुखपर खेल रही

थी—मृदु-मुस्कान !...

वसुमित्रा ने एकबार ममता-मयी दृष्टिसे बालककी ओर देखा और सिसकने लगी, जैसे उसके मातृत्वको ठेस लगी हो, किया गया हो निर्दयता-पूर्वक उसपर आघात !

प्रमुख-निर्णायकने अबकी बार वसुदत्ताकी ओर ताका !...

वह बोली—'ये सम्बन्ध सुबूतके मुहताज नहीं, क्रिया बतलाती है ! माँका नाता हार्दिक नाता होता है, वह जबर्दस्ती किसी पर लादा नहीं जा सकता ! न-उसके भीतर भ्रमके लिए स्थान ही है ! निश्चय ही वसुमित्रा को धन-लिप्साने इतना विवेकशून्य बना दिया है कि वह मातृत्व-तकको चुरा सकनेकी सामर्थ्य खोज रही है !'

न सुलभी, आखिर जटिल-उलझन ! लौट आए पंच ! कौन निर्णय दे कि कौन यथार्थमें माँ है, और कौन धन-प्राप्तिके लिए दम्भ रचने वाली ? दोनोंकी पुत्र पर समान-ममता, समान-स्नेह है ! आजसे, अभीसे, नहीं, जबसे समुद्रदत्तने यहाँ डेरा डाला, तभीसे लोगोंने इसी प्रकार देखा है ! प्रारम्भसे ही यह भ्रम जड़ पकड़ता रहा है !...

\*

\*

\*

[ ४ ]

न्यायालयमें !—

महाराज-श्रेणिकने गंभीरतापूर्वक वस्तु-स्थिति पर विचार किया । लेकिन समस्याका हल न खोज सके !

कहना पड़ा—'इसका न्याय-भार अभयकुमारको दिया जाय !'

और तभी उभय-पक्षके व्यक्ति युवराज राज-नीति-पण्डित—अभयकुमारके दरबारमें आउपस्थित हुए !

अनेक विद्वान-सभासद और कौतूहलकी अजय प्रेरणा-द्वारा प्रेरित जन-समूह विद्यमान था ! सब, इस विचित्र-न्यायको देखनेके लिए लालायित थे !... तीक्ष्ण बुद्धि-द्वारा दम्भके माया-जालसे मातृत्वको खोज निकालना था !...

'पुत्र किसका है ?'

'मेरा... !'

'नहीं, मेरा है !'

'तो फिर झगड़ा क्या है' दोनोंका ही सही ! दोनों प्रेम करती हो ?'

'हाँ !'—दोनोंका एक ही उत्तर !

'लेकिन प्रेम और मातृत्व दो अलग-अलग चीजें हैं । प्रेम सार्वजनिक है और मातृत्व व्यक्तिगत ! प्रेम दोनों कर सकती हो, लेकिन माँ दो नहीं बन सकती !'

श्मशान-शान्ति !

कोई चिन्ता नहीं ! न्यायकी कसौटीको झूठ भुलावा नहीं दे सकता ! अगर अब भी चाहो, सच बतला दो ! अभयकुमारने दोनोंकी ओर समानतासे देखते हुए कहा ।

मेरा... पुत्र है !' वसुमित्राके वाष्पाकुलित कण्ठसे निकला !

'झूठ कह रही है, पुत्र मेरा है !'— वसुदत्ताने जमी हुई आवाज़में निवेदन किया ।

'ठीक !' अभयकुमारने प्रहरीसे कहा—'एक छुरा लाओ !'

छुरा लाया गया !

दर्शक-नेत्र विस्फारित हो, देखने लगे ! वसुमित्राका मुँह सूखने लगा ! आँखें निर्निमेष !...

वसुदत्ता अटल खड़ी रही !

दूसरे ही क्षण—

बालकको लिटाया गया ! हाथमें चमचमाता हुआ

छुरा लेकर अभयकुमारने कहा— ‘जब दोनों ही इसकी माँ हैं तो न्याय कहता है—दोनोंको बराबर-बराबर अधिकार है ! उसी न्यायकी दुहाई देकर मैं बच्चेके दो-टुकड़े कर, दोनोंको दे देना चाहता हूँ ! कहो, ठीक है न ?’—एक भेद-भरी निगाहसे चारों ओर देखा !

...और उत्तरकी प्रतीक्षा किए बिना ही छुरा बालक के शरीर पर रखने लगे कि....!

‘न मारो, बच्चेको !...उसीका पुत्र है, मैं तो व्यर्थ ही झगड़ रही थी !...मैं कुछ नहीं कहती—कुछ नहीं चाहती, पर बच्चेको न मारो ! फूल-सा बच्चा...!’

अविरल-आँसुओंकी धारा बहाती हुई वसुमित्रा पगलीकी तरह दौड़ी ! वह इस समय अपने ‘आपे’ में न थी ! नहीं जानती थी—कहाँ है ? कौन है ? क्या कर रही है ?...

और वसुदत्ता ?—अपने स्थान पर शूलीके लट्टेकी भांति अचल खड़ी थी ! जैसे प्रतीक्षा कर रही हो—अर्ध-खण्ड बालककी ! विपुल-सम्पत्तिका आधा-भाग !

अभयकुमारके मुँह पर उषाकी सुनहरी-सुरकान खेल उठी ! छुरेको दूर फेंक कर बोले—‘दृढ़ और उमंग

भरे स्वरमें—‘बालककी माँ वसुमित्रा है ! उसीके पास मातृत्व है ! ममता, मोह, और हार्दिकता सभी कुछ इसके प्रमाण हैं !...वसुदत्ता प्रेमकी आड़में धनकी अभिलाषिणी है—कोरा दम्भ है उसका ! वह मातृत्वकी पवित्र-महानतासे कोसों दूर है !...विपुल-विभूतिको ठुकरा कर भी जो बालकका जीवन सुरक्षित चाहता है, वही आदर्श मातृत्व है !’

उपस्थित जनता न्याय-शैलीकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगी ! अभयकुमार पर सभासदोंकी श्रद्धा-सी उमड़ पड़ी !

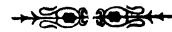
मुँहसे अनायास निकला—‘वाह !’...

\* \* \*

[ ५ ]

इसके बाद—

बस, अब इतनी ही बात कहना और शेष है कि मातृत्वको मिश्री-सा मधुर कल-कण्ठ-सा—‘माँ’ कहने वाला बालक मिला और मातृत्वको कलंकित या दम्भ साबित करने वाली वसुदत्ताको मिला—अप्रमान, घृणा की दृष्टि और राज्य-दण्ड !!!



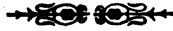
## सुभाषित

“तुम गोरार्इमें चन्द्रमाको भी मात करने वाले हो तो क्या, यदि वाणीमें कटु-वाक्य भरे पड़े हैं। एक जापाना नीतिकारका कहना है—“रत्नमें पड़ा हुआ दाग खराद पर चढ़ाकर निकाला जा सकता है, परन्तु हृदयमें लगा हुआ कुवाक्यका दाग मिटाया नहीं जा सकता।”

“वाणी व्यक्तित्वका परिचय देनेमें प्रथम है, क्योंकि अन्य गुण तो साथ रहने पर धीरे-धीरे प्रकट होते हैं, पर वाणीकी गरिमा तत्काल प्रकट होती है। इसके द्वारा सर्वथा अपरिचितको भी थोड़े वार्तालापमें ही स्नेह और सहानुभूतिके सूत्रमं बान्धा जा सकता है। दिव्य वाणी बोलने वालोंके लिये संसारमें चारों तरफ—अमीर-गरीब, परिचित-अपरिचित सबके द्वार स्वागतके लिये खुले रहते हैं। उनके मगमें लोग पलक-पाँवड़े बिछा देते हैं। ऐसा सम्मान छत्रधारी सम्राट होने पर भी शायद ही कोई पा सके।”

# उस विश्ववन्द्यविभूतिका धुंधला चित्रण

[ ले०—श्री देवेन्द्रजी जैन ]



**म**गवान् महावीरका जीवन संसारके उन इनेगिने जीवन-रत्नोंमेंसे है जिनकी दमकती हुई प्रकाश-रेखाने भूले-भटके विश्वको सुपथ पर लगाया था ।

महावीर-जन्मके पूर्वमें संसारकी हालत बिल्कुल गिर चुकी थी । मानवोंके दिमाग प्रायः गुलाम थे । पंडितों और पुरोहितोंकी आज्ञा पालन करना ही उनका धर्म बन गया था । उस समय धर्मकी वेदीपर जितने प्राणियोंका बलिदान किया गया था उतना शायद विश्वके इतिहासमें कभी भी न हुआ होगा । बलिवेदियों पर चढ़े प्राणियोंके छिन्न-भिन्न रुण्ड मुण्डोंके संग्रहसे हिमालय जैसी गगनचुम्बी चोटियाँ चिनी जासकती थीं और रक्त-प्रपातसे गंगा-यमुना-सी नदियाँ बहाई जा सकती थीं । विश्वकी उस बेवसी और बेकसीके दिनोंमें वीरका जन्म इन्द्रपुरीसे इठलाते और नन्दनवन-से विकसित, कुण्डलपुर नगरमें हुआ था । उनके पिताका नाम था सिद्धार्थ और माताका नाम था त्रिशला देवी । यथेष्ट वैभव-सम्पन्न माता-पिताका अपने इकलौते लाल पर अधिक प्यार था; अतः इनका लालन-पालन भी निराली शानसे हुआ था ।

बालकपनसे ही वीर एक चतुर एवं निडर खिलाड़ी थे । कच्ची एवं कोमल किशोरावस्थामें ही वे ऐसे भयङ्कर प्रसङ्गोंका सामना सहज ही में कर चुके थे जिनकी कल्पना भी मौजूदा नवयुवकोंका दिल दहला सकती है । एक दिनकी घटना इस प्रकार है—वन-क्रीड़ाके समय वृत्तकी जड़से एक विशालकाय कृष्ण सर्पको लिपटा

हुआ देखकर उनके साथी राजकुमार तथा सामन्त-पुत्र भाग खड़े हुए, पर वीरने निर्भयतापूर्वक सर्पके फनको रोंध डाला, अन्तमें वीरके चरणोंकी चोटसे आहत हुए उस महानागरूपधारक मायावी देवने वीरके चरणोंको चूमकर क्षमा माँगी तथा उनका नाम 'महावीर' रखा । न जाने ऐसी कितनी घटनाएँ वीरके दिव्य जीवनमें घटी होंगी, जिन्हें वे लीला ही समझते रहे । अस्तु ।

समय दिन-रातके पंख लगाकर उड़ता गया । वीरके सुन्दर शरीरसे यौवनकी मदमाती रेखाएँ फूट पड़ीं । पिताने विवाहके लिए प्रस्ताव किया । परन्तु वीरने दृढ़तापूर्वक किन्तु नम्रता भरे शब्दोंमें कहा—पिताजी ! मेरे जीवनका ध्येय गुमराह विश्वको सन्मार्ग दिखलाना और ऊँचे उठाना है । अतः मैं शादीका सेहरा ब्रूधानेके लिये अपनेको असमर्थ पाता हूँ । वह मेरी तपस्याका सबल बाधक है ।'

माताने ममता भरी-वाणीमें कहा—बेटा ! तेरे बिना मैं जीवित न रह सकूँगी । ओ मेरी आँखोंके तारे ! मेरे लाड़ले लाल ! तेरी यह किशोरावस्था, उठता हुआ यौवन, गुलाबी बदन, लम्बी लम्बी भुजाएँ, विशाल वक्ष-स्थल और यह सुहावना सुकुमार शरीर क्या तपस्यामें झुलसा देनेके लिये है ?

प्रत्युत्तरमें वीरने कहा—मां ! यह आपका केवल व्यामोह है । क्या कोई भी दयालु दिल यह बात गवारा कर सकता है कि जब दर्दभरे नारोंसे नभके भी मौन-प्रदेश गूँज उठे हों, आहिमाम् आहिमाम्की

आवाज़ें उसके कानोंसे टकराकर अनन्तमें व्यास हो रही हों तब वह रंगरेलियोंमें मस्त रहे ? यदि विषय-भोग मानवको संतुष्ट और मुक्तकर सकते तो भरत जैसे भारते-श्वर क्योंकर भव्य भाण्डारोंको टुकराकर वनकी राह लेते ?

वीरके इस प्रकारके एक एक करके सभी शब्द आगके धधकते शोले थे, जिन्होंने मांकी ममताका जनाज़ा जला डाला । और तब राजमाताने दीक्षाकी आज्ञा देदी ।

वीर भी दुनियाँकी ऐशो-इशरतको टुकराकर वनके उस शान्त प्रदेशको चले गये जहाँ प्रकृति अपनी अनुपम छटा दिखला रही थी । वनके उस हरियाले वैभवमें वे भी अपनी सदियोंसे बिछुड़ी निधिको खोजने-में व्यस्त हो गये !

अब उनका जीवन एक तपस्वी जीवन था । वह बाल सुलभ-चंचलता विलीन हो चुकी थी । वहाँ न राग था, न रंग और न द्वेष तथा दम्भ । कर्मों पर विजय हासिल करके आत्म विकास करना उनकी एकमात्र साधना थी, जिसके लिये वे कठोरसे कठोर यातना भी सहनेको कटिबद्ध थे । अतः उन्होंने अपनी सारी शक्तियाँ इसी मोर्चे पर लगादीं ।

कंकरीली, नुकीली, ऊबड़-खाबड़ जमीन उनका बिस्तर थी और खुला आसमान था चादर ! इस सेजके सहारे सदीकी बर्फीली रातें और गर्मीके आग-से दिन यों ही बिता देते थे ।

समाधि उनकी साधनाका साधन थी कोमल सेज तथा मुलायम गलीचों पर आराम करने वाला उनका सुकुमार शरीर काफी कठिन एवं कृश हो चुका था । वर्षाकी वज्रभेदी बौछारें उन्हें नहला जातीं, गर्मीकी सनसनाती झपटें तपा जातीं और सदीकी ठंडी हवा उनसे किल्लोलें

करनेमें अपना अहोभाग्य मानती थी । बर्फीली, नुकीली एवं तवा-सी तपी दरदरी चट्टानें उनकी आसना थीं । पर यह सब आयोजन अपनी मुक्ति तथा संसारके उद्धारके लिये था, न कि महादेवकी तरह पार्वतीको रिक्तानेके लिये अथवा अर्जुनकी तरह शत्रु-संहारके वास्ते ।

अन्तमें बारह वर्षकी कड़ी तपस्याके बाद उन्हें सफलता-देवीने अपनाया और वे केवलज्ञानको प्राप्त कर विश्वोद्धारको निकल पड़े । उन्होंने संसारको सत्य और अहिंसाका पूर्ण सारगर्भित मार्मिक उपदेश दिया विश्वको भाईचारेका सफल पाठ पढ़ाया और मानवोंकी दिमागी गुलामीको दूर कर उन्हें पूर्णस्वाधीनता (मुक्तिमल आज़ादी) प्राप्त करनेका मार्ग सुझाया, जिसे आज भी पराधीन भारतकी कोटि कोटि जनता एककण्ठसे पुकार रही है ।

इस प्रकार अपना और लोकका हितसाधन करके वीर भगवान् ७२ वर्षकी उम्रमें मुक्तिको प्राप्त हुए और लोकके अग्रभागमें जा विराजे ।

यह है उनके विशाल-जीवनकी नन्हों-सी कहानी, जो कि उनके जीवन-पटपर धुंधलासा प्रकाश फेंक सकती है । वास्तवमें वीरका जीवन एक ऐसा महान् ग्रन्थ है जिसके प्रत्येक पत्रके प्रत्येक पृष्ठकी प्रत्येक पंक्तिमें 'अहिंसा महान् धर्म है' 'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' 'सत्य कहीं नहीं हारता' 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चरित्र ही मोक्षमार्ग है'—जैसे मुक्तिपथ-प्रदर्शक सूत्र भरे पड़े हैं । सोचो—यदि भगवान् महावीरका जीवन-ग्रन्थ न होता तो फिर हम जैसे अल्पज्ञ इन विस्मृत महान् सूत्ररत्नोंकी मांकी, कहाँ, कैसे और किससे पाते ?

७२ वर्षके लम्बे चित्रणमें वीरका जीवन क्रमसे

अनेक रूपोंमें आता है। कभी वह बाल्लीलाके आवेगमें सर्पराजको रोधते हैं, कभी नग्न साधुके वेशमें कर्मोंके खिलाफ जिहाद बोल देते हैं और कभी एक उपदेशकके रूपमें निखिल विश्वको मंगलमय मार्गकी ओर इंगित करते हैं। किन्तु उन सब रूपोंमें एक ही झलक झलकती है, और वह यह कि तुम निडरता एवं सच्ची लगनसे सत्य और अहिंसापर कायम रहो। आत्म-बलमें विश्वास रखो, फिर आगके धधकते शोले झक झोर आँधीका अंधड़ और तूफानी बादल भी तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। बस, यही सफलताकी सच्ची कुँजी है। उस समय उनकी उच्चतम शिक्षाओंको विश्वने हृदयसे माना और उनके अनुकूल आचरण भी किया। फलतः एकबार फिर विश्व-प्रेमकी लुस लहर लहरा उठी।

परन्तु खेद है कि कुछ असें बाद फिर वही धार्मिक कुटुआ और हत्याके नज़ारे भारतभू पर पनप उठे ! जिनके प्रत्यक्ष सबूत कलकत्तेके कालीघाटके रूपमें आज भी मौजूद हैं, जिसे यदि धार्मिक हत्यासदन (मज़हबी ज़िबहखाना—स्लाटर हाउस) भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। तथा इन्हींकी बदौलत ही मिस मेयो-सी ग़ैरजिम्मेदार स्त्रीको भी भारतसे विज्ञान-तिलक, धर्मप्रधान देशको 'मदर आफ़ इंडिया'

नामक किताब खिताबमें देनेका साहस हो सका।

यह ध्रुव सत्य है कि यदि भगवान् महावीर न होते तो विश्व अपने कोने-कोनेमें कलकत्ताका कालीघाट होता और पगपग पर पतित-पावन कही जानेवाली गंगा और यमुनाकी जगह नरककी रक्तमयी वैतरणी इठलाती इतराती-सी नज़र आती। तब शायद हमारा और आपका भी जीवन किसी हवनका शाकल्य बना दिया जाता।

पर यह उस विश्ववन्द्य विभूतिके महान् जीवनकी अमर देन है, जो कि हम आज इस बर्बरता और अशान्तिके युगमें भी सत्य और अहिंसाके सहारे बाधाओंकी दुर्जय चट्टानोंको चीरकर अपने भ्येयकी ओर बढ़ रहे हैं।

वीरका जीवन आज भी हमें गाँधीके रूपमें अपनी संस्कृति एवं सभ्यता पर स्थिर रहनेको 'गित कर रहा है। अतः आओ, उनकी शासन-जयन्तीके पुनीत अवसर पर—आवणकृष्णप्रतिपदाके दिन—उनके दिव्यसंदेशको विश्वके कोने कोनेमें पहुँचानेकी योजनाकर अपने कर्तव्यका पालन करें, उनके ऋणसे उद्धार होनेका यत्न करें और जीवित जौहरके ज़रिये जगतीमें ज़िन्दादिली भर दें, जिससे कि सारा विश्व आज़ादी एवं अमनचैनसे रह सके।

## विविध-प्रश्न

प्र०—इन कर्मों के क्षय होनेसे आत्मा कहाँ जाती है?

उ०—अनंत और शाश्वत मोक्षमें।

प्र०—क्या इस आत्माकी कभी मोक्ष हुई है?

उ०—नहीं।

प्र०—क्यों?

उ०—मोक्ष-प्राप्त आत्मा कर्म मलसे रहित है, इस

लिये इसका पुनर्जन्म नहीं होता।

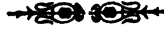
प्र०—केवलीके क्या लक्षण हैं?

उ०—चार घनघाती कर्मोंका क्षय करके और शेष चार कर्मोंको कृश करके जो पुरुष त्रयोदश गुण-स्थानकवर्ती होकर विहार करते हैं, वे केवली हैं।

—राजचन्द्र

# मज़दूरोंसे राजनीतिज्ञ

[ ले०—बाबू माईदयाल जैन, बी. ए. बी. टी. ]



एक ज़माना था जब कि राष्ट्रोंके भाग्य-विधाता-कुछ इने गिने प्रसिद्ध तथा उच्च धरानोंसे सम्बन्ध रखते थे और साधारण जनताके लिए उन पदोंकी आकाँक्षा करना 'भोपड़ीमें रहना और महलोंके स्वप्न देखना' समझा जाता था। किन्तु इतिहास ऐसे उदाहरणोंसे भरा पड़ा है जिनमें व्यक्तित्वशाली, पराक्रमी तथा वीरपुरुषोंने अत्यन्त साधारण स्थितिसे उठकर महानता प्राप्त की और राज्यों तकको हासिल किया है। उनके संचालनमें महत्वपूर्ण कार्य किया है। भारतवर्षमें चाणक्य, हैदरअली, शिवाजी, क्लाइव, वारनहेस्टिंगस, इंग्लैण्डमें रैम्जेमैकडानल्ड, फारिसमें नादिरशाह, फ्रांसमें नेपोलियन, इटलीमें मैज़ेनी, अमेरिकामें अब्राहमलिंगन आदि ऐसे बहुतसे प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, मंत्री तथा राजा हुए हैं जिनके नाम आज भी सबको विदित हैं।

प्रजातंत्रवादके इस युगमें आज साधारणसे साधारण मनुष्यको भी बड़ा बननेके उतने ही मौक़े मिल सकते हैं जितने कि बड़े आदमियोंको। इस बातसे ग़रीबोंको प्रोत्साहन मिलना चाहिए कि उनके लिए भी बड़ेसे बड़े पदोंके लिए द्वार खुला हुआ है। प्रश्न केवल योग्यता प्राप्त करनेका है।

अभी इस सितम्बरके (Illustrated Weekly of India) 'इल्लस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इण्डिया' में एक लेख छपा है, जिसमें वर्तमान यूरोपके कई देशोंके डिक्टेटर्स, प्रधानमंत्रियों तथा राजनीतिज्ञोंका हाल निकला है, जो कि अपनी बाल्यावस्थामें अत्यन्त साधारण मज़दूर या कृषक थे। उस लेखका सारांश अने-

कान्तके पाठकोंके लिए यहाँ दिया जाता है:—

जर्मनीका डिक्टेटर हर हिटलर ईट-मिट्टी दोनेवाला मज़दूर था और बादमें वह वीआनानामें मकानोंको रंगनेका काम करता था।

इटलीका डिक्टेटर मुसोलिनी एक कसाईका नौकर था और अपने काममें असफल था।

एस्थोनिया—जो कि बाल्टिक समुद्रके किनारे एक छोटी सी रियासत है—का प्रेज़ीडेंट कौनस्टेंटिन पैट्स एक मकान बनानेवालेका लड़का है और वह पहले समाचारपत्रोंमें काम करके अपनी आजीविका कमाता था। उसकी अपनी बहुत ही थोड़ी सी भूमि है।

कौनस्टेंटिनका दाय़ा हाथकार्ल ऐनशपलू आन्तरिक मंत्री भी समाचार पत्रोंके दफ़तरमें काम करनेवाला था।

डेन्मार्कका प्रधान मंत्री थौरवाल्ड स्टानिग लुहारका लड़का है। और उसे बारह वर्षकी छोटी उम्रमें ही तम्बाकूके कारख़ानेमें काम करने जाना पड़ा था। किन्तु उसमें महत्वाकांक्षा थी। शीघ्र ही वह समाचारपत्रोंमें लिखनेका काम करने लगा। अब भी वह डेन्मार्कके प्रसिद्ध समाचारपत्रके सम्पादकमंडलमें है।

स्वीडनका प्रधान मंत्री पी०ए० हैनसन ईट बनानेवालेका लड़का है और उसे बचपनमें ही वह काम करना पड़ा था। इसके पश्चात् उसने भी समाचारपत्रोंके लिए लिखना आरम्भ किया।

नारवेका प्रधानमन्त्री जौहन नटयार्डसवोल्ड मज़दूर तो नहीं पर एक कृषकका लड़का है। उसने लकड़ी

चीरनेके कारखानेमें काम आरम्भ किया और फिर रेलकी लाइनों पर प्लेट रखनेका भी काम किया है।

रुमानियाका श्रेष्ठ प्रधानमंत्री जनरल एवरशु एक कृषकका लड़का था।

रुमानियाका कृषि-मंत्री आई ओन मिहिलेचू एक कृषकसे अध्यापक बना था। वह उच्च आदर्शोंका एक अच्छा व्याख्याता था।

रुमानियाका एक और उच्चकोटिका राजनीतिज्ञ ब्रेटियानू एक रेलवे इंजीनियर था।

रुमानियामें ही एक पादरी पैट्रीआर्क क्रिस्टी राज्यका कर्ता-धर्ता था और उसकी मृत्यु मार्च सन् १९३६ में हुई है।

ज़ेकोस्लोवेकियाका भूतपूर्व प्रधानमंत्री डाक्टर बेनेस एक किसानका लड़का था और उसने अपने प्रयत्नसे ही इस उच्चपदको प्राप्त किया था।

बल्गेरियाका माहीद विधाता स्टाम-बुलौफ़ बहुत

ही छोटे घरका था और उसका बाप एक छोटी-सी सरायका मालिक था।

बल्गेरियाका एक और डिक्टेटर ऐलैगज़ैण्डर स्टाम् बोलिऐकी एक किसानका लड़का था, जिसका छोटा-सा खेत था।

लैटवियाका प्रेज़ीडेंट कार्लिस उलमानिस छोटे कुलका है। यह सन् १९३६ से इस पदका कार्य कर रहा है।

रूसका वर्तमान डिक्टेटर जोसेफ़ स्टेलिन पहले एक समाचारपत्रका काम करनेवाला था। युद्धमन्त्री मार्शल वोरोशिलोफ़ने सात वर्षकी अल्पायुमें कोयलेकी खानमें मज़दूरी कमायी आरम्भ की थी। उसका बाप एक खान खोदनेवाला था। और उसकी माता किसी घरमें नौकरनी थी।

समस्त रूसकी पुलिसका अफ़सर निकोलाई यज़ोफ़ एक कारखानेमें पहले मज़दूर था।

## विविध-प्रश्न

प्र०—केवली तथा तीर्थकर इनदोनोंमें क्या अन्तर है ?

प्र०—उसे किसने उत्पन्न किया था !

उ०—केवली तथा तीर्थकर शक्तिमें समान हैं, परन्तु

उ०—उनके पहलेके तीर्थकरोंने।

तीर्थकरने पहले तीर्थकर नाम कर्मका बन्ध किया है, इसलिये वे विशेषरूपसे चारहगुण और अनेक अतिशयोंको प्राप्त करते हैं।

प्र०—उनके और महावीरके उपदेशमें क्या कोई भिन्नता है ?

प्र०—तीर्थकर घूम घूम कर उपदेश क्यों देते हैं ? वे तो वीतरागी हैं।

उ०—तब दृष्टिसे एक ही हैं। भिन्न २ पात्रको लेकर उनका उपदेश होनेसे और कुछ काल भेद होनेके कारण सामान्य मनुष्यको भिन्नता अवश्य मालूम होती है, परन्तु न्यायसे देखने पर उसमें कोई भिन्नता नहीं है।

उ०—पूर्वमें बाँधे हुए तीर्थकर नामकर्मके वेदन-करनेके लिये उन्हें अवश्य ऐसा करना पड़ता है।

प्र०—इनका मुख्य उपदेश क्या है ?

प्र०—आज कल प्रचलित शासन किसका है ?

उ०—उनका उपदेश यह है कि आत्माका उद्धार करो, आत्मामें अनन्त शक्तियोंका प्रकाश करो, और इसे कर्मरूप अनन्त दुःखसे मुक्त करो।—राजचन्द्र

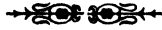
उ०—श्रमण भगवान् महावीरका।

प्र०—क्या महावीरसे पहले जैन-दर्शन था।

उ०—हाँ, था।

# दर्शनोंकी स्थूल रूपरेखा

[ ले०-श्री १० ताराचन्द्र जैन, दर्शनशास्त्र ]



**वि**श्वके रहस्यको स्पष्ट प्रकट करने वाले उपाय, हेतु अथवा मार्गको 'दर्शन' कहते हैं; या यूँ कहिये कि जिसके द्वारा संसारकी कठिनसे कठिन उलभी हुई गुत्थियाँ सुलझाई जाती हैं उसका नाम 'दर्शन' है। जिस प्रकार संसारकी प्राकृतिक रचना-पर्वत, समुद्र, स्थल, देश, नद-नदी, पशु, पक्षी, झरना, जल-प्रपात आदिके सौन्दर्य और भयंकरताको देखकर कविका हृदय प्लावित हो जाता है। स-हृदय कवि जीवनके उत्थान-पतनकी घटनाओंसे अपनेको पृथक् नहीं रख सकता, उनमें तन्मय हो जाता है और भावनापूर्ण कविका हृदय संसारके परिवर्तनोंसे सिहर उठता है। उसी प्रकार दार्शनिकका प्रतिभापूर्ण मन भी संसारकी उथल-पुथल और जीवनकी विषम-अवस्थाओंसे निजको दूर नहीं रख सकता उन्हींमें घुल-मिल-सा जाता है। दार्शनिक उन सब अवस्थाओंकी गुत्थियोंको सुलझानेका पूर्ण प्रयास करता है। मैं क्या हूँ? यह संसार क्या है? मैं कहाँसे आया और मुझे कहाँ जाना है? इत्यादि प्रश्नोंकी उधेड़ बुनसे दार्शनिकका मस्तिष्क सराबोर रहता है। इसी तरहके प्रश्नोंकी उपज ही दर्शन शास्त्रका आद्य स्थान है और इस तरहके प्रश्न प्रायः प्रत्येक दार्शनिकके उर्वर मस्तिष्कमें उत्पन्न हुआ करते हैं।

विश्वके रहस्यका उद्घाटन करना कितना कठिन है, यह एक दार्शनिक ही समझ सकता है। कोई एक मामूली सी घटनाको ही ले लीजिये; जब उस घटनाका विश्लेषण करने लगते हैं तो उसमें उसी तरहकी अनेक

उलभी हुई घटनाएँ नज़र आने लगती हैं और उस घटनाके विवेचनमें यह कहावत अक्षरशः चरितार्थ होने लगती है—'ज्यों केराके पातके पात-पातमें पात'। इतने दुरूह, अत्यन्त गूढ़ और दुरवबोध विश्वतत्त्वके रहस्यके खोज निकालनेका भार दर्शन (Philosophy) ने अपने ऊपर लिया है। दार्शनिकका भावुकतापूर्ण हृदय अपनी सामर्थ्य भर इस रहस्यके खोजनेमें तन्मय हो जाता है।

जानी हुई दुनियाँमें सुदीर्घ कालसे अनेक दार्शनिक होते चले आये हैं, उनमें जिनकी जहाँतक सूझ और प्रतिभा पहुँच सकी वहाँ तक उन्होंने विश्वके रहस्यकी विशद एवं भद्र विवेचनाएँ की हैं। अनेकोंने अपना सारा जीवन विश्व प्रपंचके समझने तथा समझकर उसको मानव-समाजके सामने रखनेमें लगाया है। बहुतसे दर्शन उत्पन्न होनेके बाद अपने जन्मदाताओंके साथ ही विलीन होगये और कतिपय दर्शन अपने अनुयायियोंकी विरलता आदि उपयुक्त साधनाभावके कारण अपनी नन्हों सी भाँकी दिखाकर नाम शेष होगये। जिन दर्शनोंके आविष्कर्ताओंने अपने दर्शनोंका संसारमें प्रचार किया और लोगोंके एक बड़े समूहको अपने मत का अनुयायी बनाया, वे आज भी संसारमें जीते-जागते नजर आ रहे हैं। जो दर्शन आज भी मानव-समाजके सामने मौजूद हैं, वे सभी उच्च, पूर्ण-सत्य एवं निर्दोष नहीं कहे जा सकते। इनमें कोई विरला दर्शन ही उच्चतम, सर्वसत्त्वहितैषी, पूर्णसत्य और निर्दोष होना

चाहिये। यद्यपि यह कह सकना बहुत कठिन है कि अमुक दर्शन पूर्वोक्त उच्चतम आदि विशेषणोंके सर्वथा उपयुक्त है, तथापि दर्शनोंकी उपलब्ध विवेचनाओं पर ध्यान आकृष्ट करनेके बाद जिस दर्शनकी विवेचना-मस्तिष्ककी उलझी हुई गुत्थियोंको सुलभावे और संसार का कल्याण करनेमें अमोघ साबित हो वही सर्वोत्तम समझा जाना चाहिये।

दृश्यमान जड़ और चेतन जगतके रहस्यका अन्वेषण किस दर्शनने कितना किया है, यह जाननेके लिये उन दर्शनोंकी विवेचनाओं पर एक सरसरी नज़र डाल लेना आवश्यक है। यद्यपि दुनियाँके तमाम दर्शनोंके मन्तव्योंके विषयमें यहाँ ऊहापोह नहीं किया जा सकता और न उन सब दर्शनोंकी मुझे जानकारी ही है, तो भी यहाँ पर कतिपय मुख्य दर्शनों (जिन दर्शनोंमें ही प्रायः अन्य दर्शनोंका अन्तर्भाव हो जाता है) की तरफ ध्यान आकृष्ट करना बहुत ज़रूरी है। संसारमें जितने भी दर्शनोंका जन्म हुआ है उनका चार भागोंमें बटवारा किया जा सकता है—(१) वे दर्शन जो केवल ईश्वरको ही मानते हैं, (२) एकमात्र प्रकृति अर्थात् जड़ पदार्थ को मानने वाले दर्शन, (३) वे दर्शन जो ईश्वर, जीव और प्रकृतिको मानते हैं, (४) और वे दर्शन जो जीव तथा अजीव प्रकृतिको स्वीकार करते हैं। इन चार मान्यताओंमेंसे किसी न किसी एक मान्यतामें इस अखिल विश्व-मण्डलका रहस्य छिपा हुआ है, जिसके लिये ही उक्त मान्यताएँ और उनकी शाखा-प्रशाखारूप दर्शन उपपन्न हुए।

यद्यपि इन मान्यताओं और इनसे सम्बन्ध रखने वाले दर्शनोंकी रूपरेखा खींचनेके लिये महती विद्वत्ता तथा समयकी प्रचुरताकी बहुत आवश्यकता है, ये बातें जिन विद्वानोंके पास संभव हों वे 'दर्शन' पर एक अच्छा

ग्रन्थ निर्माण कर सकते हैं। इस समय मेरा न तो दर्शन ग्रन्थ निर्माण करनेका विचार है और न मुझे उतनी बड़ी जानकारी ही है। परन्तु यहाँ पर (इस लेख में) इन मान्यताओं पर कुछ प्रकाश डालना ज़रूरी है, जिससे यह मालूम हो सके कि अमुक मान्यता वा दर्शन सत्य तथा मंगलप्रद है और अमुक मान्यता वा दर्शन मिथ्या और अमंगलप्रद है। उपर्युक्त ईश्वर आदिकी मान्यताओंका ठीक ज्ञान होते ही दार्शनिकके मस्तिष्कमें उठने वाले 'मैं क्या हूँ?' यह विश्व क्या है? इत्यादि प्रश्नोंका सरलतासे हल निकल आता है। और इन प्रश्नोंका निर्णय होते ही दर्शनका कार्य समाप्त हो जाता है, इसलिये कहना होगा कि प्रकृति, जीव और ईश्वर इन तत्वोंमें ही विश्वका रहस्य अभिभूत हो रहा है तथा इनका विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है।

जिन दर्शनोंमें केवल ईश्वर ही माना गया है, उनका कहना है कि—अबसे सुदीर्घ काल पहले इस चराचर विश्वका कोई पता न था, एकमात्र ईश्वर ही का सद्भाव था। इस मान्यताको स्वीकार करने वाले दर्शनोंमें मुस्लिमदर्शन, ईसुदर्शन आदि प्रमुख हैं। मुसलमान और ईसाई दार्शनिकोंका कहना है कि अबसे बहुत समय पहले एक समय ऐसा था जब इस जड़ और चेतन जगत् का नामोनिशान भी न था, केवल एक अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, पूर्ण ईश्वर अर्थात् खुदा गॉडका ही अस्तित्व था। यद्यपि ईश्वर परिपूर्ण था, उसे किसी प्रकारकी आवश्यकता न थी, तथापि एक विशेष अवसर पर उसे सृष्टि-रचना करनेकी लालसा हुई। ईश्वरने स्वेच्छानुसार स्व-सामर्थ्य द्वारा शून्य अर्थात् नास्तिसे यह दृश्य जगत् उत्पन्न किया। छह दिन तक खुदा अपनी इच्छासे तमाम रचना करता रहा। उसने पहाड़, समुद्र, नदी, भूखण्ड,

हाथी, घोड़ा, बैल, सिंह, बकरा, बकरी आदि अचेतन और चेतन जगत्की रचना की। इस रचनाके बाद खुदाने सोचा कि मेरी एक प्रतिमूर्ति भी होना चाहिये, इच्छा होनेकी देरी थी कि खुदाकी एक दूसरी प्रतिमूर्ति तैयार होगई, खुदाने उसे अचेतन देख उसमें चेतन शक्तिका संचार किया। इतना विपुल कार्य करनेके बाद खुदा श्रान्त होगया, उसने अपनी प्रतिमूर्ति हज़रत आदमके सामने अपनी सम्पूर्ण रचना रखदी और उसे उन समस्त पदार्थोंका नामकरण करनेका आदेश दे ७वें दिन रविवारको विश्राम करने चला गया। हज़रत आदमने सबका यथोचित नाम-निर्देश किया।

कतिपय समालोचक एकमात्र ईश्वरसे ही समस्त जगत्का निर्माण बताने वाले दर्शनको प्रमाण मानते हुए भी मुसलमान व ईसाई दार्शनिकोंकी इस जगत-रचना शैलीकी खिल्ली उड़ाते हैं। खुदाके इस रचनाक्रमको बाज़ीगरका खेल बताकर खूब उपहास करते हैं; परन्तु ऐसा करते हुए वे अपने मन्तव्यकी ओर ज़रा भी विचार नहीं करते। वेदान्त, न्याय और वैशेषिक दर्शन ईश्वरको अखिल विश्वका सर्जक मानते हैं। इन दर्शनोंके आविष्कर्ताओंने भी ईश्वर और जगतके विषयमें अनेक मनोरञ्जक कल्पनाएँ स्थापित की हैं; उदाहरणार्थ कुछका निर्देश करना यहाँ उपयुक्त होगा—

तैत्तिरीय ब्राह्मणका अभिमत है कि सृष्टि रचनाके पहले पृथ्वी, आकाश आदि किसी भी पदार्थका अस्तित्व नहीं था। प्रजापतिको एकसे अनेक होने की इच्छा हुई, एतदर्थ उसने घोर तपश्चरण किया, तपश्चरणके प्रभावसे धूप, अग्नि, प्रकाश, ज्वाला, किरणें और वाष्प उत्पन्न हुए। उत्पन्न होनेके बाद ये पदार्थ जम कर अत्यन्त कठिन होगये, इससे प्रजापतिका लिंग फट गया और उससे समुद्र बह निकला। अपने ठहरनेको

जगह न देख प्रजापति रोने लगा, प्रजापतिकी आंखोंसे अश्रु-विन्दु टपककर समुद्रके जल-पटल पर गिर कर पृथ्वीमें तब्दील हो गये। बादमें प्रजापतिने भूभागको साफ़ किया, जिससे वायुमण्डल और आकाशकी उत्पत्ति हुई।

दूसरी जगह लिखा है कि प्रजापतिने एकसे अनेक होनेके लिये तपस्या की, तपस्यासे वेद और जलकी उत्पत्ति हुई। प्रजापतिने त्रयीविद्याको लेकर जलमें प्रवेश किया, इससे अण्डा उत्पन्न हुआ, प्रजापतिने अण्डेको स्पर्श किया, जिससे अग्नि, वाष्प, मिट्टी आदि पैदा हुई। उपनिषदोंमें भी सृष्टि-रचना और ईश्वरके विषयमें अनेक प्रकारकी मान्यताएँ पायी जाती हैं।

बृहदारण्यक उपनिषदमें एक स्थल पर असत्-मृत्यु और लुधाको अभिन्न बताकर मृत्युसे जीवन, जल, अग्नि, लोक आदिकी उत्पत्ति बतलाई है। दूसरे स्थान पर आत्मासे सृष्टिका उत्पत्तिक्रम मानकर कहा गया है कि जिस समय आत्मामें संवेदनशक्तिका आविर्भाव हुआ, उस वक्त आत्मा निजको अकेला देखकर भयभीत हुआ। आत्मा पुरुष और स्त्रीमें विभक्त होगया। स्त्रीने सोचा कि पुरुष मेरा उत्पादक तथा प्रणयी है, इसलिये उसने गायका रूप धारण कर लिया, पुरुष भी बैल बन गया। गायने बकरीके रूपमें तब्दीली करली, बैल भी बकरा बन गया। इसी तरह सिंह-सिंहनी आदि युगलोंका प्रादुर्भाव हुआ। एक जगह ब्रह्मसे लोकका सृजन मानकर लिखा है कि ब्रह्मने अपनेमें पूर्ण-शक्तिका अभाव देख ब्राह्मणादि चारों वर्णोंका निर्माण किया। छान्दोग्योपनिषद्में असत्को अण्डा बताकर अण्डेके फटनेसे पृथिवी, आकाश आदि समस्त संसारकी उत्पत्ति बतलाई है।

इस उपर्युक्त निर्देशमें जहाँ ईश्वर ब्रह्मा या

प्रजापतिको लोक-निर्माता बताया गया है वहाँ उसे मुसलमान और ईसाई दार्शनिकोंकी तरह ही प्रायः स्वीकार किया गया है, फिर न जाने ऊपर लिखी मान्यतासे सहमत होते हुए भी कतिपय विद्वान खुदा और गॉडका उपहास क्यों करते हैं ? यदि वे खुदाका मज़ाक उड़ाते हैं तो उन्हें प्रजापतिके तपश्चरण और उसके लिंग फटने, उससे समुद्र निकलने आदिको न भूलना चाहिये और इस गुलगपाड़ेका भी अवश्य भंडा-फोड़ करना चाहिये। वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मुसलमान, ईसाई आदि जिन दर्शनोंमें सृष्टि उत्पत्तिके पहले एक-मात्र ईश्वरके अस्तित्वकी कल्पना की है प्रायः उन सभी दर्शनोंमें इसी तरहकी बेसिर पैरकी कल्पनाएँ पाई जाती हैं। उन कल्पनाओंकी बुनियाद जगत्के स्वरूप व उसके आदि-अन्तका ठीक पता न लगानेवाले दार्शनिकोंके मस्तिष्ककी उपज ही है। जब वे दार्शनिक बहुत कुछ कोशिश करने पर भी लोकका स्वरूप ठीक न समझ सके, तब उन्होंने एक छिपी हुई महती शक्तिका अनुमान किया और किसीने उसे ब्रह्म, किसीने ईश्वर, किसीने प्रजापति, किसीने खुदा और किसीने गॉड (God) आदि कहा। जब उस शक्तिकी कल्पना की गई तब उसके बाद उसके विषयमें दूसरी भी अनेक कल्पनाएँ गढ़ी गईं और उससे ही समस्त सजीव तथा निर्जीव जगत्का निर्माण माना गया।

इस मान्यताको माननेवाले दार्शनिक चराचर जगत्की उत्पत्तिमें ईश्वरको ही उपादान तथा निमित्त-कारण घोषित करते हैं, परन्तु बुद्धिकी कसौटी पर कसनेसे यह बिलकुल ही मिथ्या साबित होता है। दार्शनिक जगत्को यह भलीभाँति विदित है कि उपादान कारण अपना पूर्व रूप अर्थात् अपनी पूर्व पर्याय व हालत मिटाकर ही कार्यरूपमें परिणत होता है। स्वर्ण

अपने पूर्व पिंडाकारका परित्याग कर ही कड़ा, कुण्डल, बाली, आदि पर्यायों—हालतोंको धारण करता है, परन्तु उन सभी पर्यायोंमें—जो स्वर्णके पिण्डसे शुरू होती हैं, स्वर्ण व स्वर्णके पीतादि समस्त गुण पाये जाते हैं। इसी तरह मृत्तिका आदि जितने भी उपादान कारण देखनेमें आते हैं, वे सभी निजसे उत्पन्न होनेवाले कार्योंमें पर्याय परिवर्तनके सिवाय समानरूपसे पाये जाते हैं। यदि ईश्वर जगत्का उपादान कारण है तो संसारमें पर्वत, समुद्र, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि जितने भी कार्य हैं उन सभीमें ईश्वरका अस्तित्व व ईश्वरके सर्वज्ञत्व, व्यापकत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि गुणोंका सद्भाव अवश्य पाया जाना चाहिये। परन्तु सूक्ष्मरूपसे देखनेपर भी संसारके किसी भी कार्यमें ईश्वरका एक भी गुण नज़र नहीं आता। अतः युक्ति और प्रत्यक्ष प्रमाणसे ईश्वरको जगत्का उपादान कारण मानना ठीक नहीं मालूम होता और न ईश्वरका ऐसी भूमिकाओंमें फंसना ही हृदय व बुद्धिको लगता है। इसलिये कहना होगा कि ईश्वर-विषयक उक्त मान्यता मिथ्या और अवैज्ञानिक है।

एकमात्र प्रकृति—जड़पदार्थ—की मान्यताको स्वीकार करनेवाले दर्शनोंमें चार्वाक-दर्शन प्रमुख है। चार्वाक दर्शनके माननेवाले दार्शनिकोंका अभिमत है कि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु इन भूत चतुष्टयके सिवाय अन्य कोई भी पदार्थ नहीं है। इन जड़ भूत-चतुष्टयसे ही संसार बना है। संसारमें जितने कार्य नज़र आते हैं वे सब इन्हीं भूतचतुष्टयके सम्मेलनसे पैदा हुए हैं। चेतन, जीव या आत्मा नामका पदार्थ भी पृथ्वी आदिसे भिन्न नहीं है। जिस तरह कोद्रव (अन्नविशेष) गुड़, महुआ आदि विशिष्ट पदार्थोंके सम्मिश्रणसे शराब पैदा हो जाती है, ठीक उसी तरह पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुके स्वाभाविक विशिष्ट

संयोगसे चैतन्यकी अभिव्यक्ति ( उत्पत्ति ) होती है, उसीको चेतन, जीव, आत्मा आदि नामसे पुकारते हैं, शरीरसे भिन्न कोई 'जीव' नामका पदार्थ नहीं है। धर्म, अधर्म, स्वर्ग-मोक्ष, पुण्य-पाप आदि पदार्थोंका भी सर्वथा अभाव है। कहा भी है—

**लोकायता वदन्येवं नास्ति जीवो न निवृत्तिः।**

**धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयोः ॥**

कतिपय वैज्ञानिक लोग भी जीवके विषयमें ऐसी ही कल्पनाएँ घड़ते हैं, परन्तु युक्तिकी कसौटी पर कसनेसे उक्त वैज्ञानिक व दार्शनिक अपनी कल्पनामें असफल मालूम होते हैं। शरीरादिसे भिन्न अहंकारात्मक प्रवृत्ति होती है, पृथ्वी आदिके संयोगरूप शरीरका पूर्णतौरसे अस्तित्व रहने पर भी चेतन या जीवके अभावमें वैसी प्रवृत्ति नहीं होती। जीव जब एक शरीर छोड़ देता—मर जाता है, तब उस शरीरमें चेतनसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी क्रियाओंका अभाव होजाता है, इसलिये पृथिवी आदि अचेतन पदार्थोंका चैतन्यरूपमें परिणमन होना वा उनसे चेतन-जीवकी अभिव्यक्ति और उत्पत्ति मानना सारहीन ही नहीं असंभव भी है। जीवका जड़-पदार्थोंसे पृथक्त्व होना तब और भी दृढ़—होजाता है जब एक मनुष्य मरकर पुनः मनुष्य-पर्याय धारणकर अपने पूर्व-मनुष्य-पर्यायकी घटनाओंको बिलकुल सत्य बतला देता है—यहाँ तक कि अपने कुटुम्बियों और पड़ोसियोंका परिचय और अपने धन आदिका ठीक व्योरा लोगोंके सामने पेश कर देता है। यह केवल एक किंवदन्ती ही नहीं है, किन्तु ऐसे सत्य उदाहरण आये दिन अनेक सुनने वा देखनेमें आते रहते हैं। अतः जड़पदार्थसे ही तमाम जगत्का निर्माण स्वीकार करनेवाले दर्शन विश्वका रहस्य खोजनेमें सर्वथा असमर्थ हैं।

तीसरी मान्यतामें ईश्वर, जीव और प्रकृतिसे जगत्का निर्माण माना गया है। इस मान्यतामें न्याय-वैशेषिक आदि जितने भी दर्शनोंका अन्तर्भाव होता है उन सबका यह अभिमत है कि ईश्वरने जीव और अजीव प्रकृतिसे इस जगत्की रचना की है अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि जितने जीवधारी प्राणी हैं उनका उपादान कारण जीव है और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, पर्वत, समुद्र, नदी आदि जितने अचेतन पदार्थ देखनेमें आते हैं उनका उपादान कारण अजीव—अर्थात् प्रकृति है, परन्तु इस चेतन और अचेतन जगत्की रचनामें ईश्वर अनिवार्य निमित्त कारण व व्यवस्थापक है। इन दार्शनिकोंकी इस रचनाक्रमके समर्थनमें जो प्रबल दलील है वह इस प्रकार है—

संसारमें जितने भी कार्य देखनेमें आते हैं वे किसी न किसी उस-उस कार्यके ज्ञाताके द्वारा ही बनाए जाते हैं। उदाहरणरूपमें जब हम अंगूठीकी ओर दृष्टिपात करते हैं तो हमें साफ़ मालूम हो जाता है कि अंगूठी अपने आपसे ही तय्यार नहीं हुई, किन्तु उसमें स्वर्ण उपादान कारण होनेपर भी अंगूठी बनानेकी कलाका जानकार सुनार ही अंगूठी बनाता है। इसी तरह कुम्हार घड़ा, जुलाहा वस्त्र और अन्य कार्योंको जाननेवाला अन्यकार्योंकी रचना करता है। चूंकि जगत्-रचना भी एक विशेष और बहुत बड़ा कार्य है, इसलिये इस कार्यका भी कोई अत्यन्त बुद्धिमान् कर्ता होना चाहिये, इस विपुल कार्यका जो कर्ता है वह महान् ईश्वर है, ईश्वरसे भिन्न कोई भी इतने विपुल कार्यका निर्माण नहीं कर सकता। ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और व्यापक है, इसलिये वह तमाम सूक्ष्मसे सूक्ष्म और बड़े-से बड़े कार्योंको सरलतासे करता रहता है, उसे इस

कार्यके करनेमें कोई असुविधा वा अधिक श्रम नहीं करना पड़ता । दूसरे अचेतन जगत्की उत्पत्ति अचेतन परमाणुओं और कर्म-शक्तिसे नहीं हो सकती; क्योंकि ऐसी व्यवस्थित और सुन्दर रचना जडपरमाणु व कर्म-शक्ति विचार—शून्यताके कारण कैसे कर सकते हैं ? चेतन जीव भी चेतन जगत्की ऐसी विशेष रचना अल्पज्ञ व स्वल्पशक्तिसम्पन्न होनेकी वजहसे नहीं कर सकता, इसलिये चेतनाचेतनात्मक उभय जगत्का कर्ता एकमात्र ईश्वर ही हो सकता है ।'

संसारके समस्त कार्य उपादान और निमित्तकारणके बिना उत्पन्न नहीं होते, इसमें किसीको भी ऐतराज नहीं है और होना भी न चाहिये । परन्तु घट, वस्त्र आदिके समान सभी कार्योंका कर्ता—निमित्त कारण—चेतन ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है । घास बिना किसीके उद्यमके बारिश आदिके होनेपर स्वयं पैदा होजाती है; मूंगा, मणि, माणिक्य, गजमुक्ता आदि भी केवल वैसे कारण मिलनेपर प्रकृतिसे ही पैदा होते हैं, इन्हें कोई नहीं बनाता । यदि कहो कि इन समस्त कार्योंका कर्ता वही परमेश्वर है, वह ही छिपा छिपा ऐसे कार्योंको करता रहता है, तो घड़ा, वस्त्र आदिको भी वही क्यों नहीं बना देता ? जिससे कुम्हार आदिकी जरूरत ही न रहे, जीवनकी सभी आवश्यक चीजोंका निर्माण वही ईश्वर कर दिया करे ! जिन वस्तुओंका कर्ता नज़र आता है यदि उनका कर्ता ईश्वर नहीं माना जाता, तो जिनका कर्ता सिर्फ स्वभाव है उनको क्यों ईश्वरका बनाया हुआ माना जाय ?

दूसरे, यदि ईश्वर कार्योंका बनानेवाला होता, तो वे सब सुंदर और व्यवस्थित होना चाहियें थे । परन्तु आबाद मकानोंकी छतों, आंगन और दीवारों पर घास-का पैदा होना, कहीं मरुस्थल जैसे स्थानोंमें पानीका

बिलकुल अभाव, कहीं पानी ही पानी, कहीं अतिवृष्टि, कहीं अनावृष्टि, कहीं अकाल—कहतका पड़ना, जहाँ ज़मीन नीची होना चाहिये वहाँ उसका एकदम ऊँचा होना और जहाँ ऊँचा होना आवश्यक था वहाँ नीचा होना, निर्जन भयंकर पर्वतों और जंगलोंमें सुन्दरजल-प्रपात और झरनोंका बहना, उल्कापात, महामारी, डाँस-मच्छर, कीड़ा-मकोड़ा, साँप बिच्छू सिंह-व्याघ्र आदिकी सृष्टि होना, मनुष्यमें एक धनवान दूसरा निर्धन, एक मालिक दूसरा नौकर, एक स्त्री-पुत्रादिके न होनेसे दुखी, दूसरा इन सबके रहने पर भी दरिद्रताके कारण महान् दुखी, एक पंडित दूसरा अक्लका दुश्मन—महामूर्ख और सोनेमें रूप होनेपर भी उसका सुगन्ध रहित होना, स्वादिष्ट रसभरे गन्नेमें फलका न लगाना, चन्दनके वृक्षमें फूलोंका न होना तथा पंडितोंका निर्धन और प्रायः अल्पायुष्क होना आदि संसारमें ऐसे कार्य देखे जाते हैं जिससे मालूम होता है कि जगत्की रचना त्रुटियोंसे खाली नहीं है । और इसलिये यह जगत् किसी एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान तथा व्यापक ईश्वर द्वारा नहीं रचा गया और न वह इसका व्यवस्थापक ही है । एक कविने सोनेमें सुगन्ध न होने आदिकी उक्त बातोंको लेकर ईश्वरकी बुद्धिमत्ता पर जो कटाक्ष किया है और इस तरह सृष्टिके निर्मातामें जो किसी बुद्धिमान कारणकी कल्पना की जाती है उसका उपहास किया है—वह कविके निम्न वाक्यमें देखने योग्य है—  
गन्धःसुवर्णं फलमिच्छुदंडं नाकारि पुष्पं किल चन्दनेषु ।  
विद्वान् धनाढ्यो न तु दीर्घजीवी धातुः पुरा कोऽपिन-  
बुद्धिदोऽभूत् ॥

इसलिये कहना पड़ता है कि उपर्युक्त तीसरी मान्यतासे भी हमारे विषयका स्पष्टीकरण नहीं होता, उलटे हम व्यर्थके पचड़ेमें फँसे नज़र आते हैं । ईश्वरका

जैसा स्वरूप बांधा गया है वह बिल्कुल अवैज्ञानिक है। उसको किसी तरह भी युक्ति व बुद्धिकी कसौटी पर कसनेसे खरा नहीं देख सकते हैं। अनेक प्रबल बाधाएँ उसे जर्जरित कर देती हैं।

पाठक महानुभाव इस तमाम विवेचनसे समझ गये होंगे कि ये तीनों दार्शनिक मान्यताएँ जगत-रचना-की उलझनको सुलझानेमें कहाँ तक सफल हुई हैं। इनसे तो यही मालूम होता है कि या तो जगत पंच-भूतात्मक ही है अथवा ईश्वरात्मक या ईश्वराधीन ही है। जगत क्या है? मैं क्या हूँ? मुझे कहाँ जाना है? इत्यादि समस्त प्रश्न ईश्वर वा प्रकृतिमें ही लीन हो जाते हैं, विशेष तर्क-वितर्क करनेकी कोई गुंजाइश नहीं रखी गई।

चौथी मान्यता जीव और अजीव अथवा चेतन-अचेतन विषयक है। इस मान्यताको जन्म देनेका श्रेय प्रायः एकमात्र जैनदर्शनको ही है, वैसे बौद्धदर्शनादिने भी इस ओर झुकाव दर्शाया है, पर वह युक्तिके बलपर टिकता नहीं, इसलिये उसे निर्दोष नहीं कहा जा सकता। अब देखना यह है कि जैनदर्शनकी मान्यतासे दार्शनिकोंके मस्तिष्कमें उठानेवाले प्रश्नोंका उत्तर मिलता है या नहीं?

जैनदर्शन था उक्त मान्यताके अनुसार जगत, लोक, विश्व या दुनियाँ अनादि-निधन अथवा अनादि-अनन्त है। जगत-रचनाके प्रारम्भकी कहनी उसी तरह बुद्धि-गम्य और रहस्यमयी है जैसे बीज और वृक्षकी। जिस तरह यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि अमुक समयमें बीजसे वृक्ष अथवा वृक्षसे बीज पैदा हुआ है उसी तरह जीव-अजीवसे भी जगत-रचनाके प्रारम्भका निर्णय नहीं किया जा सकता—जगत अनादि है और उसका कभी भी अन्त होनेवाला नहीं है। हाँ इतनी

बात जरूर है कि जगत-रचनामें अनादिसे जीव और अजीवका ही दखल है। जीव अजीवके पृथक् करनेसे जगत नामके पदार्थका स्वतंत्र कोई अस्तित्व नहीं ठहरता, इसलिये जगतको जीवाजीवात्मक कहना उप-युक्त होगा। उत्पत्ति, विनाश और प्रौढ्य—मूलरूपमें सदा स्थिर रहना—जिसमें प्रत्येक समय पाया जाय उसे द्रव्य, वस्तु या पदार्थ कहते हैं। संसारमें ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिसमें उत्पत्ति आदि तीनों बातें एक ही कालमें न पायी जातीं हों—भले ही कुछ पदार्थोंमें सूक्ष्मतर होनेके कारण ये स्पष्ट नज़र न आतीं हों। उत्पाद न्यय प्रौढ्य पना द्रव्यका सामान्य लक्षण है, जो भी द्रव्य है उसमें यह अनिवार्यरूपसे पाया जाता है। इन तीन बातोंके बिना वस्तुका वस्तुत्व कायम ही नहीं रह सकता, वह सर्वथा विलुप्त हो जाता है। द्रव्यकी ये हालतें स्वभावसे ही होती रहती हैं उपादानरूपसे इनका करनेवाला कोई विशेष व्यक्ति नहीं है। जिस तरह अग्निकी ज्वाला खुद ही ऊपरकी ओर जाती है, पानी ढालू भूभागकी ओर बहता है और हवा तिरछी चला करती है, ठीक उसी तरह द्रव्य स्वभावसे ही प्रतिक्षण उत्पाद, व्यय और प्रौढ्यरूपसे परिणत होता रहता है। द्रव्यका यह स्वभाव ही संसारमें अनेक परिवर्तनों तथा अलटन पलटनका मूल कारण है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं, ये छहों द्रव्य अनादि-निधन हैं। परन्तु इनमें उत्पाद-व्यय-प्रौढ्य हमेशा होता रहता है, इसलिये इनके द्रव्यत्वमें कोई फ़र्क नहीं आने पाता—पर्यायें पलटती रहती हैं। इन छहों द्रव्योंमें आकाश सबसे महान् है, इसके क्षेत्रका कहीं अन्त नहीं है, अनन्त-नन्त है। आकाशके जितने क्षेत्रमें जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और कालका अस्तित्व पाया जाता है,

उसे लोक, लोकाकाश जगत् या दुनियाँ कहते हैं। लोकाकाशमें ये पाँचों द्रव्य सदासे ठसाठस भरे हुए हैं और भविष्यमें भी सदैव इसी तरह भरे रहेंगे। हाँ, द्रव्योंमें पर्यायाश्रित संभवित परिवर्तन जरूर होगा, पर न तो ये मूल द्रव्य विनष्ट-नेस्तनाबूद् हो सकेंगे और न इनके सिवाय अन्य द्रव्योंकी उत्पत्ति ही-हो सकेगी। 'गम्यन्ते जीवादयो यत्र तज्जगत् अथवा लोक्यन्ते जीवादयो यत्र स लोकः' अर्थात् जहाँ पर जीवादि छह द्रव्य रहें—मालूम पड़ें उसे जगत् या लोक कहते हैं। इससे मालूम हुआ कि जीवादि छह द्रव्योंकी समष्टिका नास ही जगत् है, वह न किसी व्यक्तिके द्वारा रचा गया है, न उसका कोई व्यवस्थापक व पालक है और न महेश्वर उसका संहार ही करता है। स्वभावसे ही जगत्में नाना प्रकारके परिवर्तन होते रहते हैं।

शरीरादिसे भिन्न चेतन रूपमें अहंबुद्धि रूपसे प्रवृत्ति होती है वही 'मैं' शब्दका वाच्य है। उसीको आत्मा आदि कहते हैं। जीव जैसे कर्म करता है उसे उन कर्मो-कर्तव्योंके अनुसार ही सुख-दुःख देने वाले स्थानोंमें जन्म लेना पड़ता है। कोई दूसरा व्यक्ति उसे किसी योनिमें न तो भेजता और न दुःख ही देता है। स्वकर्मानुसार ही जीव उसका फल भोगता है और खुद ही अपने प्रयत्नसे कर्मोंके बन्धन तथा संसारसे मुक्त होता है। कहा भी है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते ।

स्वयं भ्रमति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥

भगवद्गीताकार भी परमात्मा या ईश्वरके जगत्कर्तृत्व आदिके विषयमें कितने ही स्पष्ट और समुक्तिक हृदयोद्गार प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि—'प्रभु अर्थात् ईश्वर या परमात्मा लोगोंके कर्तृत्वको, उनके कर्मको ( या उनको प्राप्त होनेवाले ) कर्मफलके संयोगको भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति ही सब कुछ किया करती है। विभु अर्थात् सर्व-व्यापी परमेश्वर किसीका पाप और किसीका पुण्य भी नहीं लेता। ज्ञान पर अज्ञानका पर्दा पड़ा रहनेके कारण प्राणी मोहित हो जाते हैं, और अपनी नासमझीके कारण परमेश्वरको उस तरह मानने लगते हैं। यथा—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफल संयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥

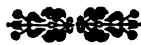
नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥

भग० गी० ५-१४, १५

ऐसी हालतमें ईश्वरके जगत्कर्तृत्व आदिकी कल्पना बहुत ही निःसार है और उसका मूल कारण अज्ञानभाव है। जैन-दर्शन अर्थात् वीर-शासनकी मान्यता बहुत ही युक्तियुक्त, स्वाभाविक तथा वस्तु स्थितिके अनुकूल है और हृदयको सोधी अपील करती है अतः वह सब तरहसे ग्रहण किये जानेके योग्य है।

वीर सेवा-मन्दिर, सरसावा, ता० १६-१०-३६



## विविध-प्रश्न

प्र०—देह निमित्त किस कारणसे है ?

उ०—अपने कर्मोंके विपाकसे ।

प्र०—कर्मोंकी मुख्य प्रकृतियाँ कितनी हैं ?

उ०—आठ ।

—राजचन्द्र



# अज-सम्बोधन

( वध्य-भूमिको जाता हुआ बकरा )

[ १ ]

हे अज ! क्यों विषण्ण-मुख हो तुम,  
किस चिन्ताने घेरा है ?  
पैर न उठता देख तुम्हारा,  
खिन्न चित्त यह मेरा है !  
देखो, पिछली टाँग पकड़कर,  
तुमको वधिक उठाता है !  
और ज़ोरसे चलनेको फिर,  
धक्का देता जाता है !!

[ २ ]

कर देता है उलटा तुमको  
दो पैरोंसे खड़ा कभी !  
दाँत पीस कर ऐंठ रहा है  
कान तुम्हारे कभी कभी !!  
कभी तुम्हारी क्षीण-कुक्षिमें  
मुझे खूब जमाता है !  
अण्ड-कोषको खींच नीच यह  
फिर फिर तुम्हें चलाता है !!

[ ३ ]

सह कर भी यह घोर यातना,  
तुम नहीं क़दम बढ़ाते हो,  
कभी दुबकते, पीछे हटते,  
और ठहरते जाते हो !!  
मानों सम्मुख खड़ा हुआ है  
सिंह तुम्हारे बलधारी,  
आर्तनादसे पूर्ण तुम्हारी  
'मेमे' है इस दम सारी !!

[ ४ ]

शायद तुमने समझ लिया है  
अब हम मारे जावेंगे,  
इस दुर्बल औ' दीन दशामें  
भी नहीं रहने पावेंगे !!  
झाया जिससे शोक हृदयमें  
इस जगसे उठ जानेका,  
इसीलिए है यत्न तुम्हारा,  
यह सब प्राण बचानेका !!

[ ५ ]

पर ऐसे क्या बच सकते हो,  
सोचो तो, है ध्यान कहाँ ?  
तुम हो निबल, सबल यह घातक,  
निष्ठुर, करुणा-हीन महा ।  
स्वार्थ-साधुता फैल रही है,  
न्याय तुम्हारे लिये नहीं !  
रक्षक भक्षक हुए, कहो फिर,  
कौन सुने फ़रियाद कहीं !!

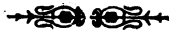
[ ६ ]

इससे बेहतर खुशी खुशी तुम  
वध्य-भूमिको जा करके,  
वधिक-छुरीके नीचे रख दो  
निज सिर, स्वयं भुका करके ।  
'आह' भरो उस दम यह कह कर,  
" हो कोई अवतार नया,  
महावीरके सदृश जगतमें'  
फैलावे सर्वत्र दया" !!

—'युगवीर'

# वीर-शासन-दिवस और हमारा उत्तरदायित्व

[ लेखक—श्री दशरथलाल जैन ]



“अपने बड़ोंकी तुममें कुछ हो तो हम भी जानें ।  
गर वो नहीं तो बाबा फिर सब कहानियाँ हैं ॥”

इस संसारमें अनेक जैन तीर्थंकर धर्मतीर्थके प्रवर्तन करनेवाले हुए हैं । उनकी धर्म-आज्ञाओं और व्यवस्थाओंका प्रसार भी परिमित काल तक ही रहा है । उसके बाद उसमें बराबर शिथिलता आती रही है—यहाँ तक कि कभी कभी तो धर्मका मार्ग ही असेंके लिये लुप्तप्राय होगया है । कारण, यह संसार आत्मवाद और अनात्मवादकी सदैवसे समरभूमि रहा है । जब कभी किसी अलौकिक पुण्यशाली अध्यात्मवादकी प्रचण्ड तेजोमय मूर्ति-का प्रादुर्भाव होता है तब अज्ञानान्धकारमें चिर-कालसे भटकते हुए अज्ञानी और मिथ्यामार्गी जीवोंको अपनी आत्माको पहचान सकनेका प्रकाश मिलता है । जिनका भविष्य उज्ज्वल होता है वे आत्मकल्याणकी ओर लग जाते हैं और शेष भद्र आत्माओंमें अपनी आत्माको पहचाननेके लिये एक प्रकारका आन्दोलनसा मच जाता है । इस तरह कुछ काल तक संसारमें धर्ममार्गका प्रवर्तन रहता है, बादको फिर अज्ञानान्धकार छाजाता है । लोगोंमें बहुत कालातक एक ही धर्मका सेवन—वह भी अव्यवस्थित रूपसे—करते करते कुछ तो पूर्व पापके उदयसे स्वयं ही धर्ममें अरुचि हो जाती है तथा प्रमाद बढ़ जाता है—वे अपने धर्मसे अनभिज्ञ तथा विमुखसे रहने लगते हैं, और कुछ

उनकी इस अनभिज्ञता-उदासीनतासे लाभ उठाकर दूसरे धर्मवाले उनपर अपना प्रभाव जमानेमें समर्थ हो जाते हैं । उनका कुछ आकर्षण बढ़ने पर जब वे लोग उनके ग्रन्थोंको पढ़ने, उनकी सभा-सोसाइटियोंमें भाग लेने और उनकी किसी किसी प्रवृत्तिको अपनाने या उसका अनुमोदन-मात्र करने लगते हैं, तो इधर अपने ही लोगोंकी ओरसे उन्हें अनेक प्रकारकी हृदयवेधक कटूक्तियाँ तथा फक्तियाँ सुननेको मिलती हैं, जिनसे उनका हृदय विकल हो जाता है, उसमें कषाय जाग उठती है और वे अपने उस नये मार्गको ही हर तरहसे पुष्ट करनेमें लग जाते हैं । उनका तमाम बुद्धि-बल तथा धन-बल उस ओर काम करने लगता है जिसके फलस्वरूप विपुलसाहित्यकी रचना तथा उसका प्रचार होकर प्रवाह बह जाता है और जन-बल भी बढ़ जाता है ।

मनुष्योंमें विचारवान सन्मार्गी आत्माओंकी संख्या हमेशा कम रहा करती है, जन-साधारणका बहुभाग तो सिर्फ गतानुगतिक ही होता है और वे प्रायः “महाजनो येन गतः स पन्थाः” के ही पथिक बन जाते हैं । यह ठीक है कि आत्माको पहचाननेवाले अलौकिक महान आत्माओंकी कृपासे जीवोंका भुकाव स्वात्माकी ओर होता है, लेकिन इसके लिये उन्हें जड़वाद-अर्थात् प्रकृति और उसकी साधक परिस्थितियोंसे सदैव यद्ध करना

पड़ता है। जहाँ युद्ध रुका और आत्मा चुप बैठी कि जड़वादका साम्राज्य उसे दबाने लगता है। इसलिये अज्ञान व प्रमादकी वृद्धिको रोकनेके लिये निरन्तर सद्ग्रन्थोंका अध्ययन, सत्संगतिका सेवन विद्वानोंका समागम और सुसंस्कारोंकी समय समयपर आवृत्तियाँ आवश्यक हो जाती हैं। धार्मिकपर्व हमारी त्रुटियों एवं कमजोरियोंको दूर करनेके हेतु ही बने हैं। इनको भले प्रकार मनाते रहनेसे हम संस्कारित होते हैं, अपने कर्तव्य-पालनमें सावधान बनते हैं, हममें उत्साह तथा पुरुषार्थ जागृत होता है, हमारे समाजसे कदाचार-रूपी मैल छंटता रहता है और हम शुद्ध होते रहते हैं।

इस तरह सभी धार्मिकपर्वोंको सोझास मनाना और उनके लिये सार्वजनिक उत्सवोंकी योजना करना परमावश्यक मालूम होता है तथा महापुण्यका कारण है। संसारी प्राणियोंके परम कल्याणार्थ प्रकट होनेवाली वीर-भगवानकी धर्म-देशनाके दिन तो उत्सव मनानेकी और भी अधिक आवश्यकता है। इस महान् धार्मिक पर्वकी महत्ता और मनानेकी आवश्यकता, उपयोगिता तथा विधि पर अनेक विद्वानोंने प्रकाश डाला ही है और वह सब ठीक ही है; लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस तरह योग्य गणधरके अभावमें जीवोंकी कल्याणकारिणी वीर भगवानकी पुण्य-वाणी बहुत काल तक खिरनेसे रुकी रही उसी तरह वर्तमानमें हमारे जैसे अयोग्य विद्वानों और वणिक्-समाजकी स्वार्थपरायणता तथा अदूरदृष्टिमय स्थूल धर्म बद्धि-के कारण विज्ञानके इस वर्तमान बौद्धिकयुगमें भी भगवानकी वाणी प्रकाश तथा प्रचारमें आनेसे रुकी

हुई है। मान्य विद्वान् विद्या-वारिधि वैरिष्ठर चंप-तरायजीने अपनी तुलनात्मक पद्धतिसे संसारके सब धर्मोंकी शोध-खोजकर सिद्ध कर दिया है कि जैनधर्म एक अद्वितीय वैज्ञानिक धर्म है। ऐसे जैन धर्मका इस वैज्ञानिक युगमें भी प्रचार और प्रसार न हो यह सचमुचमें हमारे धनशाली और धर्म-परायण समाजके लिये बड़े ही आश्चर्य तथा शर्मकी बात है, और इसके जिम्मेदार वीर भगवानके भक्त जैनधर्मके अवलम्बी हमी जैनी श्रीमान् धीमान् और उनके पीछे चलनेवाला सारा जैन समाज है। हमने अपने उत्तरदायित्वको ज़रा भी पूरा नहीं किया।

कोई समय था जब जैनधर्मका प्रचार उसके कट्टर विरोधियोंके कारण रुका था और हम चि-ल्लाते फिरते थे कि अमुक जैनधर्मके विद्वेषी दुष्ट-राजाओंने हमारे धर्मग्रन्थ जला दिये, मूर्तियाँ नष्ट करदीं, लोगोंको घानीमें पेर डाला इत्यादि, लेकिन अब उस धर्मके प्रकाश एवं प्रचारमें आनेके मार्गमें बाधक कौन है ? हम जैनधर्मके परमभक्त कहलाने वालोंके सिवा और कोई भी नहीं।

जैनधर्म हिन्दूधर्मकी एक शाखा है, बौद्धधर्म जैनधर्मसे प्राचीन है या बौद्धधर्मका रूपान्तर है, जैनियोंकी अहिंसाने भारतीयोंको कायरबनादिया है और वह भारतवर्षके पतनका कारण हुई, जैनियोंमें आत्मघातको धर्म बताया है, ये ईश्वरको नहीं मानते, जैनियोंने भारतवर्षमें बुतपरस्तीका श्रीगणेश किया है, जैनियोंका राजनैतिक क्षेत्रमें कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं हो सकता, जैनियोंका स्याद्वाद एक गोरखधंधा है, इत्यादि अनेक मिथ्या धारणाएँ आज भी न सिर्फ हमारे पड़ोसियोंके हृदयमें

विद्यमान हैं बल्कि देशके बड़े बड़े नेताओं-लाला-लाजपतराय सरीखे राजनीतिज्ञों—और कई इतिहासिज्ञोंके मनमें भी बैठी हुई पाई गयी हैं। कई रियासतोंमें जैनियोंके विमान निकालने पर लोग नग्न मूर्तियों पर ऐतराज करते हैं और इतना जोर बाँधते हैं कि दंगातक करने लगते हैं—कोलारम, कुडची, महगांव, बयाना आदि पचासों स्थानोंपर धर्मपालनमें बाधाएँ पड़ीं। यह सब उस जमानेमें हो रहा है जब कि धर्मपालनमें राज्योंकी तरफसे पूर्ण स्वतंत्रताकी आम घोषणा है। पता है इन सब अन्यायोंके मूलमें कारण कौन है? हम भगवान् महावीरकी नालायक सन्तान।

हम गाली देते हैं उन हिन्दुओंको जो हमपर अपनी अज्ञानताके कारण धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक हमले करते हैं, हम गाली देते हैं उन्हें जो हमारी उच्चताका मजाक उड़ाते हैं, हम बुरा कहते हैं उन्हें जो हमारे अलग राजनैतिक हकोंको देनेसे इनकार करते हैं; इसी तरह कलियुगको भी गाली देकर हम अपनी कायरताका प्रमाण देते हैं। आखिर इस आत्मवञ्चनासे लाभ क्या? हम देखते हैं आये दिन हम अपनी एक नहीं अनेक होनेवाली घरू और बाहरी आपत्तियोंके लिये रोते रहते हैं, लेकिन हम उसके कारण-कलापोंको देखते हुए भी उसके वास्तविक कारण तक नहीं पहुँच पाये हैं। सच पूछिये तो हमें दूसरों का ऐबजोई करना जितना आसान रहा है, अपनी अदूरदर्शिता पूर्ण कृतियों और उनके नतीजोंपर नज़र पहुँचाना उतनी ही टेढ़ी खीर रहा है।

आज भी हम धर्मके नामपर लाखों रुपया मन्दिर बनाने, रथ चलाने, सोना और रंग कराने,

संगमरमरके फर्श और टाइल्स जड़वानेमें खर्च करनेसे नहीं रुकते। परन्तु हम देव-शास्त्र-गुरुका एक ही दर्जा मानते हुए भी शास्त्रोंके पुनरुद्धारार्थ विद्वानोंकी कोई भी समिति कायम नहीं कर पाये। हमारी पाठशालाएँ और विद्यालय अपने अपने ढर्रे पर चल रहे हैं, वे प्रायः अध्यापकोंकी पुरतैनी जायदाद बनादिये गये हैं; ऊँचे विद्यार्थी कितने हैं, खर्च कितना है, इसका कोई ठीक ठिकाना नहीं; समाजका पैसा कितनी बेदर्दीसे धर्मके नामपर प्रचारक रखकर फँका जाता है, उसका भी कोई ठिकाना नहीं; माणिकचन्द्र-परीक्षालय, महासभा परीक्षालय, परिषदपरीक्षालय, मालवा-परीक्षालय सबके छकड़े दौड़ लगा रहे हैं, और अब तो विद्यार्थियोंसे फीस भी लेने लगे। गरज यह कि, अव्यवस्थाका खासा साम्राज्य कायम है, धर्मके नामपर चाहे जैसी अवांछित पुस्तकोंका प्रचार है। जहाँ ज्ञान प्रसारके क्षेत्रमें जैन समाजमें यह अंधेरे हो वहाँ जैनेतर समाजमें धर्मप्रचारकी बात दिमागमें आना ही मुश्किल है। यूनिवर्सिटियों, कालेजों और हाईस्कूलों तथा सार्वजनिक लाइब्रेरियोंमें तो हमारी पुस्तकोंका प्रायः पता भी नहीं मिलता—हमारे सार्वजनिक क्षेत्र हमारे प्रभावसे शून्य रहते हैं। ऐसी हालत है हमारी, जिसे आँख खोलकर देखते हुए भी हम देख नहीं रहे हैं। भला सोचो तो, इसमें किसका क्रसूर है। जो आँख देखनेके लिये हो उससे हम विवेक पूर्वक देखें नहीं और आपत्ति होनेपर रोवें तो हमें उस शायरके शब्दोंमें यही कहना पड़ेगा कि—

“रोना हमारी चश्मका दस्तूर होगया।

दी थी खुदाने, आँख सो नासूर होगया ॥

अतः भाइयो ! अब इस प्रकार काम नहीं चलेगा । अब भी सोचो, जैनधर्मके प्रचार और प्रसारका मार्ग अभी भी खुला हुआ है, सिर्फ आवश्यकता है एक बार अपनी हालतका सिंहावलोकन करने और अपने कर्तव्य तथा उत्तरदायित्वको समझनेकी । ईसाई अपने मिशनरियों और अपनी लिटरेचर सोसाइटियों द्वारा, आर्यसमाज अपने स्नातकों, सन्यासियों, तथा ब्रह्मचारियोंके द्वारा, और मुसलमान अपने बिरादराना सलूक व बाहमी हमदर्दीके द्वारा आज जो अपने अपने धर्मप्रचारका कार्य कर रहे हैं, वह दूसरा नहीं कर रहा है । भगवान् महावीरके शासनमें रहते और उसके अनुयायी कहते और उसके अनुयायी कहलाते तुम्हारा यह कर्तव्य हो जाता है कि तुम वीर शासन-दिवसको सार्थक बनानेके लिये वीरभगवानकी शिक्षाओं पर यथाशक्ति अमल करनेके संकल्पके साथ साथ जैनधर्मके अलौकिक ज्ञानके प्रसारार्थ पैसा दान करो और कराओ, एक बड़ी समिति ग्रन्थ—प्रकाशनके लिये योग्य विद्वानोंकी क्रायम करो, ताकि वह तुलनात्मक पद्धति, इतिहास और पुरातत्वके आधारपर जैनधर्मके महत्वपूर्णग्रन्थोंका नये ढंगसे उत्तम संपादन एवं प्रकाशन कराए और धर्मके एक एक तत्त्व—उसके एक-एक पहलू पर छोटे छोटे किन्तु सुन्दर और अल्प मूल्य पर बेचेजानेवाले सरल और सीधे शब्दोंमें ट्रेक्ट तथा पुस्तकें पुरस्कार दे देकर लिखाए और उन्हें लाखोंकी तादादमें छपानेमें स्वतंत्र रहे । उसे धनकी कमी न रहना चाहिये । चन्देसे पर्वोंमें, जन्म, मरण, शादी और अन्य संस्कारोंमें योग्य दान देकर उसका कोष बढ़ाओ और आवश्यकता

पड़े तो जहाँ मन्दिरोंमें अच्छी आमदनी हो वहाँके धनसे कोष पूरा करो । साथ ही, वीरशासनके दिन ऐसे सुन्दर, सुसम्पादित-प्रकाशित ग्रन्थों पुस्तकों तथा ट्रेक्टोंका अधिकाधिक संख्यामें प्रचार करो । ये सब ऐसी आवश्यक क्रियाएँ हैं, जो वीरशासनके सम्बन्धमें हमारे उत्तरदायित्वको पूरा करा सकती हैं और जिनका वीरशासन-दिवस मनाते समय हर जगह रिवाज पड़ जाना चाहिये ।

जिस तरह अब भारतवर्षमें एक छोरसे दूसरे छोर तक महावीर-जयन्ती सार्वजनिकरूपसे मनाई जाने लगी है और उसके निमित्तसे अजैन लोग जानने लगे हैं कि जैनधर्म क्या चीज है, उसी तरह वीर-शासन दिवसके दिन जैनग्रन्थों, पुस्तकों तथा ट्रेक्टोंके सुसम्पादन, लेखन तथा प्रकाशनके लिये खासतौर पर योजनाएँ की जानी चाहियें, धन एकत्र किया जाना चाहिये और उस एकत्रित धनसे प्रकाशित साहित्यको जैन-जैनतर संसारमें सम्यक्ज्ञानको जाग्रत करनेके लिये खूब प्रचारित करना चाहिये । उस दिन प्रातःकाल पूजन विधानादि हो तो दूसरे समयोंमें कमसे कम वीर भगवानके महान् ज्ञानको प्रकाशमें लानेका क्रियात्मक उद्योग अवश्य होना चाहिये, तभी हम अपने उत्तर दायित्वको कुछ निभा सकेंगे । अन्यथा हमें एक विद्वानके शब्दोंमें किंचित् परिवर्तनके साथ कहना पड़ेगा कि—

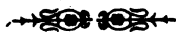
“न समझोगे तो मिट जाओगे ऐजिनधर्मके भक्तो ! तुम्हारी दास्ताँ तक भी न होगी दास्तानों में ॥”

आशा है वीर भगवान और उनके शासनके भक्त मेरे इस निवेदन और सामयिक सूचन पर अवश्य ध्यान देनेकी कृपा करेंगे और आने वाले वीर जयन्तीके पुण्य-दिवस (श्रावणकृष्णाप्रतिपदा) पर शासन-सम्बन्धमें अपने उपर्युक्त कर्तव्य तथा उत्तरदायित्वको पूरा करनेके लिये अभीसे उसकी तय्यारी करेंगे ।



# वीरके दिव्य उपदेशकी एक झलक

[ले०—श्री जयभगवानजी बी० ए० वकील ]



अन्तिम जैनतीर्थंकर श्रीवीरभगवान् ने विपुलाचल पर्वत पर संसारी आत्माको लक्ष्य करके उसके उद्धारार्थ जो सारभूत दिव्य उपदेश दिया था उसकी एक झलक इस प्रकार है :—

ऐ जीव ! तू अजर अमर है, महाशक्तिशाली और सारपूर्ण है। और यह दीखनेवाला जगत क्षणिक है, असमर्थ और निःसार है। तू इससे न्यारा है और यह तुझसे न्यारा है।

परन्तु अनादि मिथ्यात्ववश तू शरीरको स्वात्मा, विषय-भोगको सुख, परिग्रहको सम्पदा, नामको वैभव, रूपको सुन्दरता और पशुबलको वीरता मानता रहा है।

मोहवश इनके लाभको अपना लाभ, इनकी वृद्धि-को अपनी वृद्धि, इनके हासको अपना हास और इनके नाशको अपना नाश समझता रहा है। इसीलिए तू उन्मत्तसमान कभी खुश हो हँसता है और कभी दुःखी हो रोता है।

इसी मायाकी आशासे छला तू निरन्तर भवभ्रमण कर रहा है मृत्यु-द्वारसे हो निरन्तर एक घाटसे दूसरे घाटपर जा रहा है।

प्रमादवश तू इस माया प्रपंचमें ऐसा तल्लीन है कि तुझे हरएक लोक पहला ही लोक और हरएक जीवन पहला ही जीवन दिखाई देता है। तुझे पता नहीं कि तू बहुत पुराना पथिक है। तुझे चलते, ठहरते, देखते, विदा होते और पुनः पुनः उदय होते अनन्तकाल बीत गया है।

तबसे तू क्या जाने, क्षितिजमें कितने सांझ सवेरे हुए, और विलय हो गये। नभमें कितनी अंधयारी चांदनी रातें आईं और चली गईं। भूपर कितने श्रुत-चक्र नाचे और उड़ गये। लोकमें कितने युग उठे और बैठ गये। संसारमें कितने संग्रह बने और बिखर गये। जगमें कितने नाटक-पट खुले और बन्द हो गये। जीवनमें कितने साथी मिले और बिछुड़ गये।

ये सब अतीतकालकी स्मृतियाँ हैं। गई-गुजरी क हानियाँ हैं। परन्तु ये गई कहाँ ? इनके संस्कार आज भी तेरी चाल ढाल, तेरे हावभाव, तेरी इच्छा कामना और तेरी प्रकृतिमें अंकित हैं। इन सबको अपनी सत्ता-में उठाये तू अभी तक अनथक चला जा रहा है। वही वेदना, वही उत्साह और वही उद्यम ! कालजीर्ण हो गया, लोकजीर्ण हो गये, युगयुगान्तर जीर्ण होगये; परन्तु तू अभी तक अजीर्ण है, नवीन है, सनातन है।

क्या यह सब कुछ तेरी अमरता और जगकी क्षणिकताका सबूत नहीं ? क्या यह तेरी अलौकिक शक्ति और जगकी असमर्थताका प्रमाण नहीं ? क्या यह तेरी सारपूर्णता और जगकी निस्सारताका उदाहरण नहीं ?

परन्तु हा ! तू अभी तक अपनेको मरणशील, असमर्थ निस्सार मानता हुआ मरीचिका-समान जगकी झूठी आशाओंमें डलभा हुआ है। तू अभी तक इसकी ही बालक्रीडाओं, गुण-लालसाओं और प्रौढ़ चिन्ताओंमें संलग्न है।

अरे मूढ़ ! पुत्र-कलत्र, गृह-वाटिका, धन-दौलत जिन्हें तू अपने समझना है, वे तेरे कहाँ हैं ? ममत्व-भावसे ही तू उनके साथ बँधा है। ममत्व तोड़ और देख, वे स्वभाव, क्षेत्र, काल आदि सब ही अपेक्षाओंसे तुझसे भिन्न हैं। वे न तेरे साथ आये हैं, न तेरे साथ जायेंगे। न वे तेरे रोग, शोक, जरा मृत्युको हरण करने वाले हैं। वे सब नाशवान हैं। इनके मोहमें पड़कर तू क्यों व्यर्थ ही अपनेको खोता है ?

वे तो क्या, यह शरीर भी, जिसपरतू इतना मोहित है, जिसकी तू अहर्निश सेवा करता है, तू नहीं है। यह तेरी एक कृति है, जो कि प्रकृतिका सहारा ले जीवन उत्थानके लिये रची गई है। इसका पोषण जीवन उत्कर्षके लिये है, जीवन इसके पोषणके लिये नहीं है। ज़रा त्वचारहित इसके स्वरूपको तो विचार। यह कतना घिनावना और दुर्गन्धमय है। यह अस्थिपंजर-से बना हुआ है, माँससे विलेपित है, मलमूत्र और कृमिकुलसे भरा है। इसके द्वारोंसे निरन्तर मल फर रहा है। कौन बुद्धिवर इसे अपनाएगा ?

तेरा शरीर पानीके बुलबुलेके समान क्षणिक है। तेरा आयु कालगतिके साथ क्षण क्षण क्षीण हो रही है और तेरा यौवन स्वप्नलीलाके समान नितान्त जरामें बदल रहा है। तुझे अपने भविष्यका तन्त्रिक भी ध्यान नहीं। परन्तु मृत्यु निरन्तर तेरी ओर ताक लगाये बैठी है।

हे मानव ! तू व्यर्थही इस मनुष्य भवको व्यसनोंमें सना हुआ, आहार, निद्रा, मैथुन, परिश्रममें लगा हुआ बरबाद न कर यह मनुष्यभव चिंतामणि रखनेके समान महामूल्यवान, महादुर्लभ और महाकष्टसाध्य पदार्थ है। जीवनमें रूप-आकार, भोग विलास, कंचन-कामिनी सब ही मिल सकते हैं; परंतु मनुष्यभव मिलना बहुत

कठिन है।

तुझे पता नहीं, जीवको अपनी क्षण क्षण मरने जीने वाली निगोद दशासे ऊपर उठ, मनुष्यभव तक पहुँचने-में कितनी कितनी बाधाओं और आपदाओंसे लड़ना पड़ा है। कितनी असफलताओं और निराशाओंका मुँह देखना पड़ा है कितनी भूलों और सुधारोंमें से निकलना पड़ा है। जीवनका उत्कर्षमार्ग अगणित मौत-के दरोंमेंसे होकर गुजरता है और शोक-संतापकी छायासे सदा ढका है। मनुष्यभव इसी उत्कर्षमार्ग की अंतिम मंजिल है।

यहाँ ही जीवको पहली बार उस वेदनाका अनुभव होता है जो उसे दुःखसे सुखकी ओर, मृत्युसे अमृतकी ओर, नीचेसे ऊपरकी ओर, विकल्पोंसे एकताकी ओर, बाहिरमें अन्दरकी ओर लखानेको मजबूर करती है।

यहाँ ही पहली बार उस सुबुद्धिका विकास होता है जो इसे हेय उपादेय हित-अहित, मित्र परमें विवेक करना सिखाती है।

यहाँ ही पहली बार उस अलौकिक दृष्टिका उदय होता है जो इसे लौकिक क्षेत्रोंसे ऊपर अलौकिक क्षेत्रोंका भान कराती है। जो इसे शिल्पिक, नैतिक, वैज्ञानिक और पारमार्थिक क्षेत्रोंका दर्शन कराती है।

यहाँ ही पहली बार अर्थशक्ति की वह प्रेरणा अनुभव होती है जो इसके पुरुषार्थको भौतिक उद्योगोंसे उठा अलौकिक उद्योगोंकी ओर लगाती है।

यहाँ ही पहली बार उस अवस्थाकी आवश्यकता मालूम होती है जो इसे स्वच्छन्दता, सुखशीलताको छोड़ यम नियम, व्यवहार रीति, संस्था प्रथा धारण करनेकी प्रेरणा करती है।

यहाँ ही पहली बार वह धर्मवृक्ष अंकुरित होता है

आत्मश्रद्धा जिसका मूल है, सामान्यता जिसकी स्निग्ध छाया है। दया जिसका मद है। आत्मज्ञान जिसका प्रफुल्ल पुष्प है। त्याग जिसका सौरभ है और अमर जिसका फल है।

इन्हीं अलौकिक शक्तियोंके कारण मनुष्यभव सबसे महान् है, प्रधान है और अमूल्य है।

परन्तु हा ! जीवन मानवी शरीरसे उभर भौतिक क्षेत्रसे जितना ऊँचा उठा, जितना इसकी बुद्धि, आचरण और पुरुषार्थका विकास बढ़ा, जितना इसकी दुःख अनुभूति और दुःख निवृत्तिकी कामनाने जोर पकड़ा, जितना दुःखसमस्याको हल करनेके लिये इसने जीवन जगतको देखने, जानने और सुखमार्ग खोजनेका परिश्रम किया। उतना ही उतना इसकी भूल भ्रान्तियोंने, इसकी मिथ्या कल्पनाओं और मान्यताओंने भी जोर पकड़ा। इसकी आशायें और लालसायें भी विचित्र हुईं। इसका विकल्पप्रपञ्च और विमोह भी विस्तीर्ण हुआ।

इन ही नवीन भ्रान्तियों, मान्यताओं और आशाओंके कारण इसकी बाधाएँ और विपदाएँ भी सबसे गहन हैं। इसकी समस्याएँ और जिम्मेवारियाँ भी सबसे जटिल हैं।

आशाके इन पाशोंमें फँसकर तनिक गिरना शुरू हुआ कि पतनका ठिकाना नहीं। फिर वह रोके नहीं रुकता। सीधा रसातलकी ही राह लेता है।

ओह ! मोहजालके इन मृदु तारोंने, झूठी आशाओंकी मधुर मुस्कानने तुझ समान समुन्नत, समुज्ज्वल अनेक जीवन बान्ध बान्धकर रसातलको पहुँचा

दिये हैं।

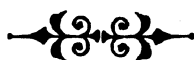
ऐ भव्यात्मा ! यदि तू वास्तवमें बुद्धिमान है। स्वहितेषी है और उद्यमी है तो अब ऐसी योजना कर कि तुझे फिर अधोगति जाना न पड़े। बारबार मृत्युके चक्करमें गिरना न पड़े। बहुत काल बीत चुका है। उसका एक समय भी अब किसी प्रकार वापिस नहीं हो सकता है। जो काल बर्बादी है बड़ी तेजीके साथ गुजर रहा है। देरका अवसर नहीं ! प्रमाद छोड़, जाग और खड़ा हो। जो कल करना है वह आज कर, जो आज करना है वह अब कर।

इससे पहिले कि मृत्यु अपनी टंकारसे तेरे प्राणोंको घायल करे, और तेरा शरीर पके हुए पातके समान आधुनालसे टूटकर धराशायी हो, तू इसे आत्मसाधनामें लगादे।

दिलकी ग्रन्थियोंको तोड़, संशय छोड़, निशंक बन, अपनेमें विरवास भर कि तू तू ही है। तू सबमें है, सब तुझमें हैं पर तुझ सिवा तुझमें नहीं।

मोहजालके तार तार कर, अन्दर बैठ, निर्वात हो दीपक जगा और देख, तू कितना ऊँचा और महान है। इसमें ईर्ष्या और द्वेष कहाँ है। तू कितना सोहना सुन्दर है, इसमें आत्मश्रुति और परासक्ति कहाँ है।

मेरा तेरा छोड़, जगमे मुँह मोड़, निर्भय बन, अपने ही में लीन हो, और अनुभव कर, तू कितना मधुर और आनन्दमय है। इसमें दुःख कहाँ और शोक कहाँ है। तू कितना परिपूर्ण है इसमें राग और इच्छा की गुञ्जाइश कहाँ है। तू तो निरा अमृत सरोवर है इसमें जरा और मृत्यु कहाँ है।



# साहित्य-परिचय और समालोचन

[ अनेकान्तमें 'साहित्य-परिचय और समालोचन' नामका एक स्तम्भ रखनेका बहुत दिनोंसे विचार चल रहा है। अनवकाशादि कुछ कारणोंके वश अबतक उसका प्रारम्भ नहीं हो सका था, अब इस वर्षके इसी अङ्कसे उसका प्रारम्भ किया जाता है। इस स्तम्भके नीचे समालोचनार्थ तथा भेटस्वरूप प्राप्त साहित्यका परिचय रहेगा। सामान्यपरिचय प्रायः प्राप्ति के समय ही दे दिया जाता करेगा—सामान्य आलोचन भी उसी समय हो सकेगा। विशेष परिचय और विशेष समालोचनका कार्य बादको यथावकाश हुआ करेगा और वह उन्हीं ग्रन्थों-पुस्तकों आदिका हो सकेगा जिनके विषयमें वैसा करना उचित और आवश्यक समझा जायगा। हाँ, दूसरे विद्वान् यदि किसी ग्रन्थादिकी समालोचना खास अनेकान्तके लिये लिखकर भेजनेकी कृपा करेंगे तो उसे भी, उनके नामके साथ, इस स्तम्भके नीचे स्थान दिया जासकेगा।

—सम्पादक ]

(१) अकलंकग्रन्थत्रयम्—मूल लेखक, भट्टाकलंकदेव। सम्पादक, न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजी जैन शास्त्री, न्यायाध्यापक स्याद्वाद महाविद्यालय बनारस। प्रकाशक, मुनिजिनविजय, संचालक 'सिंधी जैनग्रन्थमाला, अहमदाबाद-कलकत्ता। बड़ा साइज पृष्ठ सं०, सब मिलाकर ५२०। मूल्य, सजिल्द ५) रु०।

यह कलकत्ताके प्रसिद्ध श्वे० सेठ श्री बहादुर सिंहजी सिंधीकी ओरसे उनके पूज्य पिता श्री डालचन्दजी सिंधीकी पुण्यस्मृतिमें निकलने वाली 'सिंधी जैनग्रन्थमालाका १२ वाँ ग्रन्थ है। इसमें श्रीभट्टाकलंकदेव-विरचित उच्चकोटिके न्यायविषयक तीन संस्कृत ग्रन्थोंका संग्रह है, जिनमेंसे एकका नाम 'लघीयस्त्रय' है, जो कि प्रमाण-नय-प्रवचन विषयक तीन लघु प्रकरणोंको लिये हुए है; दूसरेका नाम 'न्यायविनिश्चय' और तीसरेका 'प्रमाणसंग्रह' है। पहले तथा तीसरे ग्रन्थके साथ खुद भट्टाकलंकदेव विरचित स्वोपज्ञभाष्य भी लगा हुआ है, दूसरे ग्रन्थका स्वोपज्ञभाष्य उपलब्ध नहीं है।

सका, इसीसे ब्रह्म साथमें नहीं दिया जा सका। इन स्वोपज्ञभाष्यों तथा प्रमाण संग्रहके अकलंक द्वारा रचे जानेकी सबसे पहले सूचना अनेकान्त द्वारा सन् १९३० में की गई थी—ॐ और इनको तथा न्यायविनिश्चय मूलको खोज निकालनेकी प्रेरणा भी की गई थी। साथ ही, समन्तभद्राश्रम-विज्ञप्ति नं० ४ के द्वारा दूसरे ग्रन्थोंके साथ इन ग्रन्थोंको भी खोजनेके लिये पारितोषिककी सूचना निकाली गई थी।<sup>†</sup> लुप्तप्राय जैन ग्रन्थांकी खोज-सम्बन्धी मेरे इस आन्दोलनके फलस्वरूप इन ग्रन्थोंका उद्धार होनेसे मेरी महती प्रसन्नताका होना स्वाभाविक है, और इसलिये मैंने इन ग्रन्थोंके उद्धार संबन्धी शुभ

ॐ देखो, अनेकान्त प्रथम वर्षकी प्रथम किरणमें प्रकाशित लुप्तप्रायजैन ग्रन्थोंकी खोज-विषयक विज्ञप्ति नं० ३ और तीसरी किरणमें प्रकाशित 'पुरानी बातोंकी खोज' शीर्षकके नीचे, 'अकलंक ग्रन्थ और उनके स्वोपज्ञभाष्य' नामका उपशीर्षक लेख।

<sup>†</sup> देखो, अनेकान्त वर्ष १ किरण ४

समाचारको गतवर्षके अनेकान्तकी प्रथम किरणमें ही प्रकट कर दिया था (पृ० १०३) और यह भी सूचित कर दिया था कि ये ग्रंथ सिंधी जैन-ग्रंथ-मालामें छप गये हैं और जल्दी ही भूमिकादिसे सुसज्जित होकर प्रकाशित होने वाले हैं, परन्तु इनके प्रकाशनमें पूरा एक साल और लग गया। और इसलिये अब अक्टूबरमें प्रकाशित होकर आने पर मुझे सबसे पहले इस स्तम्भके नीचे इन्हीं का संक्षिप्त परिचय देनेमें आनन्द मालूम होता है।

इस संग्रहमें 'न्यायविनिश्चय' के साथ उसके वादिराजसूरिकृत विवरणपरसे कारिकाओंके उत्थान-वाक्योंको ज्योंका त्यों तथा संक्षेपमें उद्धृत किया गया है, जिससे कारिकाओंका अर्थ समझने और उनके सम्बन्धको मालूम करनेमें आसानी हो; तीनों ग्रन्थों पर जुदी-जुदी टिप्पणियाँ अलग दी गई हैं; तीनोंका विषयानुक्रम भी साथमें लगाया गया है; ९ उपयोगी परिशिष्ट दिये हैं, जिनमें इन ग्रन्थोंके कारिकाओंकी अनुक्रमणिकाएँ, अवतरण वाक्योंकी सूचियाँ और सभी दार्शनिक तथा लाक्षणिक शब्दोंकी सूची खास तौरसे उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त ग्रंथके शुरूमें क्रमशः ग्रंथमालाके मुख्य सम्पादक श्री जिनविजयजीका 'प्रास्ताविक', पं० सुखलालजी संघवी दर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, काशीका 'प्राक्कथन', न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमारजीका 'सम्पादकीय वक्तव्य' और महत्वपूर्ण 'प्रस्तावना' जो सब राष्ट्रभाषा हिन्दीमें लिखे गये हैं, सब मिलकर ग्रन्थकी उपयोगिताको बहुत ज्यादा बढ़ा रहे हैं। इस ग्रंथके सम्पादनमें न्यायाचार्यजीने काफ़ी परिश्रम किया है और उसके कारण उन्हें जो सफलता मिली है उसके लिये

वे बधाईके पात्र हैं। उनकी प्रस्तावनाको पूर्णरूपसे देखनेका यद्यपि मुझे अभी तक यथेष्ट अवसर नहीं मिल सका, फिर भी उसके कुछ अंशों पर सरसरी तौरसे नज़र डालने पर उसमें विद्वानोंके लिये विचारकी काफ़ी सामग्री मालूम होती है। कितनी ही बातें विशेष विचारके योग्य भी हैं; जैसे अकलंकका समय, जिसे उन्होंने विक्रमकी ७वीं शताब्दीके स्थानपर ८वीं-९वीं शताब्दी सिद्ध करनेका यत्न किया है।

दिगम्बर सम्प्रदायके इन लुप्तप्राय महत्वपूर्ण ग्रन्थरत्नोंका एक श्वेताम्बर-संस्था (सिंधी-जैन-ज्ञानपीठ) द्वारा उद्धार देखकर, जहाँ दिगम्बर-समाजकी अपने साहित्यके प्रति उपेक्षा-उदासीनता, और कर्तव्यविमुखता पर खेद होता है वहाँ श्वेताम्बर भाइयोंकी इस उदारता, दूरदृष्टिता और गुणग्राहकताकी प्रशंसा किये बिना भी नहीं रहा जाता। इसके लिये सिंधी जैनग्रंथमालाके सुसंचालक मुनि श्रीजिनविजय, उसके संस्थापक एवं पोषक उदारचेता बाबू बहादुरसिंहजी सिंधी और इन ग्रंथोंके इस तरह प्रकाशनकी योजना तथा प्रेरणा करनेवाले समर्थ विद्वान प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलालजी विशेष धन्यवादके पात्र हैं। इस प्रकारके प्रयत्न निःसन्देह साम्प्रदायिक कट्टरताको मिटानेके प्रधान साधन हैं, और इसलिये मैं इनका हृदयसे अभिनन्दन करता हूँ।

ग्रन्थकी छपाई-सफाई सब उत्तम हुई है, कागज़ भी अच्छा पुष्ट लगाया है और जिल्द सुन्दर तथा मनोमोहक है। परिश्रमादिको देखते हुए मूल्य भी अधिक नहीं है। संक्षेपमें ग्रन्थ विद्वानोंके अपने पास रखने, मनन करने और लायब्रेरियों, ज्ञान-

मन्दिरों, विद्यालयों तथा शिक्षा संस्थाओंमें संग्रह करनेके योग्य है।

(२) वराङ्गचरित—मूल लेखक, श्री जटासिंह नन्दिआचार्य। सम्पादक, प्रोफेसर ए० एन० उपाध्याय, राजाराम कालिज कोल्हापुर। प्रकाशक, पं० नाथूराम प्रेमी, मंत्री 'माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई ४। साइज, २०×३०, १६ पेजी। पृष्ठ संख्या, सब मिलाकर ४९७। मूल्य, सजिल्द ३) २०।

यह प्राचीन संस्कृत ग्रंथ भी उन लुप्तप्राय जैन-ग्रन्थोंमेंसे है जिनके उद्धारार्थ—आजसे दस वर्ष पहले अनेकान्तमें समन्तभद्राश्रम-विज्ञप्तिर्योंके द्वारा आन्दोलन उठाया गया था और पारितोषिक भी निकाला गया था। इसके उद्धारका सारा श्रेय इसके सुयोग्य सम्पादक प्रोफेसर ए० एन० (आदिनाथ नेमिनाथ) उपाध्यायजीको है, जिन्होंने सब से पहले कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन भट्टारकके मठसे इसकी एक पुरानी ताडपत्रीय प्रतिका खोज निकाला और उसका परिचय पूनाके 'एन्नल्स आफ दि भाण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट' नामक अंग्रेजी पत्रकी १४ वीं जिल्दके अंक नं० १०२ में प्रकट किया। साथही यह भी सप्रमाण प्रकट किया कि इस वराङ्गचरितके रचयिता आचार्य जटासिंह नन्दी हैं, जिन्हें जटिलमुनि भी कहते हैं और जो ई० सन् ७७८ से पहले हुए हैं—श्रीजिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराणके एक उल्लेख/परसे इसे जा पद्मचरितके कर्ता रविषेणाचार्यकी कृति समझ लिया गया था वह उस उल्लेखको ठीक न समझनेकी गलतीका परिणाम था। उक्त परिचयको पाकर माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाके सुयोग्य मंत्री पं० नाथू-

रामजी प्रेमी, बम्बईने प्रो० साहबको इस ग्रन्थके सम्पादनके लिये प्रेरित किया, उसीका फल ग्रन्थका यह प्रथम संस्करण है और यह उक्त ग्रन्थमालाका ४० वां ग्रन्थ है।

ग्रन्थका विषय उसके नामसे ही स्पष्ट है। यह 'वराङ्ग' नामके एक राजकुमारकी कथा है, जो अपनी विमाता मृगसेनाके डाह एवं षडयन्त्रके कारण अनेक संकटोंमें गुजरता हुआ और अपनी योग्यतासे उन्हें पार करता हुआ अन्तको अपना नया स्वतन्त्र राज्य स्थापित करनेमें समर्थ हुआ और जिसने बादको जैनमुनि होकर भगवान नेमिनाथके तीर्थमें मुक्ति लाभ किया और इस तरह अपना उत्कर्ष सिद्ध करके पूर्ण स्वाधीनतामय सिद्धपदकी प्राप्ति की। कथा रोचक है; ३१ सर्गोंमें वर्णित है और प्राचीन साहित्यका एक अच्छा नमूना प्रस्तुत करती है।

प्रो० साहबने इस ग्रन्थका सम्पादन बड़ी योग्यता तथा परिश्रमके साथ किया है। आप सम्पादनकलामें खूब सिद्धहस्त हैं, इससे पहले प्रवचनसारक और परमात्मप्रकाश नामक ग्रन्थका उत्तम सम्पादन करके अच्छी ख्याति लाभ कर चुके हैं। बम्बई यूनिवर्सिटीने आपके उत्तम सम्पादनके कारण ही इस ग्रन्थ के प्रकाशन में २५० २० की सहायता प्रदान की है, प्रवचनसारकी प्रस्तावना पर भी वह पहले २५० २० पुरस्कारमें दे चुकी है और हालमें उसने प्रो० साहबको डाक्टर आफ लिटरेचर (डी० लिट०) की उपाधि से विभूषित

✽ इस ग्रन्थकी विस्तृत समालोचनाके लिये देखो, जैन सिद्धान्त भास्करमें प्रकाशित 'प्रवचनसारका नया संस्करण' नामक लेख।

कर विशेषरूपसे सम्मानित भी किया है। ऐसी हालतमें आपकी सम्पादन योग्यताके विषयमें अधिक लिखनेकी जरूरत नहीं है।

इस ग्रन्थके साथमें प्रो० साहबकी ५६ पृष्ठोंकी अंग्रेजी प्रस्तावना देखने योग्य है, जिसका हिन्दी सार भी पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्रीसे लिखाकर साथमें लगा दिया गया है और इससे हिन्दी जानने वाल भी उससे कितना ही लाभ उठा सकते हैं। प्रस्तावनामें (१) सम्पादनोपयुक्त-सामग्री (२) मूलका संगठन (३) मूलके रचयिता (४) जटासिंहनन्दि आचार्य, (५) जटासिंहनन्दीका समय और उनकी दूसरी रचनाएँ, इन विषयों पर प्रकाश डालनेके बाद (६) वरांग चरितका आलोचनात्मक—गुणदोषात्मक और तुलनात्मक परिचय कराया गया है, जिसमें ग्रन्थ-विषयका सार काव्यके रूपमें धर्मकथा, ग्रंथमेंसे दान्तिक वर्णन वादानुवादात्मक स्थलोंका निर्देश, तत्कालीन सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितिका दिग्दर्शन, अश्वघोष और जटिल, वराङ्ग चरित और उत्तरकालीन ग्रन्थकार, ग्रन्थकी व्याकरण सम्बन्धी विशेषताएँ, ग्रन्थके छन्द और ग्रन्थकी रचनाशैली जैसी विषयोंका समावेश किया गया है और अन्त में (७) दूसरे चार वरांग-चरितोंका परिचय देकर प्रस्तावनाको समाप्त किया है। प्रस्तावनाके बाद सर्ग क्रमसे ग्रन्थका विषयानुक्रम दिया है। ग्रन्थके पदोंकी वर्णानुक्रम सूची भी ग्रन्थ मेंलगाई गई है। इनके अतिरिक्त सर्गक्रमसे पद्योंकी सूचनाको साथमें लिए हुए कुछ महत्वकी टिप्पणियाँ (Notes) भी अंग्रेजीमें अलग दी गई हैं। और ग्रन्थमें पायेजानेवाले

नामोंकी भी एक पंचपृष्ठात्मक अनुक्रमणिका लगाई गई है। इस तरह ग्रन्थके इस संस्करणको बहुत कुछ उपयोगी बनाया गया है। छपाई सफाई अच्छी और गेट अप भी ठीक है। ग्रन्थ सब तरहसे संग्रह करने योग्य है। ग्रन्थके इस उद्धार कार्यके लिये सम्पादक और प्रकाशक दोनों ही धन्यवादके पात्र हैं। हाँ, ग्रन्थका मूल्य अधिक नहीं तो कम भी नहीं है। खेद है कि माणिकचंद ग्रंथमालाको दिगम्बर जैनसमाजका बहुत ही कम सहयोग प्राप्त है। उसकी आर्थिक स्थिति बड़ी ही शोचनीय है, ग्रंथ बिकते नहीं, उनका भारी स्टॉक पड़ा हुआ है। इसीसे वह अब अपने ग्रंथोंका मूल्य कम रखनेमें असमर्थ जान पड़ती है। दिगम्बर जैनोंका अपने साहित्यके प्रति यह अप्रेम और उपेक्षाभाव निःसन्देह खेदजनक ही नहीं, बल्कि उनकी भावी उन्नतिमें बहुत बड़ा बाधक है। आशा है समाजका ध्यान इस ओर जायगा, और वह अधिक नहीं तो मन्दिरोंके द्रव्यसे ही प्रकाशित ग्रंथोंसे शीघ्र खरीद कर उन्हें मन्दिरोंमें रखनेकी योजना करेगा, जिससे अन्य ग्रंथोंके प्रकाशनको अवसर मिल सके।

(२) तत्त्वार्थसूत्र—(हिन्दी अनुवादादि सहित) मूललेखक, आचार्य उमास्वाति। अनुवादक और विवेचक, पं० सुखलालजी संघवी, प्रधान जैन-दर्शनाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस। सम्पादक पं० कृष्णचन्द्र जैनागम दर्शन-शास्त्री, अधिष्ठाता श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस। तथा पं० दत्तसुख मालवणिया, न्यायतीर्थ, जैन-गमाध्यापक हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस। प्रकाशक श्री मोहनलाल दीपचन्द्र चोकसी, मंत्री

जैनाचार्य श्री आत्मानन्द-जन्म-शताब्दी-स्मारक ट्रस्ट बोर्ड, त्रावा कांटा, बहोरानो जूनोमालो चौथा माला, बम्बई न० ३। मूल्य १॥) रु०।

यह ग्रन्थ प्रायः पूर्वमें प्रकाशित अपने गुजराती संस्करणका, कुछ संशोधन और परिवर्धनके साथ, हिन्दिरूपान्तर है। इस संस्करणकी मुख्य दो विशेषताएँ हैं। एक तो इसमें पारिभाषिक शब्दकोष और सटिप्पण मूलसूत्रपाठ जोड़ा गया है, जिनमेंसे शब्दकोषको पं० श्रीकृष्णचन्द्रजी सम्पादकने और सूत्रपाठको पं० दलसुखभाई सम्पादकने तय्यार किया है। ये दोनों उपयोगी चीजें गुजराती संस्करणमें नहीं थीं। इनके तय्यार करनेमें जो दृष्टि रखी गई है वह पं० सुखलालजीके वक्तव्यके शब्दोंमें इस प्रकार है—

“पारिभाषिक शब्दकोश इस दृष्टिसे तय्यार किया है कि सूत्र और विवेचनगत सभी जैन-जैनेतर पारिभाषिक व दार्शनिक शब्द संप्रहीत हो जायँ, जो कोशकी दृष्टिसे तथा विषय चुननेकी दृष्टिसे उपयुक्त हो सकें। इस कोषमें जैनतत्त्वज्ञान और जैन आचारसे सम्बन्ध रखने वाले प्रायः सभी शब्द आजाते हैं। और साथही उनके प्रयोगके स्थान भी मालूम हो जाते हैं। सूत्रपाठमें श्वेताम्बरीय और दिगम्बरीय दोनों सूत्रपाठ तो हैं ही फिर भी अभी तकके छपे हुए सूत्रपाठोंमें नहीं आए ऐसे सूत्र दोनों परम्पराओंके व्याख्या-ग्रन्थोंको देखकर इसमें प्रथमवार ही टिप्पणीमें दिये गये हैं।”

दूसरी विशेषता परिचय-प्रस्तावनाकी है, और जो पं० सुखलालजीके शब्दोंमें इसप्रकार है—

“प्रस्तुत आवृत्तिमें छपा परिचय सामान्यरूपसे

गुजरातीका अनुवाद होने पर भी इसमें अनेक महत्वके सुधार तथा परिवर्धन भी किये गये हैं। पहलेके कुछ विचार जो बादमें विशेष आधार वाले नहीं जान पड़े उन्हें निकाल कर उनके स्थानमें नये प्रमाणों और नये अध्ययनके आधार पर खास महत्वकी बातें लिख दी हैं। उमास्वाति श्वेताम्बर परम्पराके थे और उनका सभाष्य तत्वार्थ सचेल— पक्षके श्रुतके आधार पर ही बना है यह वस्तु बतलानेके वास्ते दिगम्बरीय और श्वेताम्बरीय श्रुत व आचार भेदका इतिहास दिया गया है और अचेल तथा सचेल पक्षके पारस्परिक सम्बन्ध और भेदके ऊपर थोड़ा सा प्रकाश डाला गया है, जो गुजराती परिचयमें न था। भाष्यके टीकाकार सिद्धसेन गणि ही गंधहस्ती हैं ऐसी जो मान्यता मैंने गुजराती परिचयमें स्थिरकी थी उसका नये अकाव्य प्रमाणके द्वारा हिन्दी परिचयमें समर्थन किया है और गन्धहस्ती तथा हरिभद्रके पारस्परिक सम्बन्ध एवं पौर्वापर्यके विषयमें भी पुनर्विचार किया गया है। साथ ही दिगम्बर परम्परामें प्रचलित समन्त-भद्रकी गंधहस्तिविषयक मान्यताको निराधार बतलानेका नया प्रयत्न किया है। गुजराती परिचय में भाष्यगत प्रशस्तिका अर्थ लिखनेमें जो भ्रांति रह गई थी उसे इस जगह सुधार लिया है। और उमास्वातिकी तटस्थ परम्पराके बारेमें जो मैंने कल्पना विचारार्थ रखी थी उसको भी निराधार समझकर इस संस्करणमें स्थान नहीं दिया है। भाष्यवृत्तिकार हरिभद्र कौनसे हरिभद्र थे—यह वस्तु गुजराती परिचयमें संदिग्ध रूपमें थी जब कि इस हिन्दी परिचयमें याकिनीसू रूपसे उन हरिभद्रका निर्णय स्थिर किया है।”

अर्थात् प्रथम वर्षके अनेकान्तकी ६ से १२ नम्बर तककी किरणोंमें पं० सुखलालजीके जो तीन लेख—१ तत्त्वार्थसूत्रके प्रणेता उमास्वाति; २ उमास्वातिका तत्त्वार्थसूत्र, ३ तत्त्वार्थसूत्रके व्याख्याकार और व्याख्याएँ, इन शीर्षकोंके साथ—गुजराती संस्करणके परिचय-प्रस्तावनापरसे अनुवादित कर कुछ क्रमभेदके साथ दिये गये थे, वे सब इस संस्करणमें उक्त विशेषताके अनुरूप संशोधित और परिवर्तित होकर दिये गये हैं। और इसलिये यह दूसरी विशेषता विद्वानोंके सामने कितनी ही नई बातें विचारके लिये प्रस्तुत करती है। पं० सुखलालजीकी दृष्टिमें अब तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पूर्णरूपसे श्वेताम्बरीय ग्रन्थ है—उमास्वातिके दिगम्बर-श्वेताम्बर-सम्प्रदाय भेदसे भिन्न एक तटस्थ विद्वान होनेकी और इसीसे दोनों सम्प्रदायों द्वारा उनकी इस वृत्तिके अपनाये जानेकी जो कल्पना पहले उन्होंने की थी वह अब नहीं रही। इस विशेषताकी कितनी ही बातों पर विशेष विचार प्रस्तुत करनेकी अपनी इच्छा है, जिसे यथावकाश बादकी कार्यमें पारणत किया जायगा।

ग्रन्थका यह संस्करण अनेक दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण है, हिन्दी-पाठकोंके सामने विचारकी प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करता है, छपाई-सफाई भी इसकी सुन्दर हुई है और मूल्य १॥) ६० तो प्रचारकी दृष्टिसे कम रक्खा ही गया है, जबकि गुजराती संस्करणका मूल्य २॥) ६० था। अतः ग्रन्थ विद्वानोंके पढ़ने, विचारने तथा संग्रह करनेके योग्य है।

(४) सन्मतितर्क ( अंग्रेजी अनुवाद सहित )—मूलग्रन्थ लेखक, सिद्धसेनाचार्य, मूलगुजराती टीकाकार तथा प्रस्तावना लेखक, पं० सुखलाल व

पं० बेचरदास। अंग्रेजीमें प्रस्तावनाऽनुवादक, प्रो० ए०बी० आथवले, एम०ए०; मूल तथा टीकानुवादक प्रो० ए० एस० गोपनी, एम० ए०। सम्पादक, पं० दलमुख मालवनिा प्रकाशक, 'सैक्रेटरी श्री जैन, श्वेताम्बर एजुकेशन बोर्ड, २० पायधुनी, बम्बई ३। पृष्ठ संख्या, ४१६। मूल्य, १) ६०।

सन्मतितर्क पर पं० सुखलाल और पं० बेचरदासजीने जो पहले सन् १९३३ में गुजराती टीका तथा प्रस्तावना लिखी थी उसीका यह ग्रंथ मूलकारिकाओंके साथ अंग्रेजी अनुवाद है, जो उक्त दो विद्वानोंसे कराया गया है। साथमें नामादि-विषयक दो उपयोगी Index भी लगभग दिये गये और इस तरह उसके द्वारा अंग्रेजी जाननेवालोंके लिये सन्मतितर्कको पढ़ने-पढ़ाने और उसकी महत्वपूर्ण प्रस्तावना (Introduction) से यथेष्ट लाभ उठानेका मार्ग सुगम किया गया है। पं० सुखलालजी आदिका यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। इस ग्रन्थके निर्माण तथा प्रकाशन कार्यमें श्रीमती लीलावती धर्मपल्ली स्व० सेठ देवीदासकानजी बम्बईने ११००) ६० की और मास्टर रतनचन्द तलकचन्दजीने ३००) ६० की सहायता प्रदान की है।

(५) श्री आत्मानन्द-जन्मशताब्दि-स्मारकग्रन्थ—सम्पादक, श्री मोहनलाल दलीचन्द देशाई, एडवोकेट, बम्बई। प्रकाशक, श्री मगनलाल मूलचन्द-शाह, मन्त्री श्री आत्मानन्द-जन्म-शताब्दि-स्मारक-समिति, बम्बई। मूल्य, २॥) ६०।

यह 'अनेकान्त'—साइजके आकारमें अनेकानेक लेखों तथा चित्रोंसे अलंकृत और कपड़ेकी सुन्दर पुष्टजिल्दसे सुसज्जित 'कल्याण'के विशेषाङ्कों—जैसा एक बहुत बड़ा दलदार ग्रन्थ है, जो श्वेताम्बर जैनाचार्य

श्रीमद्विजयानन्दसूरि, प्रसिद्ध नाम आत्मारामजी महाराजकी जन्मशताब्दिकी स्मृतिमें एक समिती स्थापित करके विशाल आयोजनके साथ निकाला गया है। इसमें लेखोंके मुख्य तीन विभाग हैं— (१) अंग्रेजी, (२) हिन्दी और (३) गुजराती। अंग्रेजी लेखोंकी संख्या ३५, हिन्दी लेखोंकी ४० और गुजराती लेखोंकी ५८ है। गुजरातीके लेख दो विभागोंमें बंटे हुए हैं—एक खास मुनि आत्मारामजी-विषयक, जिनकी संख्या २६ है और दूसरे अन्य विषयोंसे सम्बन्ध रखने वाले जिनकी संख्या ३२ है। अंग्रेजीके लेखोंकी पृष्ठ संख्या १९०, हिन्दी लेखोंकी—(जिनमें कुछ संस्कृतके पद्य लेख भी शामिल हैं) २१८, और गुजराती लेखोंकी १४४+२६० है। इनके अतिरिक्त सम्पादकीय वक्तव्य, प्रकाशकीय निवेदन और लेखसूचियों आदिके पृष्ठोंका भी यदि लेखा लगाया जाय तो ग्रंथकी कुल पृष्ठ संख्या ८५० के करीब होजाती है। चित्रोंकी कुल संख्या १५० है, जिनमेंसे २९ अंग्रेजी विभागके साथ, ५० हिन्दी विभागके और ६० गुजराती लेखोंके साथ दिये हैं। शेष ११ चित्रोंमेंसे ९ तो लेखारम्भ से पहले दिये हैं, एक शताब्दि नायकका सुन्दरचित्र बाहर कपड़ेकी जिल्दपर चिपकाया गया है और दूसरा जिल्दके भीतर ग्रन्थारम्भसे पहले छपा गया है। चित्र अनेक व्यक्तियों, संस्थाओं, जलसों, मंदिरों, मूर्तियों, शिलालेखों तथा हस्तलेखोंसे

सम्बन्ध रखते हैं और वे तिरंगे, फोटोके तथा रेखा चित्रादि रूपसे अनेक प्रकारके हैं।

इस ग्रन्थमें लेखांका संग्रह तथा संकलन अच्छा हुआ है। कितने ही लेख तो बड़े महत्वके हैं। 'जैनधर्म और अनेकान्त' नामका एक लेख उनमेंसे 'अनेकान्त' के गत वर्षकी छठी किरणमें उद्धृत भी किया गया था। चित्र भी कितने ही मनमोहक तथा कामके हैं। संक्षेपमें अपने पाठकोंके लिये यह ग्रन्थ अनुभव, विचार तथा मननकी अच्छी सामग्री प्रस्तुत करता है। छपाई सफाई और गेट-अप सब चित्ताकर्षक है, कागज भी अच्छा चिकना तथा पुष्ट लगा है और मूल्यका तो कहना ही क्या! वह तो बहुत ही कम है और स्मारक समितिकी प्रचार दृष्टिको सूचित करता है। यदि इससे दुगना-पाँच रुपये-मूल्य भी रक्खा जाता तो भी कम ही होता। ऐसी हालत में कौन साहित्यप्रेमी है जो ऐसे ग्रन्थका संग्रह न करे! श्वेताम्बर समाजका अपने वर्तमान युगीन एक सेवापरायण पूज्याचार्यके प्रति यह भक्ति भाव और कृतज्ञता-प्रकाशनका आयोजन निःसन्देह बड़ा ही स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है और उसमें जीवनशक्तिके अस्तित्वको सूचित करता है। साथ ही दिगम्बर समाजके लिये ईर्ष्याके योग्य है और उसके सामने इस दिशामें एक अच्छा कर्तव्यपाठ प्रस्तुत करता है।



# वीतराग प्रतिमाओंकी अजीब प्रतिष्ठा विधि

[ लेखक:— श्री बाबू सूरजभानजी वकील ]



**जै**न शास्त्रोंके पढ़ने और पं० गोपालदास आदि विख्यात विद्वानोंके उपदेशोंसे अब तक यही मालूम हुआ है कि जैनधर्म मूर्तिपूजक नहीं है किन्तु मूर्तिसे मूर्तिका तो काम लेनेके वास्ते ही वीतराग भगवान्की मूर्तियोंको मन्दिरोंमें स्थापित करनेकी आज्ञा देता है, जिससे अर्हत भगवान्की वीतराग छविको देखकर, देखने वालोंके हृदयमें भी वीतराग भाव पैदा हों। जैनधर्मका सार एकमात्र वीतरागता और विज्ञानता ही है, यह ही मोक्षका कारण है। इन दोनोंमें भी एकमात्र वीतरागता ही विज्ञानताका कारण है। वीतरागतासे ही केवलज्ञान प्राप्त होता है और सर्व सुख मिलता है इस ही वास्ते जैनधर्म एकमात्र वीतरागता पर ही जोर देता है, जो वास्तवमें जीवात्माका वास्तविक स्वभाव वा धर्म है। उस ही वीतरागताकी प्राप्तिके मुख्यहेतु वीतराग कथित जिनवाणीका श्रवण, मनन और पठन-पाठन है, जिसमें वीतरागताकी मुख्यता श्रेष्ठताको भली भाँति दिखाया गया है और वस्तुस्वभाव तथा नय-प्रमाणके द्वारा हृदयमें बिठानेकी प्रचुर कोशिश की गई है। इस ही के साथ जिन्होंने वीतरागता प्राप्त कर अपना परमानन्दपद प्राप्त करलिया है उनको वीतराग-मूर्तिके दर्शन होते रहना भी वीतरागभाव उत्पन्न करनेके वास्ते कुछ कम कारण नहीं है। इसीसे जैनशास्त्रोंमें घर घर जिनप्रतिमा विराजती रहनेको अत्यन्त जरूरी बताया है, जिससे उठते-बैठते हरवक्त ही सबका ध्यान वीतराग-मूर्ति पर पड़ता रहे और यह पापी मन संसारमें

अधिक न उलझने पावे। सारचौबीसी नामक ग्रन्थमें लिखा है—

यत्रागारे जिनार्चाहो नास्ति पुण्यकरानृणाम् ।

तद्गृहं धार्मिकैः प्रोक्तं पापदं पक्षि स भम ॥६१॥

अर्थात्—जिस घरमें मनुष्योंको पुण्य प्राप्त कराने वाली जिनप्रतिमा नहीं है उस घरको धार्मिक पुरुष पाप उपजानेवाला पक्षियोंका घर बताते हैं। इस ही प्रकार पद्मपुराणके पर्व ६२वें में लिखा है—

अथप्रभृति यद्गोहे विबं जैनं न विद्यते ।

मारी भक्षति तद्भ्याघ्री यथाऽनार्थं कुरंगकम् ॥

अर्थात्—जिस घरमें जिन प्रतिमा नहीं है उस घरको (घर वालोंको) मारी (प्लेग जैमी बीमारी) उसी तरह खाती है जिस तरह अभय हिरणको शेरनी।

जैनधर्म वीतराग धर्म है, इस ही कारण वह परम वीतरागीदेव, वीतरागीगुरु और वीतरागताकी शिक्षा देनेवाले शास्त्रोंकी ही पूजा वंदना करनेकी आज्ञा देता है तथा रागीदेव, रागीसाधु और रागको पुष्ट करने वाले शास्त्रोंको अनायतन ठहराकर उससे बिलकुल ही दूर रहने पर जोर देता है। वीतरागदेव, गुरु, शास्त्रकी पूजा-प्रतिष्ठा वंदना-स्तुति भी वह किसी सांसारिक कार्य की सिद्धिके वास्ते करना कतई मना करता है। इस प्रकारकी काँक्षा रखने वालेको तो जैनधर्म सच्चा श्रद्धानी ही नहीं मानता है; किन्तु मिथ्यात्वी ठहराता है। भक्ति स्तुति-पूजा-पाठ आदि धर्मकी सब क्रिया तो वह एकमात्र वैराग भाव हल करनेके वास्ते ही जरूरी बताता है।

इसही कारण तीर्थकर भगवानकी भक्ति भी एक मात्र उनकी वीतराग अवस्थाकी ही करनी जरूरी बताई जाती है, जिससे वीतरागताका भाव पैदा हो, न कि उनकी गृहस्थावस्थाकी, जिससे राग-भाव पैदा होनेकी ही सम्भावना हो सकती है। ऐसी दशामें सवाल यह पैदा होता है कि वीतराग-प्रतिमा, जिसके घर-घर रखनेकी जरूरत है; वह क्या इस प्रकार प्रतिष्ठित होनी जरूरी है, जिस प्रकार पंचकल्याणकोंकी लीला करके आजकल प्रतिष्ठित समझी जाती है, और प्रतिष्ठा होनेके बाद शिल्पी द्वारा उनपर प्रतिष्ठित किया जाना अंकित कराया जाता है, अथवा बिना इस प्रकारकी लीलाके वैसे ही उनको विराजमान कर उनके दर्शनसे वीतरागताकी शिक्षा लेते रहनेकी ही जरूरत है, जैसा कि प्राचीन कालके जैनी करते थे। क्योंकि प्राचीनकालकी जो जैनप्रतिमाएँ धरतीमेंसे निकलती हैं वे चौथे कालकी हैं या पंचम कालकी; उनपर प्रतिष्ठा होना अंकित नहीं होता है जैसा कि आजकलकी मूर्तियों पर होता है। मूर्ती निर्माण कराने वाले शिल्पशास्त्रोंमें प्रत्येक तीर्थकरकी अलग अलग शक्ल नहीं बताई गई है, जिससे शिल्पकार पहलेसे ही प्रत्येक तीर्थकरकी अलग अलग मूर्ति बनावें। वह तो सबही मूर्तियाँ एक समान बनाता है और उसमें महावीतरागताका भाव दर्शानेका खयाल रखता है। फिर चाहे जिस पर चाहे जिस तीर्थकरका चिन्ह बना देता है। तब यदि यह चिन्हन बनाया जावे तो वह मूर्ति सबही तीर्थकरोंकी, उनकी परम वीतरागरूप अवस्थाकी समझी जा सकती है, ऐसी ही वे प्राचीन मूर्तियाँ समझी जाती थीं जो धरतीके नीचेसे निकलती हैं और जिन पर प्रायः कोई चिन्ह बना हुआ नहीं होता है। वीतरागताका भाव पैदा करनेके वास्ते तो हमको इस बातकी कुछ भी जरूरत नहीं होती है कि वह किसी

तीर्थकरकी प्रतिमा है। किसी भी तीर्थकरकी हो परम वीतराग रूप प्रतिमा जरूर होनी चाहिये, जिसके दर्शनसे वीतरागताका भाव हमारे हृदयमें भी पैदा होने लग जाय। रही पूजने या भक्ति-स्तुति करनेकी बात, वह बेशक अलग अलग तीर्थकरकी अलग अलग की जाती है, परन्तु जिस तीर्थकरकी प्रतिमा मन्दिरमें नहीं होती है, उनकी भी पूजा बंदना और भक्ति-स्तुति की जाती है। यह भक्ति स्तुति प्रतिमाकी तो की ही नहीं जाती है और न मन्दिरमें विराजमान प्रतिमाको वास्तविकरूपमें तीर्थकर भगवान ही माना जाता है। मूर्तिसे तो मूर्तिका ही काम लेनेकी आज्ञा है अर्थात् यह ही समझने और माननेकी जरूरत है कि यह तीर्थकरभगवानकी परम वीतरागरूप अवस्थाकी मूर्ति है तब प्रत्येक तीर्थकरकी अलग २ प्रतिमा रखने और उनपर अलग २ चिन्ह बनानेकी तो कुछ भी जरूरत नहीं है वहाँ यदि इन मूर्तियोंको ही साक्षात् भगवान मानकर पूजनेकी आज्ञा होती तब तो बेशक अलग २ तीर्थकरकी अलग २ मूर्ति बनानेकी भी जरूरत होती; परन्तु अब तो परम वीतरागताकी मूर्तिके दर्शन करनेके वास्ते एक ही मूर्ति काफी है, जो सबही तीर्थकरोंकी मूर्ति समझी जा सकती है। इसही कारण कोई भी चिन्ह बनानेकी जरूरत मालूम नहीं होती है।

अब भी जिन मंदिरोंमें सबही तीर्थकरोंके चिन्होंवाली मूर्तियाँ नहीं होती हैं। एक, दो या तीन ही मूर्तियाँ होती हैं, उन मंदिरोंमें भी तो चौबीसों तीर्थकरोंकी पूजा-भक्ति होती है अर्थात् वीतरागताकी शिक्षा तो उन विराजमान प्रतिमाओंसे लेली जाती है और पूजाभक्ति सबकी अपने मनमें उनका स्मरण करके करली जाती है। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जिन तीर्थकरोंकी प्रतिमा नहीं होती हैं उनकी स्थापना अक्षतों द्वारा करली जाती है। परन्तु स्थापना करके पूजन तो एक दो

ही करते हैं, बाक़ी जो सैकड़ों जैनी मंदिरमें आते हैं और वीतराग प्रतिमाके दर्शन करके सबही तीर्थंकरोंको स्मरण कर, उनकी भक्ति स्तुति करते हैं और चावल, लौंग, बादाम आदि हाथमें जो हो वह भक्तिसहित सबही तीर्थंकरोंको चढ़ाते हैं, तो क्या स्थापनाके बिना वह उनकी भक्तिस्तुति बिल्कुल ही निरर्थक होती है। इसके अलावा मंदिरके समयसे अलग जो लोग अपने घरपर या मंदिरके एक कौनेमें बैठकर २४ तीर्थंकरोंका या पंच-परमेष्ठिका जाप करते हैं—हृदयसे उनकी भक्तिस्तुति और बंदना करते हैं तो क्या स्थापना न करनेसे या उनकी मूर्ति सामने न होनेसे जिनकी वे भक्तिस्तुति करते हैं उनकी वह भक्तिस्तुति या जाप आदि व्यर्थ ही जाता है। नहीं नहीं ! व्यर्थ नहीं जाता है। यदि वे उनके वीतरागरूप गुणोंको याद करके, उन गुणोंकी भक्ति स्तुति करते हैं तो बेशक उनका यह कार्य महा-कार्यकारी और फलदायक होता है। यह ही जैनशास्त्रोंका स्पष्ट आशय है। जिससे यह साफ़ सिद्ध है कि भक्ति स्तुति और पूजा बंदनाके वास्ते न तो प्रतिमा ही ज़रूरी है और न स्थापना या जलचन्दनआदि द्रव्य ही, किन्तु एकमात्र वीतरागरूप परमेष्ठियोंके वैराग्य और त्यागरूप गुणोंकी बड़ाई अपने हृदयमें बैठानेकी ही ज़रूरत है; जिससे हमारे पापी हृदयमेंसे भी रागद्वेष रूप मैल कम हो होकर हमारा हृदय भी कुछ पवित्र होने लग जाय, हमारे हृदयमें भी वीतरागरूप भावोंको स्थान मिलने लग जाय। और हम भी कल्याणके मार्ग पर लगनेके योग्य हो जायें।

बेशक तीर्थंकरोंकी वीतरागरूप प्रतिमाके दर्शनसे भी हमको वैराग्यकी उत्तेजना मिलती है, परन्तु श्री तीर्थंकरों, सिद्धों और सब ही वीतरागी साधुओंके वीतरागरूप गुणोंको याद करके, उन गुणोंकी प्रतिष्ठा

अपने हृदयमें बिठाते रहनेसे हृदयमें उनकी भक्ति स्तुति करते रहनेसे—हरवक्त ही हमारे भावोंकी शुद्धि होती रहती है और यह भक्ति स्तुति हम बार बार हर जगह कर सकते हैं। वहाँ प्रतिमा हो या न हो, इस बातकी कोई ज़रूरत नहीं है; परम वीतरागरूप प्रतिमाके दर्शन तो हमको वीतरागताकी उत्तेजना दे देते हैं, उससे वीतरागरूप भावोंकी उत्तेजना होने पर हमारा यह काम है कि परम वीतरागी पुरुषों, अर्हंतों, सिद्धों, और साधुओंको याद करकर उस वीतरागरूप भावको हृदयमें जमाते रहें और जब जब भी मौक़ा मिले उनके गुणोंकी भक्ति-स्तुति और पूजा बंदना अपने हृदयमें करते रहें। और यदि हो सके तो दिनमें कोई २ समय ऐसा स्थिर कर लें जब एकान्तमें बैठकर स्थिर चित्तसे उनकी भक्तिस्तुति पूजा बंदना कर सकें, जिसके वास्ते हर वक्त प्रतिमा सामने रखने व स्थापना करनेकी ज़रूरत नहीं है। यह सब तो हृदय मन्दिरमें ही हो जाती है।

इस प्रकार जब वीतरागरूप मूर्तिसे मूर्तिका ही काम लिया जाता है; उसको साक्षात् तीर्थंकर माननेसे साफ़ २ इनकार किया जाता है। किसी प्रकार भी अपनेको मूर्ति-पूजक नहीं बताया जाता है। और मूर्ति भी वीतरागरूप ही रखनेकी ताकीद है। कोई वस्त्र अलंकार यहाँ तक कि अगर एक तागा भी उस पर पड़ जाय तो वह कामकी नहीं रहती है; तो गर्भ-जन्म, खेल-कूद और राज-भोग आदिका संस्कार उसमें पैदा करनेकी क्या ज़रूरत है, जो प्रतिष्ठा विधिके द्वारा कुछ दिनोंसे किया जाना शुरू हो रहा है। हम दिगम्बर-आम्नायके माननेवाले जैनी, तीर्थंकर भगवान्की राजअवस्थाकी मूर्तिको माननेसे साफ़ इनकार करते हैं। अनेक तीर्थंकरोंने विवाह कराया है। यदि उनकी उस अवस्थाकी मूर्ति उनकी स्त्रियों सहित बनाई जाय, जो तीर्थंकर चक्रवर्ती

हुए हैं, उनकी मूर्ति उनकी ६६ हजार रानियों सहित बनाई जाय और जब वे फौज पलटन लेकर छह खंड फलतह करनेको निकले थे, तबकी उनकी मूर्ति फौज पलटन और लड़ाईके सब हथियारोंसहित बनाई जाय तो क्या हमारे दिगम्बर भाई उसको अपने जैन मन्दिरोंमें रखना मंजूर कर लेंगे ? क्या उनकोभी इसी तरह मानेंगे जिस तरह इन वीतरागी प्रतिमाओंको मानते हैं और क्या ऐसा करना जैनधर्म, जैनशास्त्रों और जैनसिद्धान्तोंके विरुद्ध न होगा ।

यदि गृहस्थावस्था और राजपाटके समयकी तीर्थ-कर भगवान्की मूर्तियाँ मन्दिरमें रखने और दर्शन और मनन करनेके योग्य नहीं हैं तब इन परम वीतरागी प्रतिमाओंको मन्दिरमें रखने और दर्शन मनन करने योग्य बनानेके वास्ते इनके ऊपर गर्भ, जन्म और राज भोगकी लीलाओंका हो जाना क्यों जरूरी समझा जाने लगा है । यह तो बिल्कुल ही उलटी बात हुई । जब हम भगवान्के बालपन या गृहस्थ-जीवनकी मूर्तियाँ अपने लिये कार्यकारी नहीं समझते हैं, किन्तु उनकी परमवीतराग अवस्थाकी मूर्ति ही अपने लिये कार्यकारी समझते हैं, जिसके दर्शनसे हमको भी वीतरागताकी प्रेरणा हो, हम भी इस पापी गृहस्थके जंजालके महा-मोहको तोड़ अपने आत्म कल्याणमें लगेँ और महादुख-दाई संसारसागरसे निकल अविनाशी सच्चे सुखका अनुभव करें, तब इन परमवीतराग रूप मूर्तियोंके ऊपर गर्भ-जन्म और गृहस्थभोग आदिका संस्कार करनेसे तो इनको साफ तौर पर बिगाड़ना और अपने कामके योग्य नहीं रहने देना ही है ।

वैष्णव हिन्दू श्रीकृष्णकी बाल्यावस्थाको “टुमक टुमक चलत बाल बाजत पैजनियाँ” ग्रामकी गोपियोंके साथ उसकी नाना प्रकारकी क्रीड़ाओं और किलोलोंको,

तालाबमें नहाती हुई नंगी स्त्रियोंके चीरहरणके महा-निंदनीय किलोलको कृष्णके साथ राधाके प्रेमको, या शेषनागके पकड़ने और कंसको मार डालनेकी कृष्णकी बहादुरीको पूजने बंदनेयोग्य समझ, इस ही रूपमें उसकी भक्ति स्तुति करते हैं; उसके इन ही सब कृत्योंकी लीला करके अपनेको धन्य समझते हैं । यह ही उनका कीर्तन, भक्ति-स्तुति और पूजन है । ऐसी ही अवस्थाओंकी वे मूर्तियाँ अपने मन्दिरोंमें बनाते हैं और प्रतिमायें स्थापन करते हैं । इन ही सब लीलाओंके करनेसे वे कृष्ण भगवान्की प्रतिमाको प्रतिष्ठित और मन्दिरमें स्थापने पूजने और बंदने योग्य बनाते हैं । ऐसी ही प्रतिमा वे श्रीरामचन्द्रकी बनाते हैं, जिनको बगलमें सीता बैठी हो, हनुमान गदा लिये पास खड़ा हो । इस प्रतिमाकी प्रतिष्ठा यदि वे सीताके हरण होजाने पर रोते फिरने, फिर हनुमानकी सहायतासे लंका पर चढ़ाई करने, महाधमासान युद्ध कर लाखों करोड़ों पुरुषोंका बध होनेके बाद रावणको मार सीताको घर ले आनेकी लीला करनेके द्वारा करें तो ठीक ही है । उनके मतके अनुसार उनके परमपूज्य विष्णुभगवान्ने रावणको मारनेके वास्ते ही तो रामचन्द्ररूपमें जन्म लिया था, और फिर इस ही प्रकार कंसको मारने और गोपियोंका उद्धार करनेके वास्ते ही कृष्णके रूपमें जन्म लिया था । इस ही प्रकारके रूपोंमें वे अपने विष्णु भगवान्को पूजते हैं । इस कारण उनका राम और कृष्णकी यह सब लीलायें करना, इन ही सब लीलाओंकी भक्ति-स्तुति करना, इन सब लीलाओंके करनेसे ही इनकी प्रतिमाओंको पूज्य और प्रतिष्ठित बनाना तो बेशक ठीक बैठता है, लेकिन इन अपने पड़ोमियोंकी रीसकर, हमारा भी अपनी परमवीतरागरूप प्रतिमाओं पर अपने तीर्थकर भगवान्के बालपन, गृहस्थजीवन और राजभोग

आदिकी लीला करके ही उनको प्रतिष्ठित मानना कैसे ठीक बैठ सकता है ? यह तो उलटा उनको बिगाड़ना, और अपने कारजके विरुद्ध बनाना है ।

कच्चा हंसकी चाल चले या हंस कच्चेकी चाल चले दोनों ही सूरतोंमें नकल ठीक नहीं बैठती है; किन्तु बात हंसी मखौलके ही योग्य हो जाती है । यही हाल इस त्रिषयमें हमारा हो रहा है । हम दूसरोंकी रीस करके लीला तो करना चाहते हैं गर्भसे लेकर निर्वाण तककी अवस्था की, परन्तु हमारे पास है केवल एक परम वीतराग अवस्थाकी ही प्रतिमा । उसहीको प्रतिष्ठित करनेके बहानेसे हम यह सब लीला रचते हैं; परन्तु बहाना तो बहाना ही होता है । इसही कारण उस अपनी परम वीतरागरूप प्रतिमाको ही गर्भमें रखकर गर्भका बहाना करते हैं, उसही परमवैरागरूप प्रतिमाको पालनेमें ओंघी रखकर इस तरह झुलाते हैं जिस तरह छोटे छोटे बच्चोंको झुलाया करते हैं । यह झुला झुलानेकी लीला प्रतिष्ठाकी विधि करने वाले ही नहीं करते हैं; किन्तु सबही यात्री स्त्री-पुरुष आकर एक-एक दो-दो झोटे देते हैं और रुपये चढ़ाते हैं । परन्तु इन सबही झोटा देनेवाले यात्रियोंसे ज़रा पूछो तो सही कि पालनेमें ओंघी पड़ी हुई जिस मूर्तिको तुमने झुलाया है वह बालक अवस्थाकी मूर्ति नज़र आती थी या परम वीतराग अवस्थाकी ? जवाब यह ही मिलेगा कि मूर्ति तो पालनेमें परम वीतराग अवस्थाकी ही ओंघी डाल रखी थी । तब तुमने बालकको झुलाया या भगवानकी परम वीतराग अवस्थाकी मूर्तिको; और वह भी ओंघी डालकर । सोचो और खूब सोचो कि यह लीला तुम किस तरह कर रहे हो ? यह जैनधर्मकी लीला कर रहे हो या उसका मखोल ? इसही प्रकार जब इसही परम वीतरागरूप प्रतिमाको कंकण और अन्य आभूषण पहनाते हो और राज अवस्था

बनानेके वास्ते उसके पास तीर तरकश, ढाल-तलवार और गदा आदि सब हथियार रखते हो तो क्या उस वीतराग प्रतिमाकी जो पद्मासन लगाये, हाथ-पै-हाथ रखे, आत्मध्यानमें मग्न दिखाई दे रही है, जिसके सिरके केश नोचे हुए मालूम पड़ रहे हैं, पूर्ण परम दिगम्बर अवस्था है, जिसकी परम वीतरागरूप छवि बनानेके वास्ते कारीगरने अपनी सारी कारीगरी खर्च कर दी है और प्रतिष्ठा कराने वाले ने भी सबसे अधिक वीतराग छवि दिखानेवाली यह प्रतिमा कारीगरकी अनेक प्रतिमाओंमेंसे छूँटकर ली है । ऐसी प्रतिमाके पास मनुष्योंकी हिंसाके करनेवाले युद्धके हथियार रख देनेसे क्या वह राजाकी मूर्ति बन जाती है । नहीं नहीं; ऐसा करनेसे न तो वह राजाकी ही लीला, बनती है और न वीतरागकी ही; किन्तु बिल्कुल ही एक विलक्षण लीला बनजाती है जो आजकलके जैनियोंकी बुद्धिकी माप कराने वाली सर्वसाधारणके वास्ते प्रत्यक्ष कसौटी होती है ।

इन सब बेसिर पैरकी अद्भुत लीलाओंके अलावा यह भी तो सोचनेकी बात है कि यदि वास्तवमें इन अद्भुत लीलाओंके करनेसे तीर्थंकर भगवान्के बालपन, गृहस्थभोग, विवाह शादी, स्त्रीभोग, राजभोग और युद्धआदि करनेका सब संस्कार उस वीतराग प्रतिमा पर पड़ता है, जिसके साथ यह लीलाएँ की जाती हैं जिसकी प्रतिष्ठाकी जाती है, तो उस प्रतिमामें यह सब संस्कार पड़ जानेसे वह परम वीतरागरूप कैसे रह सकती है ? परम वीतरागरूप तो वह तबतकही थी जबतककी उसमें यह महारागरूप राजपाटके संस्कार नहीं डाले गये थे । उस परम वीतराग रूप भगवानकी महावीतरागरूप प्रतिमाको यह सब लीलाएँ कराकर तो मानों परम वीतरागरूप भगवानको आपने फिरसे

गृहस्थमें डाला है और उनकी इस परम वीतरागरूप प्रतिमामें भी गृहस्थ और राजपाटके सब संस्कार घुसेड़े हैं। अर्थ जिसका यह होता है कि प्रतिष्ठा करनेसे पहले जो यह परम वीतरागरूप प्रतिमा कारीगरने बनाई थी उसमें तो एक मात्र वीतरागताही वीतरागता थी, जो ~~काम~~ उग्रयोगी नहीं थी, अब आपने उसमें गृहस्थ और राजभोगके सब संस्कार डालकर ही उसको अपने कामकी बनाया है, परन्तु जरा सोचो तो सही कि यह काम आपका जैनधर्मके अनुकूल है, या विलकुल ही उसके विपरीत। चाहे कव्वेने हंसकी चाल चली हो या हंसने कव्वेकी चाल चली हो, परन्तु यह चाल न तो हंसकी ही रही है, और न कव्वेकी ही, किन्तु विलक्षण रूप एक तीसरी ही चाल होगई। वैष्णव लोग अपने भगवानकी रागरूप अवस्थाको पूजते हैं और वैसीही उनकी प्रतिमा बनाते हैं और जैनी वीतरागरूप भगवानको पूजते हैं और उसही अवस्थाकी उसकी प्रतिमा बनाते हैं। इन वीतरागरूप प्रतिमाओंमें जरा भी रागरूप भाव आजाय, उनको वस्त्र आभूषण पहना दिये जायें या युद्धके हथियार उनके साथ लगा दिये जायें तो वह प्रतिमाएँ उनके कामकी नहीं रहती हैं; परन्तु जब कारीगर उनको ऐसीही वीतरागरूप प्रतिमा बनाकर देते हैं, जैसी वे चाहते हैं तब आजकलके हम जैनीलोग उन वीतरागरूप प्रतिमाओंको उस वक्त तक क्यों नाकाफ़ी या बिना कामकी समझते हैं जब तककी उनके साथ गृहस्थ जीवन और राजभोगकी लीलाएँ करके उनमें रागका संस्कार नहीं कर लेते हैं। क्या इसका यह अर्थ ~~नहीं~~ है कि जैनधर्म अब परम वीतराग धर्म नहीं रहा है किन्तु अपने उग्रवक्तके पड़ोसी वैष्णव भाइयोंको अपने परमरागी देवताओंकी ही भक्ति-स्तुति पूजा-कंदना करता देख आपने परम वीत-

राग देवताओंमें भी रागका प्रवेश करानेके लिये परम वीतरागरूप प्रतिमाओंमें भी गृहस्थ भोगका संस्कार डाल, इन अपनी वीतरागरूप मूर्तियोंको मूर्ति न मान कर अपने वैष्णव भाइयोंकी तरह इन मूर्तियोंको ही साक्षात् रागी परमात्मा ठहराकर उनके पूजनेसे उस ही तरह अपने गृह कार्योंकी सिद्धि चाहने लग गये हैं जिस तरह उनके पड़ोसी भाई अपने रागी देवताओंको पूज कर करते हैं।

परन्तु इसमें एक बात विलक्षण है और वह यह है कि प्रतिष्ठाविधिमें किसी एक ही प्रतिमाका गर्भ, जन्म और राजपाट आदि संस्कार होता है। सिर्फ एक ही प्रतिमा, जो किमी एक ही तीर्थंकर भगवानकी होती है, वह ही एक पालनेमें फुलाई जाती है, उस ही को कंकण आदि आभूषण पहनाये जाते हैं और उस ही के पास तीर कमान और ढाल तलवार आदि मनुष्य हिसाके उपकरण रखे जाते हैं। तब जो भी राग संस्कार पैदा हो सकते हों वे तो उस एक ही भगवानकी एक प्रतिमामें पड़ेंगे, जिसके साथ यह सब लीलाएँ की जावेंगी; बाकी सैकड़ों प्रतिमाएँ जो वहाँ रखी होंगी, उनके साथ ऐसी लीला न होनेसे उनमें तो रागके संस्कार किसी तरह भी नहीं पड़ सकेंगे, वे तो वैसी ही परमवीतरागरूप रहेंगी जैसी कि शिल्पीने बना कर दी थीं। तब वे आजकलके जैनियोंके वास्ते पूज्य और उनके गृह कार्योंकी सिद्ध करनेवाली कैसे हो जाती हैं—?

वास्तवमें बात यही है कि हमने दूसरोंकी रीस करके और भट्टारकोंके बहकायेमें आकर अपनी असली चाल-को खोदिया है, जिससे हम इधरके रहे हैं न उधरके। हमारी पहली चाल उन प्राचीन प्रतिमाओंसे साफ मालूम होती है जो धरतीमेंसे निकलती हैं, जिनपर प्रतिष्ठित होनेका कोई चिन्ह नहीं होता है और जिनको

आजकलके हमारे भाई चौथेकालकी अर्थात् सतजुगकी कहने लगते हैं। चौथे काल या सतजुगकी होनेसे तो हमको उनसे सबक लेना चाहिये और बिना इस प्रकारकी प्रतिष्ठा कराये ही जैसी आजकल होती है, शिल्पीके हाथसे लेते ही अपने काममें लाने लगना चाहिये। ज़रा विचारनेसे हमारे भाइयोंकी समझमें आजायगा कि किस प्रकार आपसे आप ही वस्तुओंकी प्रतिष्ठा होने लग जाती है। बाज़ारमें यज्ञाज्ञकी दुकान पर अनेक टोपियाँ और बड़ी पगड़ियाँ विक्रीके वास्ते रखी रहती हैं; उनकी कोई खाम प्रतिष्ठा किसीके हृदयमें नहीं रहती है। परन्तु ज्योंही हम उनमेंसे किसी टोपी या पगड़ीको खरीद कर अपने सिरपर रखने लगते हैं, तब ही से उस टोपी या पगड़ीकी इज्जत व प्रतिष्ठा होना शुरू हो जाती है। इस ही प्रकार मूर्ति भी जबतक कारीगरके पास रहती है, तबतक वह मामूली चीज़ होती है, परन्तु ज्योंही हम उसको कारीगरसे लेकर अपने इष्टदेवताकी मूर्ति मानने लगते हैं तब ही से उसकी प्रतिष्ठा व इज्जत होना शुरू हो जाती है। उसकी प्रतिष्ठाके लिये इस प्रकारकी बेजोड़ लीलाओंके करनेकी कोई ज़रूरत नहीं है जैसी आजकल की जाती है। परन्तु आजकल तो हम लोग वीतरागप्रतिमासे वीतरागभावोंकी प्राप्ति का काम नहीं लिया चाहते हैं। मूर्तिको मूर्ति ही नहीं मानना चाहते हैं। किन्तु उसको हमारे गृहकार्योंके सिद्ध करने वाला रागी-द्वेषी देवता बनाना चाहते हैं। ऐसी हालतमें कारीगरसे हमको वीतरागरूप प्रतिमा नहीं बनवानी चाहिये। किन्तु साफ-साफ रागरूप ही प्रतिमा बनवानी चाहिये। वीतरागरूप प्रतिमा बनवाकर फिर उसमें रागरूप संस्कार डालनेकी कोशिश करनेसे तो न वह वीतरागरूप ही रहती है न रागरूप ही, किन्तु एकमात्र बच्चोंका मा खेल हो जाता है, जो मिट्टीके ग्विलौनोंको

खाना खिलानेकी कोशिश किया करते हैं और उसके न खाने पर दुखी होकर उसे फोड़ डालते हैं। परन्तु वे बच्चे भी ऐसी गलती हर्गिज नहीं करते हैं कि थोड़े पैसे चढ़ी हुई किसी मिट्टीकी मूर्तिको झूलेमें चढ़ाकर झुलाने लगें या बिस्तर पर पड़ाकर झुलाने लगें। उसको तो वे उस ही प्रकार चलानेकी कोशिश करेंगे जिस प्रकार थोड़ा चलता है। यह तो हम ही ऐसे विचित्र पुरुष हैं जो पद्मासन बैठे हुए हाथ पर हाथ धरे ध्यानमें मग्न परमवीतराग प्रतिमाको ही औन्धा लिटाकर झुलाते हैं, कंकण आदि आभूषण पहनाते हैं और उसके पास युद्धके आयुध रखकर भी अपनेको वीतराग धर्मके मानने वाले जैनी बताते हैं।

अब रही प्रतिष्ठा-विधिकी बात, उसमें और भी क्या क्या अद्भुत कार्य होता है, उसकी भी ज़रा कलंक दिखा देनी ज़रूरी है। यह प्रतिष्ठा बहुत करके प्रतिष्ठा-सारोद्धार ग्रन्थके द्वारा होती चली आ रही है, जिसको पं० आशाधरने विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीमें प्रतिष्ठासारके आधार पर बनाया है जिसको वसुनन्दीने कुछ ही समय पहले बनाया था। विक्रमकी १६ वीं शताब्दीमें नेमिचन्द्र नामके एक विद्वानने भी एक बृहत् प्रतिष्ठा पाठ बनाया है और इसके बाद १७ वीं शताब्दीमें अकलंक प्रतिष्ठा पाठ नामका भी एक ग्रन्थ बना है जिसमें ग्रन्थ कर्ताका नाम भट्टाकलंकदेव लिखा रहनेसे बहुतसे भाई इसको राजवार्तिक आदि महान् ग्रन्थोंके कर्ता श्री अकलंक-स्वामीका बनाया हुआ समझते रहे हैं जो कि विक्रमकी ७वीं शताब्दीमें हुए हैं, परन्तु ग्रंथ-परीक्षा तृतीय भागमें पं० जुगलकिशोर मुख्तारने साफ सिद्ध कर दिया है कि यह ग्रंथ राजवार्तिक कर्ता अकलंक स्वामीसे आठसौ नौसौ बरस पीछे लिखा गया है। इस ही प्रकार नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठको भी बहुत लोग गोम्मटसारके कर्ता

श्री नेमिचन्द्र आचार्यका बनाया हुआ समझते रहे हैं, नेमिचन्द्र आचार्य विक्रमकी ११ वीं शताब्दीमें हुए हैं और यह ग्रंथ उनसे पाँचसौ छैसौ बरस पीछे एक गृहस्थ ब्राह्मणके द्वारा लिखा गया है जैसा कि बा० जुगलकिशोर मुख्तारने जैन-हितैषीके १२ वें भागमें सिद्ध किया है। पं० आशाधर १३वीं शताब्दीमें संस्कृतके बहुत बड़े विद्वान् होगये हैं, उन्होंने ग्रन्थ भी अनेक रचे हैं इस ही कारण विद्वान् लोग उनके ग्रंथोंको बड़ी भारी प्रतिष्ठा के साथ पढ़ते हैं, बहुतसे संस्कृतज्ञ पंडित तो उनके वाक्योंको आचार्य वाक्यके समान मानते हैं। परन्तु पं० आशाधर पूर्णतया भट्टारकीय मतके प्रचारक रहे हैं जैसा कि प्रतिष्ठा विषयक नीचे लिखे हमारे कथनोंसे सिद्ध होगा। नीचे लिखा कथन यद्यपि ऊपर वर्णित सबही प्रतिष्ठापाठोंके अनुसार हीगा परन्तु उस कथनका विशेष आधार पं० आशाधर विरचित प्रतिष्ठासारोद्धार ही होगा, क्योंकि उस ही पर पंडितोंकी अधिक श्रद्धा है।

पं० आशाधरजी लिखते हैं कि—“जिनमन्दिर तैयार होनेमें कुछही बाकी रह जाने पर शिल्पआदिके कल्याणके लिए यह विधिकी जावे कि प्रतिमा विराजमान होनेवाली वेदीके बीचमें ताँबेका घड़ा दो वस्त्रोंसे ढका हुआ रखे। घड़ेमें दूध, घी, शक्कर भरदे और चन्दन, पुष्प, अक्षतसे उसकी पूजन कर फिर उस घड़ेमें पाँच प्रकारके रत्न, और सब औषधि, सब अनाज, पारा, लोहा आदि पाँच धातुएँ भरदे, फिर चाँदी वा सोनेका मनुष्याकार पुतला बनाकर उसको घी आदि उत्तम द्रव्योंसे स्नान कराकर अक्षत आदिसे पूज निवारसे बुनी हुई गद्दी तकिये सहित सेजपर अनादि सिद्ध मन्त्र पढ़कर लिटावे। फिर जिन भगवानका पूजनकर उत्सवसहित उस पुतलेको घड़ेमें रखे। ऐसा करनेसे कारीगरोंको कोई विघ्न नहीं होता है, शुभ फलही होता है।

आगे चलकर लिखा है कि प्रतिष्ठाके सात-आठ दिन बाकी रहनेपर प्रतिष्ठा करानेवाला सेठ प्रतिष्ठा करने वाले विद्वानके घर पर जावे। स्त्रियाँ तो अक्षत भरे हुए थाल हाथमें लिये हुए माती हुई आगे जारही हों और साथमें साधर्मी भाई हों। इस प्रकार उसके घरसे उसको अपने घर लावे। वहाँ चौकी बिछाकर उसपर सिंहासन रखे और चौमुखा दीपक जलावे। सिंहासन पर उस विद्वानको बिठा गीत नृत्य बाजोंके साथ, वस्त्राभूषणमें शोभायमान चार सधवा जवान स्त्रियाँ उसके शरीर पर चन्दन लगावें, फिर उसके अंगमें तेल उबटना लगाया जावे। फिर पीली खलीसे तेल बूर कर स्नान कराया जावे। फिर स्वादिष्ट भोजन करा वस्त्राभूषणसे सजाया जावे (जवान स्त्रियाँ ही क्यों उसके अंगको चन्दन लगावें बूढ़ी स्त्रियाँ क्यों न लगावें, इसका कोई कारण नहीं बताया गया है)।

इसके बाद मंडप और वेदीबनवाकर नदी किनारेकी वामी आदिकी पवित्र मिट्टी, पृथ्वी पर नहीं गिरा हुआ पवित्र गोबर ऊंमरआदि वृक्षोंकी छालका बना हुआ काढ़ा इन सबको मिलाकर इससे आभूषणादिसे सुसज्जित कन्याएँ उस वेदीको लीपें। ऐसा ही नेमिचन्द्र प्रतिष्ठा पाठके नवम परिच्छेदके श्लोक ३में श्री खंडादि कलाशाभिषेकके वर्णनमें लिखा है कि इन कलाशोंमें गायका गोबरआदि अनेक वस्तुएँ होती हैं। फिर श्लोक ४में पंचगव्य कलाशाभिषेकका वर्णन करते हुए लिखा है कि इसमें गायका गोबर, मूत्र, दूध, दही, घी आदि भरे होने हैं। इसही अध्यायमें गायके गोबरके पिंड अनेक दिशामें क्षेपण करना, अपने पाप नाश करानेके वास्ते लिखा है। ऐसा ही १३वें परिच्छेदमें गायके गोबर आदिसे मण्डपको शुद्ध कराकर सोजहकारण भावनाके पुंज रखे। फिर इसही १३वें परिच्छेदमें लिखा है कि

गायके गोबरके पिंडआदिसे अपने पाप नाश करनेके वास्ते अर्हंतोकी अवतरण किया करै।

वेदियाँ तय्यार करानेके बाद प्रतिष्ठाके पहले दिन सब लोग सरोवर पर जावें। खूब सजी हुई प्रसन्नचित्त स्त्रियाँ दूध, दही, अक्षतसे पूजित, 'फज'से भरे हुए घड़ों-को उठाये हुए साथ हों, प्रतिष्ठाचार्य जौ और सरसोंको मंत्रसे मंत्रित कर चारोंतरफ़ बखेरता जावे, सरोवर पर पहुँचकर सरोवरको और वास्तुदेवको (जिसका कथन आगे किया जायगा) अर्घ्य देकर, वायुकुमार देवोंके आह्वाननसे भूमिको साफ़कर, मेघकुमार देवोंके आह्वा-हनसे छिड़ककर, अग्निकुमार देवोंके आह्वाहनसे अग्नि जलाकर, ६० हजार नागोंको पूजकर, शान्तिविधानकर अर्हंतका अभिषेक करे। फिर सरोवर (तालाब) को अर्घ्य देवे, फिर अर्हंत आदिकी पूजा करे। फिर जया आदि देवताओंका पूजन करके, सूर्य आदि नवग्रहोंका पूजन करे। सूर्यका रंग लाल है और वस्त्र, चमर, छत्र, विमान भी लाल हैं। चन्द्रमा सफ़ेद है। मंगल लाल है, बुध और बृहस्पतिका रंग सोने जैसा है, शुक्र सफ़ेद है। शनि, राहु और केतु काले हैं। इनको इनही-के समान रंगके द्रव्यसे पूजनेसे आनन्दमंगल प्राप्त होता है। उनके समान रंगवाले अक्षतको रख, उनपर उनहीके रंगके समान रंगे हुए दर्भके आसन रखे। नागकुमार शरीर पीड़ा करते हैं, यज्ञ धन हरते हैं, भूत स्थान भ्रष्ट करते हैं, राक्षस धातुवैषम्य करते हैं, इन ग्रहोंको पूजनेसे सब विघ्न दूर होजाते हैं और कापालिक, भिन्न, बाणी, संन्यासी (मिथ्याती साधुओं) के किये हुए उप-द्रव भी शांत होते हैं। तापस, कापालिक आदि भिन्न २ प्रकारके मिथ्यात्वी साधु अलग २ इन ग्रहोंको पूजते हैं। कोई किसी ग्रहको और कोई किसी ग्रहको, उन ही की पूजासे यह अलग २ ग्रह प्रसन्न होते हैं। सूर्य शौर्यगुण

देवे, चन्द्रमा कुशल देवे, मंगल मंगल करै, बुध बुद्धि देवे, बृहस्पति शुभजीवन देवे, शुक्र कीर्ति देवे, शनि बहुत सम्पत्ति देवे, राहु बाहुबल देवे, केतु पृथ्वी पर प्रतिष्ठा देवे, ऐसी प्रार्थना प्रत्येककी पूजामें की जावे। अलग २ ग्रह अलग २ तरहकी लकड़ी होम करनेसे प्रसन्न होता है। सूर्य आखकी लकड़ीसे, चन्द्रमा पलाससे मंगल खैरसे, बुध अपाभागसे बृहस्पति पीपलसे, शुक्र फल्गुसे शनि शमीसे, राहु दूबसे और केतु दामसे। प्रत्येकका अष्ट द्रव्यसे पूजन कर, इनही लकड़ियोंसे होम करना चाहिये। इन सबका पूजन करनेके बाद सात-सात मुट्ठी तिल, शाली, धान और जौ यह तीन अनाज, पानीमें डाले। आह्वाहन सब ग्रहोंका उनके परिवार और अनुचरों आदि सहित इस प्रकार करै—

ॐ ह्रीं आदित्य आगच्छ २ संबौषद् । ॐ ह्रीं अन्न तिष्ठ २ ठः ठः । ॐ ह्रीं मम सन्निहितो भव २ वषट् । आदित्याय स्वाहा । आदित्यपरिजनाय स्वाहा । आदि-त्यामुचराय स्वाहा । आदित्य महत्तराय स्वाहा । अन्नवे स्वाहा । अन्निलाय स्वाहा । वरुणाय स्वाहा । प्रजापतये स्वाहा । ॐ स्वाहा । भूः स्वाहा । भुवः स्वाहा । स्वः स्वाहा । ॐ भूभुवः स्वः स्वाहा स्वाहा । ॐ आदित्याय स्व-गच्छपरिवृताय इदमर्घ्यं, पादं, गंधं, अक्षतान्, पुष्पं, दीपं, धूपं, चक्रं, बलिं, फलं, स्वस्तिकं, यज्ञभागं च यज्ञामहे प्रतिगृह्यतां २ स्वाहा । यस्वार्थं क्रियते पूजा सप्रसन्नोऽस्तु नः सदा ॥

अब जो अलग २ वस्तु जिस २ ग्रह को चढ़ाई जाती है वह लिखते हैं (१) सूर्यको जास्वंती आदिके फूल नारंगी आदि फल चढ़ावे और आकके इंधनसे पकाई हुई खीरको आहुति दे, घी, गुड़, लड्डू से पूजे। (२) चन्द्रमा कोसफेद रंगके पुष्प, अक्षत और दूध आदिसे पूजे, देवदारुकी लकड़ीका चूरा, घी, धूप

हाककी लकड़ीसे पकाया अन्न, दूध मिलाकर अग्निमें आहुति देवे । (३) मंगलको खैरकी लकड़ीसे भुने हुए गुड़ धी मिले हुए जौके सत्तूसे और गूगल, धी, लाल इलायची, अगरुकी धूपसे आहुति देवे । (४) बुद्धको अपामार्गकी लकड़ीसे भात बना कर दूध डाल राल धी से आहुति देवे । (५) बृहस्पतिको पीपलकी लकड़ीसे बनी हुई खीर, धी, धूपसे आहुति देवे । (६) शुक्रको ऊंवरकी लकड़ी फल्गुकी लकड़ीसे भुने हुए जौ, गुड़, धी, की आहुति देवे । (७) शनिको समीकी लकड़ी, उड़द, तेल, चावल, राल, धी, अगारकी आहुति देवे । (८) राहुको दूबके ईंधनसे पकाया हुआ गोहूँ आदिका चूर्ण, काजल, दूध, धी, लाखकी आहुति देवे । (९) केतुको उड़द और कुलथीके चूनेको दर्भके ईंधनसे पका कर धी कच्ची बेल मिला कर आहुति देवे ।

फिर परम ब्रह्म अर्हतदेवकी पूजा कर श्री आदि देवियोंको अष्ट द्रव्य चढ़ावे, फिर गंगा आदि देवियोंको चढ़ावे, फिर सीता नंदीके महाकुंडके देवोंको चढ़ावे, फिर लल्लणादधि, कालोदधिके समुद्रोंके मागधआदि तीर्थ देवोंकी, फिर सीता सीतोदानदियोंके मागधआदि तीर्थ देवताओंको फिर असंख्य (अनगणित) समुद्रोंके देवोंको, फिर जिनको लोक मानते हैं ऐसे तीर्थ देवोंको, जल आदि अष्टद्रव्य चढ़ावे । सब ही जल देवताओंको अष्ट द्रव्य पूजासे प्रसन्न कर सरोवरमें धुसे और कलशोंको पानीसे भरकर उन कलशोंको चन्दन, पुष्पमाला, दूब, दर्भ, अन्न और सरसोंसे पूज कर सौभाग्यवती स्त्रियोंके हाथ मंडपमें लेजाकर जिनेन्द्रदेवकी पूजा करे ।

अर्हत आदिका पूजनकर क्षेत्रपालकी पूजा अष्टद्रव्यसे करे । फिर वास्तुदेवकी पूजाकर,

वायुकुमार, मेघकुमार, अग्निकुमार देवोंका आवाहन कर भूमि शुद्ध कर, नागकुमारको तृप्त करे । फिर द्वारपालदेवोंको पूजकर नागराजको सफेद चूर्णसे, कुवेरको पीलेसे; हरितदेवको हरेसे, रक्त-प्रभदेवको लालसे, कृष्णप्रभदेवको काले चूर्णसे, शत्रुओं के नाश के वास्ते स्थापन करे । फिर अर्हतकी पूजाकर १६ विद्या देवियोंकी पूजा आवाहनादि करके अलग २ अष्टद्रव्यसे करे । फिर २४ जिनमाताओंकी पूजा अष्टद्रव्यसे, ३२ इन्द्रोंकी पूजा करे । फिर २४ यक्षदेवोंकी, फिर २४ यक्षी-देवियोंकी आवाहनादिके साथ अष्टद्रव्यसे करे । फिर द्वारपालोंकी, फिर चारदिशाओंके यक्षोंकी, फिर अनावृत यक्षकी, फिर छत्रआदि आठ मंगल द्रव्योंकी पूजा अष्टद्रव्य से करे, और फिर अष्ट आयुध (हथियार) स्थापन करे । फिर आठ ध्वजा स्थापन करे ।

अब यहाँ, इस मौके पर, इन देवी देवताओंका कुछ स्वरूप भी लिख देना मुनासिब मालूम होता है जो कि इनकी पूजा समय प्रतिष्ठाग्रन्थोंके अनुसार वर्णन किया जाता है । वज्र, चक्र, तलवार, मुद्गर और गदाआदि हथियारों को रुद्राणी, वैष्णवी, बासही, ब्राह्मणी, लक्ष्मी, चामुंडा, कौमारी और इन्द्राणी धारण किये होती हैं । ये देवियाँ कोई ऐरावतपर, कोई गरुड़ पर, कोई मोर पर, कोई जंगलीसूअर आदि पर सवार होती हैं । ध्वजा भी जया, विजया, सुप्रभा, चन्द्रमाला, मनोहरा, मेघमाला, पद्मा और प्रभावती नामकी देवियोंके हाथमें होती है । १६ विद्यादेवियोंके नाम रोहिणी प्रज्ञप्ति, वज्रशृंखला, वज्राकुशा, जम्बुनदा, पुरुषदत्ता, काली, महाकाली, गौरी, गांधारी, ज्वालामालिनी, मानवी, बैरोटी, अच्युता, मानसी, महामानसी नामकी हैं । इनमें से कोई घोड़े पर सवार होती है, कोई हाथी

पर, कोई मोर पर, कोई मृग पर, कोई अष्टापद पर, कोई गोह पर, कोई कछुए पर, कोई भैंसे पर, कोई सूअर पर, कोई सिंह पर, कोई साँप पर और कोई हंस पर, इनमेंसे अनेकोंके चार चार हाथ हैं और किसी किसीके आठ आठ भी। हाथोंमें तलवार, चक्र, खड्ग, वज्रकी सांकल, अंकुश, भाला, वज्र, मूसल, धनुष, बाण, त्रिशूल, और फल कमल आदि होते हैं। इसी रूपमें इनका आवाहन कर अलग २ अष्टद्रव्य से इनकी पूजा की जाती है।

धर्मात्माओंके बैरियोंका नाश करनेवाले २४ यक्ष जिनकी आवाहनकर पूजा की जाती है। वे जिस रूपमें पूजे जाते हैं, उसका वर्णन इस प्रकार है। नाम इनका गोमुख, महायक्ष, त्रिमुख, यक्षेश्वर, तुंबर, पुष्प, मातंग, श्याम, अजित, ब्रह्म, ईश्वर, कुमार, चतुर्मुख, पाताल, किन्नर, गरुड़, गंधर्व, खेन्द्र, कुवेर, वरुण, भृकुटी, गोमेध, धरण और मातंग है। इनमेंसे किसीके तीन मुख हैं, किसीके चार। किसीका गायकासा मुख है। किसीके तीन आँख, किसीका काल कुटिल मुख, किसीके नागफणके तीन सिर तीन मुख, किसीका तिर्छामुख, किसीकी देहमें साँपोंका जनेऊ। कोई बैल पर सवार, कोई हाथी पर, कोई सूअर पर, कोई गरुड़ पर, कोई हिरण पर, कोई सिंह पर, कोई कबूतर पर, कोई कछुए पर, कोई सिंह पर, और कोई मोर पर, कोई मगरमच्छ पर और कोई मच्छली पर। हाथोंमें फरसा, चक्र, त्रिशूल, अंकुश, तलवार, दंड, धनुष, बाण, साँप, भाला, शक्ति, गदा, चाबुक, हल, मुद्गर, नागपाश और फल आदि लिये हुए, किसीके चार हाथ, किसीके आठ और किसीके इससे भी ज्यादा।

२४ यक्षदेवियोंकी पूजा, जिस रूपमें की जाती है, वह इस प्रकार है। नाम इनका चक्रेश्वरी अजिता,

नम्रा, दुरिता, पुरुषदत्ता, मोहनी, काली, ज्वालामालिनी, महाकाली, चामुंडा, गौरी, विद्युतमालिनी, बैरोटी, विज्रंभणी, मानसी, कंदर्पा, गांधारिणी, काली, मनजात, बहुरूपिणी, कुसुमालिनी, कुष्मांडिनी, पद्मावती, और भद्रासना है। इनमेंसे भी कोई हंस पर, कोई हाथी पर, कोई घोड़े पर, कोई बैल पर, कोई भैंसे पर, कोई कछुए पर, कोई सूअर पर, कोई हिरण पर, कोई मगरमच्छ पर, कोई अजगर पर, कोई बाघ पर, कोई मोर पर, कोई अष्टापद पर, कोई काले साँप पर, कोई कुक्कुट सर्प पर चढ़कर पूजा करनेको आती हैं। इनके भी किसीके चार हाथ किसीके आठ और किसीके उससे भी ज्यादा हाथ होते हैं। हाथोंमें वज्र, चक्र परशु, तलवार, नागपाश, त्रिशूल, धनुष, बाण, ढाल, मुद्गर, मूसल, अंकुश, मच्छली, साँप, हिरण, वृक्षकी टहनी और वृक्ष और फल आदि होते हैं।

दिकपालोंको उनके आयुध, वाहनस्त्री और परिवार सहित आवाहन आदि द्वारा बुलाकर पूजाकी जाती है और बलि दीजाती है। नाम उनके इन्द्र, अग्नि, यम नैऋत्यु वरुण, वायु, कुवेर, ईशान, भस्मोन्ध और चंद्र हैं। इनमें कोई ऐरावत पर, कोई मेंढे पर, कोई भैंसे पर, कोई हाथी पर, कोई घोड़े पर, कोई बैल पर, कोई कछुए पर, कोई सिंह पर सवार होकर आता है, इनके भी हाथोंमें वज्र, अग्नि ज्वाला, शक्ति, दंड, मुद्गर, नागपाश, वृक्ष, त्रिशूल, भाला और अन्य वस्तुएं होती हैं; किसीके सर्पाकृति भूषण, किसीके आंखसे अग्निकी ज्वाला निकले, कोई नाग देवोंसे युक्त, फण पर मणि सूर्यके समान चमके, अष्ट दिव्यसे इनकी पूजा करनेके बाद जौ, गेहूँ, मूंग, शाली, उड़द आदि सात प्रकारके अनाजकी सात सात मुट्ठीकी आहुति इन दिकपालोंके वास्ते जल कुंडमें दी जावे। आवाहन इनका परिवार

सहित इस प्रकार किया जावे:—

“ॐ ह्रीं क्रौं स्वायुधवाहनबन्धुचिन्हसपरिवार हे इन्द्र आगच्छ २ संवीर्य तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः मम सचहितो भव भव वषट्, इन्द्राय स्वाहा, परिजनाय स्वाहा, अनुचराय स्वाहा, महत्तराय स्वाहा, अग्नये स्वाहा, अग्निनाय स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, प्रजापतये स्वाहा ।”

अनावृत यज्ञ, जिसकी पूजा की जाती है, वह गरुड़ पर सवार होते हैं। चार हाथोंमें चक्र, शंख आदि लिए होते हैं जम्बूद्वीपके जम्बूवृक्ष पर रहते हैं जयन्त, अपरजित, विजय, वैजयन्त उनके नाम हैं। पूर्वकी तरफ उनको बलि दी जाती है। सोम, यम, वरुण, कुवेर ये चार द्वारपाल हैं, जो दुष्टोंके वास्ते यमके समान हैं। इनके हाथमें भी क्रमशः धनुष, दण्ड, पाश और गदा होती है। ब्रह्मबलि इस प्रकार दी जाती है—ओं ह्रीं क्रौं रक्तवर्णयन आयुध युवति जन सहित ब्रह्मन् भूर्भुवः स्वः स्वाहा इमं सार्धं चरु अमृतमिव स्वस्तिकं गृह्णाण। इसही प्रकार और भी दिकपालोंको बलि दी जाती है। जयादि देवियोंकी पूजा अष्टद्रव्यसे की जाती है। नाम इनके जया, विनवा, अजिता, अपराजिता; जृं भा, मोहा, स्तंभा, स्तमिनी है, इनके भी हाथ होते हैं। पर्वतोंके सरोवरोंके कमलोंमें रहनेवाली देवियोंकी भी पूजा की जाती है। नाम जैश्री, ह्री, धृति, कीर्ति बुद्धि, लक्ष्मी शक्ति और पुष्टि हैं। ३२ प्रकारके इन्द्रोंकी भी पूजा होती है जिनमें भवनवासी और व्यन्तरके नाम असुरेन्द्र, नागेन्द्र, सुपरेन्द्र, द्वीपकुमारेन्द्र, उदधिकुमारेन्द्र, स्तनितकुमारेन्द्र; विद्युत्कुमारेन्द्र, दिक्कुमारेन्द्र, अग्नि कुमारेन्द्र, वातकुमारेन्द्र, किञ्जरेन्द्र, किंपुरुषेन्द्र; महोरगेन्द्र, गंधर्वेन्द्र, यक्षेन्द्र, राक्षसेन्द्र, भूतेन्द्र, और पिशाचेन्द्र, इनमेंसे हर एक इन्द्रकी दो दो हजार देवियाँ हैं। इनमेंसे भी कोई भैसे पर, कोई कछवे पर,

कोई गरुड़ पर, कोई घोड़े पर, कोई हाथी पर, कोई सिंह पर, कोई सूअर पर, कोई अष्टपद पर, कोई हंस पर चढ़ कर आता है। किसीकी भैसेआदि सात प्रकारकी सेना, किसीकी मगर आदि सेना, किसीकी ऊँट आदि सात प्रकारकी सेना, किसीकी सिंहआदि सात प्रकारकी सेना, किसीकी घोड़ा आदि सात प्रकारकी सेना; किसीके हाथमें दंड, किसीके हाथ में तलवार किसीका आयुध वृक्ष किसीके हाथमें नागपाश आदि होता है। ज्योतिषेन्द्र जिनकी पूजा होती है दो हैं एक चन्द्रमा, जिसकी सिंहकी सवारी और दूसरा सूर्य जिसकी सवारी घोड़ा होता है।

तिथि देवता १५ हैं जिनकी पूजा होती है, यह भी यज्ञ होते हैं। यह अग्नि, पवन, जल आदि आठ प्रकारके रूपके होते हैं। यज्ञ, वैश्वानर, राजस, नधृत, पन्नग, असुर, सुकुमार, पितृ, विश्वमाली, चमरवैरोचन, महाविद्य, मार, विश्वेश्वर, पिंडाशिन इनके नाम हैं। कुमुद, अंजन, वामन और पुष्पदंत इन चार द्वारपालोंकी पूजा होती है। सर्वाएह यज्ञकी पूजा होती है जो सफेद हाथी पर चढ़कर आता है। महाध्वज यज्ञकी पूजा होती है, अष्टदिक्कन्याओंकी पूजा होती है, और वास्तुदेवको बलि दी जाती है जो इस प्रकार है—पद देवको मांजी बड़े और भातकी बलि ब्रह्माको जो गांव खेत और घरोंमें रहता है, घी दूध मिला हुआ भात, इन्द्रको फूल; अग्निको दूध घी, यमको जो भैसेपर सवार है तिल और शमी। नैऋत्यको तेल मिली हुई खली। वरुणको दूध भात वायुको हल्लरीका चूर्ण कुवेरको खीर अज। ईशानको घी दूध मिला हुआ भात, आर्यको पूरी लड्डू, और फल, विस्वस्तको उड़द और तिल, मित्रदेवको दही और दूध, महीधरको दूध सवीन्द्रको धानकी खील, साविन्द्रको काफूर कैसर और

इन्द्रको जो व्यंतरोंका राजा है मूंगका आटा, और बड़े इन्द्रराजको बड़े और मूंगका आटा, रुद्रको जो व्यंतरों का राजा है गुड़ के गुलगुले, व्यंतरोंके राजा रुद्रजय को भी गुड़के गुलगुले, आप देवताको गुड़के गुलगुले, कमल और संख, पर्जन्यदेवको घी, जयंतदेवको लोणी, घी अंतरिक्षदेवको हलद और उड़दका चून, पूषनदेवको सेवयोंका भात, विरुथदेवको कुड़ू अनाज, राक्षसदेवको ज्येष्ठमध, गंधर्वदेवको कपूर आदि सुगंध, भृंगराजदेवको दूध भात, मृषदेवको उड़द, दौवारिकदेवको चावलोंका आटा, सुग्रीवदेवको लड्डू, पुष्पदन्तदेवको फूल, असुरदेवको लाल रंगका अन्न, शेषदेवको धुले हुए तिल चावल, रोगदेवको कारिका, नागदेवको शकर मिली हुई खील, मुख्यदेवको उत्तम वस्तु, भल्लाटदेवको गुड़ मिला हुआ भात, मृगदेवको गुड़के गुलगुले, अदिति को लड्डू उदितिको उत्तम वस्तु, विचारदेवको नमकीन खाना, पूतनादेवीको पिसे हुए तिल, पापराक्षसीको कुलथी अनाज, चारकी देवीको घी शकर ।

इतने ही से पाठक समझ सकते हैं कि क्या इस प्रकार दुनिया भरके सभी देवी देवताओंको पूजनेसे ही वह वीतरागरूप प्रतिमा मन्दिरमें विराजमान करने योग्य हो सकती है, अन्यथा नहीं । या इस प्रकार इन रागीद्वेषी देवताओंको पूजनेसे हमारा श्रद्धान भ्रष्ट होता है और प्रतिमा पर भी खोटे ही संस्कार पड़ते हैं । पं० आशाधरके प्रतिष्ठापाठमें और प्रायः अन्य सब ही प्रतिष्ठापाठोंमें यक्ष यक्षिणियों, क्षेत्रपाल आदिकी मूर्तियोंकी प्रतिष्ठाविधि भी लिखी है, जिनकी प्रतिष्ठा होनेके बाद मंदिरमें विराजमान कर, नित्य पूजन करते रहनेकी हिदायत है । यक्षोंकी प्रतिष्ठा पाँच स्थानोंके जलसे प्रतिविम्बका अभिषेककर रात्रिमें करनी चाहिए । पं० आशाधरजीने मंदिरके शिखर पर ध्वजा चढ़ानेकी

विधिमें भी लिखा है कि मंदिरके शिखरपरके कलशोंसे एक हाथ ऊँची ध्वजा आरोग्यता करती है, दो हाथ ऊँची पुत्रादि सम्पत्ति देती है, तीन हाथ ऊँची धान्य आदि सम्पत्ति, चार हाथ ऊँची राजाकी वृद्धि, पाँच हाथ ऊँची सुभिन्न और राज वृद्धि करती है, इत्यादि । अन्य भी अद्भुत बातें इन प्रतिष्ठा पाठोंमें लिखी हैं, जिनके द्वारा वीतराग भगवानकी प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई हमारे मंदिरोंमें विराजमान हैं ।

प्राचीन आचार्योंके ग्रन्थोंमें तो यह लिखा मिलता है कि जिनेन्द्रदेवके गुण-गान करनेसे सब विघ्न दूर होजाते हैं, कोई भी भय नहीं रहता है, सब ही पाप दूर हो जाते हैं । दुष्ट देव किसी तरहकी कोई खराबी नहीं कर सकते हैं । सबही काम यथेष्ट रूपसे होते रहते हैं, परन्तु इन प्रतिष्ठा पाठोंके द्वारा तो श्री अर्हत भगवानका पंच कल्याणक निर्विघ्न समाप्त होनेके वास्ते भी बुरे भले सब ही प्रकारके देवी देवताओं यहाँतक कि भूतों प्रैतों राक्षसों आदि सबही व्यंतरों और सोम, शनिश्चर, राहु, केतु आदि सबही ग्रहोंको अष्ट द्रव्यसे पूजा जाता है, उनकी रुचिकी अलगर बलि दी जाती है और यज्ञ भाग देकर विदा किया जाता है । उनके सब परिवार और अनुचरों सहित इसही तरह आह्वान किया जाता है जिस प्रकार श्रीअर्हत्तों का किया जाता है, मानों जैनधर्म ही बदल कर कुछका कुछ होगया हैं । उदाहरणके तौर पर तिलोयपण्यस्तिकी एक गाथा १, ३० नीचे उद्धृतकी जाती है जो धवलमें भी उद्धृतकी गई है । जिनेन्द्र भगवानके स्मरणकरनेके दिव्य प्रभावके ऐसेर कथन सबही प्राचीन शास्त्रोंमें भरे पड़े हैं जिनको पढ़कर हमको अपने श्रद्धानको ठीक करना चाहिये और मिथ्यातसे भरे हुए इन प्रतिष्ठा पाठोंके जालमें फँसकर अपने श्रद्धानको नहीं बिगाड़ना चाहिये ।

शासदि विग्धं भेददियं हो दुष्टासुराणलघन्ति ।

इदो अथो लम्बर जिण्णामंगहणमेत्तेण ॥१-३०॥

विघ्नाः प्राणश्यन्ति भयं न जातु न दुष्टदेवाः परिलंघयन्ति

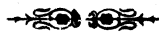
अर्थान्यथेष्टांश्च सदा लभन्ते जिनोत्तमानां परिकीर्तनेन ॥२॥

अर्थात्—जिनेन्द्र भगवानके नाम लेने मात्रसे विघ्न नाश होजाते हैं, पाप दूर हो जाते हैं, दुष्ट देव कुछ बाधा नहीं कर सकते हैं, इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति होती है।

इसकेअलावा जिनेन्द्र भगवानकी मूर्ति बिना प्रतिष्ठाके ही पूज्य है, इसके लिये हमको आदिपुराण पर्व ४१ के श्लोक ८५ से ९५ तकका वह कथन पढ़ना चाहिये, जिसमें लिखा है कि, भरत महाराजने घंटोंके ऊपर जिन-

विम्ब अंकित कराकर उनको अयोध्याके बाहरी दर्वाजों और राजमहलके बाहरी दर्वाजोंपर लटकाया। जब वे आते जाते थे तो उन्हें इन घंटोंपर अंकित हुई मूर्तियोंको देखकर भगवानका स्मरण हो आता था और तब वे इन घंटोंपर अंकित जिनविम्बोंकी बंदना तथा पूजा किया करते थे। कुछ दिन पीछे नगरके लोगोंने भी ऐसे घंटे अपनेर मकानोंके बाहरी द्वारों पर बांध दिये, और वेभी उन पर अंकित जिन-विम्बोंकी पूजा बन्दना करने लगे। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि भगवानकी मूर्तियोंको प्रतिष्ठा करानेकी कोई आवश्यकता नहीं है वे वैसे ही पूज्य हैं।

## विनयसे तत्त्वकी सिद्धि है



राजगृही नगरीके राज्यासन पर जिस समय श्रेणिक राजा विराजमान था उस समय उस नगरीमें एक चाण्डाल रहता था। एक समय इस चाण्डालकी स्त्रीको गर्भ रहा। चाण्डालिनीको आम खानेकी इच्छा उत्पन्न हुई। उसने आमोंको लानेके लिये चाण्डालसे कहा। चाण्डालने कहा, यह आमोंका मौसम नहीं, इसलिये मैं निरुपाय हूँ। नहीं तो मैं आम चाहे कितने ही ऊँचे हों वहींसे अपनी विद्याके बलसे तोड़ कर तेरी इच्छा पूर्ण करता। चाण्डालिनीने कहा, राजाकी महारानीके बागमें एक असमय फल देने वाला आम है; उसमें आज-कल आम लगे होंगे। इसलिये आप वहाँ जाकर आमोंको लावें। अपनी स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेको चाण्डाल उस बागमें गया। चाण्डालने गुप्तरीतिसे आमके समीप जाकर मंत्र पढ़कर वृक्षको नवाया और

उस परसे आम तोड़ लिये। बादमें दूसरे मन्त्रके द्वारा उसे जैसाका तैसा कर दिया। बादमें चाण्डाल अपने घर आया। इस तरह अपनी स्त्रीकी इच्छा पूरी करनेके लिये निरन्तर यह चाण्डाल विद्याके बलसे वहाँसे आम लाने लगा। एक दिन फिरते २ मालीकी दृष्टि उन आमों पर गई। आमोंकी चोरी हुई जानकर उसने श्रेणिक राजाके आगे जाकर नम्रतापूर्वक सब हाल कहा। श्रेणिककी आज्ञासे अभयकुमार नामके बुद्धिशाली प्रधानने युक्तिके द्वारा उस चाण्डालको ढूँढ निकाला। चाण्डालको अपने आगे बुलाकर अभयकुमारने पूछा, इतने मनुष्य बागमें रहते हैं, फिर भी तू किस रीतिसे ऊपर चढ़कर आम तोड़कर ले जाता है, कियह बात किसीके जाननेमें नहीं आती? चाण्डालने कहा, आप मेरा अपराध क्षमा करें, मैं सच २ कह देता

हूँ कि मेरे पास एक विद्या है। उसके प्रभावसे मैं इन आमोंको तोड़ सका हूँ। अभयकुमारने कहा मैं स्वयं तो क्षमा नहीं कर सकता, परन्तु महाराज श्रेणिकको यदि तू इस विद्याको देना स्वीकार करे, तो उन्हें इस विद्याके लेनेकी अभिलाषा होनेके कारण तेरे उपकारके बदले मैं तेरा अपराध क्षमा करा सकता हूँ। चांडालने इस बातको स्वीकार कर लिया। तत्पश्चात् अभयकुमारने चांडालको जहाँ श्रेणिक राजा सिंहासन पर बैठे थे वहाँ लाकर श्रेणिकके सामने खड़ा किया और राजाको सब बात कह सुनाई। इस बातको राजाने स्वीकार किया। बादमें चांडाल सामने खड़ा रहकर थरथराते पगसे श्रेणिकको उस विद्याका बोध देने लगा, परन्तु वह बोध नहीं लगा। भटसे खड़े होकर अभयकुमार बोले, महाराज ! आपको यदि यह विद्या अवश्य सीखनी है, तो आप सामने आकर खड़े रहें और इसे सिंहासन दें। राजाने विद्या लेनेके वाश ऐसा ही किया, तो तत्काल ही विद्या सिद्ध

होगई ॐ ।

यह बात केवल शिक्षा ग्रहण करनेके वास्ते है। एक चांडालकी भी विनय किये बिना श्रेणिक-जैसे राजाको विद्या सिद्ध नहीं हुई, इसमेंसे यही सार ग्रहण करना चाहिये कि सद्धिद्याको सिद्ध करनेके लिये विनय करना आवश्यक है। आत्म-विद्या पानेके लिये यदि हम निर्ग्रन्थ गुरुका विनय करें, तो कितना मंगलदायक हो।

विनय, यह उत्तम वशीकरण है। उत्तराध्ययन-में भगवान्ने विनयको धर्मका मूल कहकर वर्णन किया है। गुरुका, मुनिका, विद्वान्का, माता-पिताका और अपनेसे बड़ोंका विनय करना, ये अपनी उत्तमताके कारण हैं।

—श्रीमद् राजचन्द्र

ॐ किसी कविने क्या खूब कहा है—

उत्तम गुणको लीजिए यदपि नीच पै होय ।

परौ अपावन ठौरमें कंचन तजे न कोय ॥

## आलोचन

जैनधर्ममें आलोचन अथवा आलोचनाको बड़ा महत्व प्राप्त है, उसकी गणना अंतरंग तपमें है और वह प्रायश्चित्त नामके अंतरंग तपका पहला भेद है, जिसके द्वारा आत्मशुद्धिका उपक्रम किया जाता है। अपने किये हुए दोषों, अपराधों तथा प्रमादोंको खुले दिलसे गुरुसे निवेदन करना अथवा अन्यप्रकारसे उन्हें प्रकट कर देना आलोचना कहलाता है और वह आत्मविकासके लिये बहुत ही आवश्यक वस्तु है। जब तक मनुष्य अपने दोषोंको दोष, अपराधोंको अपराध और प्रमादोंको प्रमाद नहीं समझता अथवा समझता हुआ भी अहंकारवश उन्हें छिपानेकी और उनका संशोधन न होने देनेकी कोशिश करता है तबतक उसका उत्थान नहीं हो सकता—उसे पतनोन्मुख समझना चाहिये—वह आत्मशुद्धि एवं विकासके मार्गपर अग्रसर नहीं हो सकता। अतः आत्मशुद्धिके अभिलाषियोंका यह पहला कर्तव्य है कि वे आलोचनाको अपनाएँ, अपने दोषों-अपनी त्रुटियोंको समझें और उन्हें सद्गुरु आदिसे निवेदनकर अपनेको शुद्ध एवं हलका बनाएँ। मात्र आलोचना-पाठके पढ़लेनेसे आलोचना नहीं बनती। उससे तो यांत्रिक चारित्रिकी—जड़मशीनों—जैसे आचरणकी—वृद्धि होती है।

—युगवीर

## विवेकका अर्थ



लघु शिष्य—भगवन् आप हमें जगह जगह कहते आये हैं कि विवेक महान् श्रेयस्कर है। विवेक अन्धकारमें पड़ी हुई आत्माको पहिचाननेके लिये दीपक है। विवेकसे धर्म टिकता है। जहाँ विवेक नहीं वहाँ धर्म नहीं, तो विवेक किसे कहते हैं, यह हमें कहिये।

गुरु—आयुष्मानों ! सत्यासत्यको उसके स्वरूपसे समझनेका नाम विवेक है।

लघु शिष्य—सत्यको सत्य और असत्यको असत्य कहना तो सभी समझते हैं। तो महाराज ! क्या इन लोगोंने धर्मके मूलको पालिया, यह कहा जा सकता है ?

गुरु—तुम लोग जो बात कहते हो उसका कोई दृष्टान्त दो।

लघु शिष्य—हम स्वयं कड़ुवेको कड़ुवा ही कहते हैं, मधुरको मधुर कहते हैं, जहरको जहर और अमृतको अमृत कहते हैं।

गुरु—आयुष्मानों ! ये समस्त द्रव्य पदार्थ हैं। परन्तु आत्मामें क्या कड़ुवास, क्या मिठास, क्या जहर और क्या अमृत है ? इन भाव पदार्थोंकी क्या इससे परीक्षा हो सकती है ?

लघुशिष्य—भगवन् ! इस ओर तो हमारा लक्ष्य भी नहीं।

गुरु—इसलिये यही समझना चाहिये कि

ज्ञानदर्शनरूप आत्माके सत्यभाव पदार्थको अज्ञान और अदर्शनरूपी असत् वस्तुओंने घेर लिया है। इसमें इतनी अधिक मिश्रता आगई है कि परीक्षा करना अत्यन्त ही दुर्लभ है। संसारके सुखोंको आत्माके अनन्तवार भोगने पर भी उनमेंसे अभी भी आत्माका मोह नहीं छूटा, और आत्माने उन्हें अमृतके तुल्य गिना, यह अविवेक है। कारण कि संसार कड़ुवा है तथा यह कड़ुवे विपाकको देता है। इसी तरह आत्माने कड़ुवे विपाककी औषध-रूप वैराग्यको कड़ुवा गिना यह भी अविवेक है। ज्ञान दर्शन आदि गुणोंको अज्ञानदर्शनने घेर कर जो मिश्रता कर डाली है, उसे पहचान कर भाव-अमृतमें आनेका नाम विवेक है। अब कहो कि विवेक यह कैसी वस्तु सिद्ध हुई।

लघुशिष्य—अहो ! विवेक ही धर्मका मूल और धर्मका रक्षक कहलाता है, यह सत्य है। आत्माके स्वरूपको विवेक बिना नहीं पहचान सकते, यह भी सत्य है। ज्ञान, शील, धर्म, तत्त्व, और तप यह सब विवेक बिना उदित नहीं होते, यह आपका कहना यथार्थ है। जो विवेकी नहीं, वह अज्ञानी और मंद है। वही पुरुष मतभेद और मिथ्यादर्शनमें लिपटा रहता है। आपकी विवेक संबन्धी शिक्षाका हम निरन्तर मनन करेंगे।

—श्रीमद् राजचन्द्र



# तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक सटिप्पण प्रति

[ सम्पादकीय ]

—:0:—

अर्सा कई सालका हुआ सुहृद् पं० नाथूरामजी प्रेमीने बम्बईसे तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी एक पुरानी हस्त-लिखित सटिप्पण प्रति, सेठ राजमलजी बड़जात्याके यहाँसे लेकर, मेरे पास देखनेके लिए भेजी थी। देखकर मैंने उसी समय उसपरसे आवश्यक नोट्स (Notes) लेलिये थे, जो अभी तक मेरे संग्रहमें सुरक्षित हैं। यह सटिप्पण प्रति श्वेताम्बरीय तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी है और जहाँतक मैं समझता हूँ अभी तक प्रकाशित नहीं हुई। श्वे० जैन कॉन्फ्रेंस-द्वारा अनेक भण्डारों और उनकी सूचियों आदि परसे खोजकर तय्यार की गई 'जैन ग्रन्थावली'में इसका नाम तक भी नहीं है और न हालमें प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रकी पं० सुखलालजी-कृत विवेचनकी विस्तृत प्रस्तावना (परिचयादि) में ही, जिसमें उपलब्ध टीका-टिप्पणोंका परिचय भी कराया गया है, इसका कोई उल्लेख है। और इसलिये इस टिप्पणकी प्रतियाँ बहुत कुछ विरलसी ही जान पड़ती हैं। अस्तु; इस सटिप्पण प्रतिका परिचय प्रकट होनेसे अनेक बातें प्रकाशमें आएँगी, अतः आज उसे अनेकान्तके पाठकोंके सामने रखवा जाता है।

(१) यह प्रति मध्यमाकारके ८ पत्रों पर है, जिनपर पत्राङ्क ११ से १८ तक पड़े हैं। मूल मध्यमें और टिप्पणी हाशियों (Margins) पर लिखी हुई है।

(२) बंगाल-एशियाटिक-सोसाइटी, कलकत्ताद्वारा सं० १६५६ में प्रकाशित सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रके शुरूमें जो ३१ सम्बन्ध-कारिकाएँ दी हैं और अन्तमें

३२ पद्य तथा प्रशस्तिरूपसे ६ पद्य और दिये हैं वे सब कारिकाएँ एवं पद्य इस सटिप्पण प्रतिमें ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं, और इससे ऐसा मालूम होता है कि टिप्पण-कारने उन्हें मूल तत्त्वार्थसूत्रके ही अंग समझा है।

(३) इस प्रतिमें संपूर्ण सूत्रोंकी संख्या ३४६ और प्रत्येक अध्यायके सूत्रोंकी संख्या क्रमशः ३५, ५३, १६, ५४, ४५, २७, ३३, २६, ४६, ८ दी है। अर्थात् दूसरे तीसरे, चौथे, पाँचवे, छठे और दसवें अध्यायमें सभाष्य तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी उक्त सोसाइटी वाले संस्करणकी छपी हुई प्रतिसे एक-एक सूत्र बढ़ा हुआ है; और वे सब बढ़े हुए सूत्र अपने-अपने नम्बरसहित क्रमशः इस प्रकार हैं:—

तैजसमपि १०, धर्मा वंशा शैल्लजानारिष्टा माघव्या माघवीति च २, उच्छ्वसाहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः २३, स द्विविधः ४२, सम्यक्तं च २१; धर्मास्तिकायाभावात् ७।

और सातवें अध्यायमें एक सूत्र कम है—अर्थात् 'सचित्त निक्षेपापिधानपरव्यपदेशमात्सर्यकालातिक्रमाः ३१'

यह सूत्र नहीं है।

सूत्रोंकी इस वृद्धि-हानिके कारण अपने-२ अध्यायमें अगले-अगले सूत्रोंके नम्बर बदल गये हैं। उदाहरणके तौर पर दूसरे अध्यायमें ५०वें नम्बरपर 'तैजसमपि' सूत्र आजानेके कारण ५०वें 'शुभं विशुद्धं' सूत्रका नम्बर ५१ हो गया है, और ७वें अध्यायमें ३१वाँ 'निक्षेपापिधानं' सूत्र न रहनेके कारण उस नम्बर पर 'जीवितमरणां

नामका ३२ वाँ सूत्र आगया है।

दूसरी प्रतियोंमें बड़े हुए सूत्रोंकी बाबत जो यह कहा जाता है कि वे भाष्यके वाक्योंको ही गलतीसे सूत्र समझ लेनेके कारण सूत्रोंमें दाखिल होगये हैं, वह यहाँ 'सम्यक्त्वं च' सूत्रकी बाबत संगत भालूम नहीं होता; क्योंकि पूर्वोत्तरवर्ती सूत्रोंके भाष्यमें इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है और यह सूत्र दिगम्बरसूत्रपाठमें २१ वें नम्बर पर ही पाया जाता है। पं० सुखलालजी भी अपने तत्त्वार्थसूत्र-विवेचनमें इस सूत्रका उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि श्वेताम्बरीय परम्पराके अनुसार भाष्यमें यह बात सम्यक्त्वको देवायुके आसवका कारण बतलाना नहीं है। इससे स्पष्ट है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठ श्वेताम्बरसम्प्रदायमें बहुतकुछ विवादापन्न है, और उसकी यह विवादापन्नता टिप्पणमें सातवें अध्यायके उक्त ३१ वें सूत्रके न होनेसे और भी अधिक बढ़ जाती है; क्योंकि इस सूत्रपर भाष्य भी दिया हुआ है, जिसका टिप्पणकारके सामनेवाली उस भाष्यप्रतिमें होना नहीं पाया जाता जिसपर वे विश्वास करते थे, और यदि किसी प्रतिमें होगा भी तो उसे उन्होंने प्रक्षिप्त समझा होगा। अन्यथा, यह नहीं होसकता कि जो टिप्पणकार भाष्यको मूल-चूल-सहित तत्त्वार्थसूत्रका त्राता (रक्षक) मानता हो वह भाष्यतकके साथमें विद्यमान होते हुए उसके किसी सूत्रको छोड़ देवे।

(४) बड़े हुए बाज़ सूत्रोंके सम्बन्धमें टिप्पणीके कुछ वाक्य इस प्रकार हैं:—

क—“केचित्त्वाहारकनिर्देशान्पूर्वं “तैजसमपि” इति पाठं मन्यन्ते, नैवं युक्तं तथासत्याहारकं न लब्धि-जमिति भ्रमः समुत्पद्यते, आहारकस्य तु लब्धि-रेव योनिः।”

ख—“केचित्तु धर्मावंशेत्यादिसूत्रं न मन्यन्ते तदसत्। ‘धर्मा वंसा सेला अंजनरि । मया य माधवई, नामेहि

पुढवीओ छत्ताइछत्तसंठाणा’ इत्यागमात्।”

ग—“केचिज्जडाः ‘स द्विविध’ इत्यादिसूत्राणि न मन्यन्ते।”

ये तीनों वाक्य प्रायः दिगम्बर आचार्योंको लक्ष्य करके कहे गये हैं। पहले वाक्यमें कहा है कि ‘कुछ लोग आहारकके निर्देशात्मक सूत्रसे पूर्व ही “तैजसमपि” यह सूत्र पाठ मानते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा होने पर आहारक शरीर लब्धिजन्य नहीं ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है, आहारककी तो लब्धि ही योनि है।’ दूसरे वाक्यमें बतलाया है कि ‘कुछ लोग ‘धर्मा वंशा’ इत्यादि सूत्रको जो नहीं मानते हैं वह ठीक नहीं है।’ साथ ही, ठीक न होनेके हेतुरूपमें नरकभूमियोंके दूसरे नामोंवाली एक गाथा देकर लिखा है कि ‘चूँकि आगममें नरकभूमियोंके नाम तथा संस्थानके उल्लेख-वाला यह वाक्य पाया जाता है, इसलिये इन नामोंवाले सूत्रको न मानना अयुक्त है।’ परन्तु यह नहीं बतलाया कि जब सूत्रकारने ‘रत्नप्रभा’ आदि नामोंके द्वारा सप्त नरकभूमियोंका उल्लेख पहले ही सूत्रमें कर दिया है तब उनके लिये यह कहा जाज़िमी आता है कि वे उन नरकभूमियोंके दूसरे नामोंका भी उल्लेख एक दूसरे सूत्र-द्वारा करें। इससे टिप्पणकारका यह हेतु कुछ विचित्रसा ही जान पड़ता है। दूसरे प्रसिद्ध श्वेताम्बरआचार्योंने भी उक्त ‘धर्मा वंशा’ आदि सूत्रको नहीं माना है, और इसलिये यह वाक्य कुछ उन्हें भी लक्ष्य करके कहा गया है। तीसरे वाक्यमें उन आचार्योंको ‘जडबुद्धि’ ठहराया है जो “स द्विविधः” इत्यादि सूत्रोंको नहीं मानते हैं !! यहाँ ‘आदि’ शब्दका अभिप्राय ‘अनादिरादिमांश्र,’ ‘रूपिष्वादिमान्,’ ‘योगोपयोगौ जीवेषु,’ इन तीन सूत्रोंसे है जिन्हें ‘स द्विविधः’ सूत्र-सहित दिगम्बरआचार्य सूत्रकारकी कृति नहीं मानते हैं।

परन्तु इन चार सूत्रोंमेंसे 'स द्विविधः' सूत्रको तो दूसरे श्वेताम्बराचार्योंने भी नहीं माना है। और इसलिये अकस्मात्में 'जडाः' पदका वे भी निशाना बन गये हैं ! उन पर भी जडबुद्धि होनेका आरोप लगा दिया गया है !!

इससे श्वेताम्बरोमें भाष्य-मान्य-सूत्रपाठका विषय और भी अधिक विवादापन्न हो जाता है और यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता कि उसका पूर्ण एवं यथार्थ रूप क्या है। जब कि सर्वार्थसिद्धि-मान्य सूत्रपाठके विषयमें दिगम्बराचार्योंमें परस्पर कोई मतभेद नहीं है। यदि दिगम्बर सम्प्रदायमें सर्वार्थसिद्धिसे पहले भाष्यमान्य अथवा कोई दूसरा सूत्रपाठ रूढ़ हुआ होता और सर्वार्थसिद्धिकार ( श्री पूज्यपादाचार्य ) ने उसमें कुछ उलटफेर किया होता तो यह संभव नहीं था कि दिगम्बर आचार्योंमें सूत्रपाठके सम्बन्धमें परस्पर कोई मतभेद न होता। श्वेताम्बरोमें भाष्यमान्य सूत्रपाठके विषयमें मतभेदका होना बहुधा भाष्यसे पहले किसी दूसरे सूत्रपाठके अस्तित्व अथवा प्रचलित होनेको सूचित करता है।

(५) दसवें अध्यायके एक दिगम्बर सूत्रके सम्बन्धमें टिप्पणकारने लिखा है—

“केचित्तु ‘आविद्धकुलालचक्रवद्वयपगतले पालांबुवदेरण्डवीजवदग्निशिखावच्च’ इति नव्यं सूत्रं प्रक्षिपन्ति तच्च सूत्रकारकृतिः, ‘कुलालचक्रे दोलायामिषौ चापि यथेष्ण्यते’ इत्यादिश्लोकैः सिद्धस्य गतिस्वरूपं प्रोक्तमेव, ततः पाठान्तरमपार्थम् ।”

अर्थात्—कुछ लोग 'आविद्धकुलालचक्र' नामका नया सूत्र प्रक्षिप्त करते हैं, वह सूत्रकारकी कृति नहीं है। क्योंकि 'कुलालचक्रेदोलायामिषौ चापि यथेष्ण्यते' इत्यादि श्लोकोंके द्वारा सिद्धगति का स्वरूप कहा ही है,

इसलिये उक्त सूत्ररूपसे पाठान्तर निरर्थक है।

यहां 'कुलालचक्रे' इत्यादिरूपसे जिन श्लोकोंका सूचन किया है वे उक्त सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके अन्तमें लगे हुए ३२ श्लोकोंमेंसे १०, ११, १२, १४ नम्बरके श्लोक हैं, जिनका विषय वही है जो उक्त सूत्रका—उक्त सूत्रमें वर्णित चार उदाहरणोंको अलग-अलग चार श्लोकोंमें व्यक्त किया गया है। ऐसी हालतमें उक्त सूत्रके सूत्रकारकी कृति होनेमें क्या बाधा आती है उसे यहाँ पर कुछ भी स्पष्ट नहीं किया गया है। यदि किसी बातको श्लोकमें कह देने मात्रसे ही उस आशयका सूत्र निरर्थक होजाता है और वह सूत्रकारकी कृति नहीं रहता, तो फिर २२वें श्लोकमें 'धर्मास्तिकायस्याभावात् स हि हेतु-गन्ते परः' इस पाठके मौजूद होते हुए टिप्पणकारने "धर्मास्तिकायभावात्" यह सूत्र क्यों माना ?—उसे सूत्रकारकी कृति होनेसे इनकार करते हुए निरर्थक क्यों नहीं कहा ? यह प्रश्न पैदा होता है, जिसका कोई भी समुचित उत्तर नहीं बन सकता। इस तरह तो दसवें अध्यायके प्रथम छह सूत्रभी निरर्थकही ठहरते हैं; क्योंकि उनका सब विषय उक्त ३२ श्लोकोंके प्रारम्भके ६ श्लोकों में आगया है—उन्हें भी सूत्रकारकी कृति न कहना चाहिये था। अतः टिप्पणकारका उक्त तर्क निःसार है—उससे उसका अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, अर्थात् उक्त दिगम्बर सूत्रपर कोई आपत्ति नहीं आसकती। प्रत्युत इसके, उसका सूत्रपाठ उसीके हाथों बहुत कुछ आपत्तिका विषय बन जाता है।

(६) इस सटिप्पण प्रतिके कुछ सूत्रोंमें थोड़ासा पाठ-भेद भी उपलब्ध होता है—जैसे कि तृतीय अध्यायके १०वें सूत्रके शुरूमें 'तत्र' शब्द नहीं है वह दिगम्बर सूत्र-पाठकी तरह 'भरतहैमवतहरविदे' से ही प्रारम्भ होता है। और छठे अध्यायके ६३ (दि० ५वें सूत्रका प्रारम्भ)

‘इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः’ पदसे किया गया है, जैसे कि दिगम्बर सूत्रपाठमें पाया जाता है और सिद्धसेन तथा हरिभद्रकी कृतियोंमें भी जिसे भाष्यमान्य सूत्रपाठके रूपमें माना गया है; परन्तु बंगाल एशियाटिक सोसाइटी के उक्त संस्करणमें उसके स्थान पर ‘अव्रतकषायेन्द्रियक्रियाः’ पाठ दिया हुआ है और पं० सुखलालजीने भी अपने अनुवादमें उसीको स्वीकार किया है, जिसका कारण इस सूत्रके भाष्यमें ‘अव्रत’ पाठका प्रथम होना जान पड़ता है और इसलिये जो बादमें भाष्यके व्याख्या-क्रमानुसार सूत्रके सुधारको सूचित करता है।

(७) दिगम्बर-सम्प्रदायमें जो सूत्र श्वेताम्बरीय मान्यता की अपेक्षा कमती-बढ़ती रूपमें माने जाते हैं अथवा माने ही नहीं जाते उनका उल्लेख करते हुए टिप्पणमें कहीं-कहीं अपशब्दोंका प्रयोग भी किया गया है। अर्थात् प्राचीन दिगम्बराचार्योंको ‘पाखंडी’ तथा ‘जड़बुद्धि’ तक कहा गया है। यथा—

ननु-ग्रहोत्तर-कापिष्ठ-महाशुक्र-सहस्रारेषु नैवोत्पत्ति-रिति परवादिमतमेतावतैव सत्यापितमिति करिचन्मा मूलात्मिक पाखंडिनः स्वकपोलकल्पितबुद्धयैव षोडश कल्पान्माहुः, नोचेदृशाष्टपंचषोडशविकल्पा इत्येव स्पष्ट सूत्रकारोऽसूत्रयित्यप्यपाखंडनीयो निन्दवः।”

“केचिज्जडाः ‘ग्रहाणामेकं’ इत्यादि मूलसूत्रान्यपि न मन्यन्ते चन्द्रार्कादीनां मिथः स्थितिभेदोस्तीत्यपि न परन्ति।”

इससे भी अधिक अपशब्दोंका जो प्रयोग किया गया है उसका परिचय पाठकोंको आगे चलकर मालूम होगा।

(८) दसवें अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका (अन्तिम सन्धि) दी है वह इस प्रकार है—

“इति तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रचनसंग्रहे मोक्षप्ररूपणा-

ध्यायो दशमः। प्रं २२५ पर्यंतमादितः। समाप्तं चैत-  
दुमास्वातिवाचकस्य प्रकरणपंचशती कर्तुः कृतिस्तत्त्वा-  
र्थधिगमप्रकरणं॥”

इसमें मूल तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी आयन्तकारिका-ओं सहित ग्रंथसंख्या २२५ श्लोकपरिमाण दी है और उसके रचयिता उमास्वातिको श्वेताम्बरीय मान्यतानुसार पाँचसौ प्रकरणोंका अथवा ‘प्रकरणपंचशती’ का कर्ता सूचित किया है, जिनमें से अथवा जिसका एक प्रकरण यह ‘तत्त्वार्थाधिगमसूत्र’ है।

(९) उक्त पुष्पिकाके अनन्तर ६ पद्य-दिये हैं, जो टिप्पणकारकी खुदकी कृति है। उनमेंसे प्रथम सात पद्य दुर्वादापहारके रूपमें हैं और शेष दो पद्य अन्तिम मंगल तथा टिप्पणकारके नामसूचनको लिये हुए हैं। इन पिछले पद्योंके प्रत्येक चरणके दूसरे अक्षरको क्रमशः मिलाकर रखनेसे ‘रत्नसिंहो जिनं बंदे’ ऐसा वाक्य उपलब्ध होता है, और इसीको टिप्पणमें “इत्यन्तिम-गाथाद्वयरहस्यं” पदके द्वारा पिछले दोनों गाथा पद्योंका रहस्य सूचित किया है। ये दोनों पद्य इस प्रकार हैं—

“सुरनरनिकरनिषेव्यो। नूतपयोदप्रभारुचिरदेहः।

धीर्सिंधुजिनराजो। महोदयं दिशति न कियद्भ्यः॥८॥

वृजिनोपतापहारी। सनंदिमच्चिकोरचंद्रात्मा।

भावं भविना तन्वन्मुदे न संजायते केषां॥९॥॥

इससे स्पष्ट है कि यह टिप्पण ‘रत्नसिंह’ नामके किमी श्वेताम्बराचार्य का बनाया हुआ है। श्वेताम्बर-सम्प्रदायमें ‘रत्नसिंह’ नामके अनेक सूरि-आचार्य हो गये हैं; परन्तु उनमेंसे इस टिप्पणके रचयिता कौन हैं,

❀ इन दोनों पद्योंके अन्तमें “अयेोऽस्तु” ऐसा आशीर्वाक्य दिया हुआ है।

इसका ठीक पता मालूम नहीं हो सका; क्योंकि 'जैन-ग्रन्थावली' और 'जैनसाहित्य नो संक्षिप्त इतिहास' जैसे ग्रंथोंमें किसी भी रत्नसिंहके नामके साथ इस टिप्पण ग्रन्थका कोई उल्लेख नहीं है। और इसलिये इनके समय-सम्बन्धमें यद्यपि अभी निश्चित रूपसे कुछ भी नहीं कहा जा सकता, फिर भी इतना तो स्पष्ट है कि ये विक्रमकी १२वीं-१३वीं शताब्दीके विद्वान् आचार्य हेमचन्द्रके बाद हुए हैं; क्योंकि इन्होंने अपने एक टिप्पणमें हेमचन्द्रके कोषका प्रमाण 'इति हैमः' वाक्यके साथ दिया है। साथ ही, यह भी स्पष्ट ही है कि इनमें साम्प्रदायिक-कट्टरता बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और वह सभ्यता तथा शिष्टताको भी उल्लंघन गई थी, जिसका कुछ अनुभव पाठकोंको अगले परिचयसे प्राप्त हो सकेगा।

(१०) उक्त दोनों पद्योंके पूर्वमें जो ७ पद्य दिये हैं और जिनके अन्तमें "इति दुर्वादापहारः" लिखा है उनपर टिप्पणकारकी स्वोपज्ञ टिप्पणी भी है। यहाँ उनका क्रमशः टिप्पणी-सहित कुछ परिचय कराया जाता है:—

प्रागेवैतदक्षिणभषणगण्णादास्यमानमिव मत्वा ।

त्रातं समूलचूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात् ॥१॥

टिप्प०—“दक्षिणे सरलोदाराविति हैमः ॥ अदक्षिणा असरलाः स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत् एव भषणाः कुर्कुरास्तेषां गण्येदास्यमानं प्रहिष्यमानं स्वायत्ती-करिण्यमाणमिति यावत् तथा भूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः सह मूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद् भाष्यकारो भाष्यकर्ता

॥ “दक्षिणे सरलोदारौ” यह पाठ अमरकोशका है, उसे 'इति हैमः' लिखकर हेमचन्द्राचार्यके कोषका प्रकट करना टिप्पणकारकी विचित्र नीतिको सूचित करता है।

चिरं दीर्घजीयाञ्जयं गम्यादित्याशीर्वचोस्माकं लेखकानां निर्मलग्रन्थरक्षकाय प्राग्वचनचौरिकायामशक्यायेति ।”

भावार्थ—जिसने इस तत्त्वार्थशास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपातसे मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहों-द्वारा ग्रहीष्यमान-जैसा जानकर—यह देखकर कि ऐसी कुत्ता-प्रकृतिके विद्वान् लोग इसे अपना अथवा अपने सम्प्रदायका बनाने वाले हैं—पहले ही इस शास्त्रकी मूल-चूल-सहित रक्षाकी है—इसे ज्योंका त्यों श्वेताम्बर-सम्प्रदायके उमास्वातिकी कृतिरूपमें ही कायम रखना है—वह भाष्यकार (जिसका नाम मालूम नहीं\*) चिरं-जीव होवे—चिरकाल तक जयको प्राप्त होवे—ऐसा हम टिप्पणकार-जैसे लेखकोंका उस निर्मल ग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन-वचनोंकी चोरीमें असमर्थके प्रति आशी-वाद है।

पूर्वाचार्यकृतेरपि कविचौरः किञ्चिदात्मसात्कृत्वा ।

व्याख्यानयति नवीनं न तत्समः कश्चिदपि पिशुनः ॥२॥

टिप्प०—“अथ ये केचन दुरात्मानः सूत्रवचनचौराः

स्वमनीषया यथास्थानं यथेप्सितपाठप्रक्षेपं प्रदर्य स्वापर-

॥ क्योंकि टिप्पणकारने भाष्यकारका नाम न देकर उसके लिये 'स कश्चित्' (वह कोई) शब्दोंका प्रयोग किया है; जबकि मूलसूत्रकारका नाम उमास्वाति कई स्थानों पर स्पष्टरूपसे दिया है इससे साफ ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको भाष्यकारका नाम मालूम नहीं था और वह उसे मूलसूत्रकारसे भिन्न समझता था। भाष्यकारका 'निर्मलग्रन्थरक्षकाय' विशेषणके साथ 'प्राग्वचनचौरिकायामशक्याय' विशेषण भी इसी बातको सूचित करता है। इसके 'प्राग्वचन' का वाक्य तत्त्वार्थसूत्र जान पड़ता है, भाष्यकारने उसे चुराकर अपना नहीं बनाया—वह अपनी मनःपरिणतिके कारण ऐसा करनेके लिये असमर्थ था—यही आशय यहाँ व्यक्त किया गया है। अन्यथा, उमास्वातिके लिये इस विशेषणकी कोई जरूरत नहीं थी।

हितायामं कथंचित् कुर्वन्ति तद्वाक्य-शुश्रूषापरिहारायेक-  
मुच्यते—पूर्वाचार्यकृतेरपीत्यादि। ततः परं वादविह-  
लानां सद्बन्धुवचोप्यमन्यमानानां वाक्यास्संशयेभ्यः  
सुश्रेष्ठो निरीहृतया सिद्धांतेतरशास्त्रस्मयापनोदकमेवं  
ब्रूमः ।”

भावार्थ—सूत्रवचनोंको चुरानेवाले जो कोई  
दुरात्मा अपनी बुद्धिसे, यथास्थान यथेच्छ पाठप्रक्षेपको  
दिखलाकर कथंचित् अपने तथा दूसरोंके हितका लोप  
करते हैं उनके वाक्योंके सुननेका निषेध करनेके लिये  
‘पूर्वाचार्यकृतेरपीत्यादि’ पद्य कहा जाता है, जिसका  
आशय यह है कि ‘जो कविचोर पूर्वाचार्यकी कृतिमेंसे  
कुछ भी अपनाकर (चुराकर) उसे नवीनरूपमें व्याख्यान  
करता है—नवीन प्रगट करता है—उसके समान  
दूसरा कोई भी नीच अथवा धूर्त नहीं है ।’

। इसके बाद जो सुधीजन वाद-विहलों तथा सद्बक्ता-  
के वचनको भी न मानने वालोंके कथनसे संशयमें पड़े  
हुए हैं उन्हें लक्ष्य करके सिद्धान्तसे भिन्न शास्त्र-स्मयको  
दूर करनेके लिये कहते हैं—

सुज्ञाः शृणुन्ति निरीहाश्चेदाहो परगृहीतमेवेदं ।

सति जिनसमयसमुद्रे तदेकदेशेन किमनेन ॥३॥

टिप्प०—“शृणुत भोः कतिचिद्विज्ञाश्चेदाहो यद्युतेदं  
तत्त्वार्थप्रकरणं परगृहीतं परोपात्तं परनिर्मितमेवेति  
यावदिति भवन्तः संशेरते किं जातमेतावता वयं त्वस्मि-  
न्नेव कृतादरा न वर्तामहे लघीयः सरसीव, यस्मादद्यापि  
जिनेन्द्रोक्तगोपांगद्यामगसमुद्रा गर्जतीति हेतोः तदेक-  
देशेनानेन किं ? न किंचिदित्यर्थः । ईदृशानि भूयांस्येव  
प्रकरणानि संति केषु केषु रिरिसां करिष्याम इति ।”

भावार्थ—भोः कतिपय विद्वानों ! सुनों, यद्यपि यह  
तत्त्वार्थप्रकरण परगृहीत है—दूसरोंके द्वारा अपनाया गया  
है—पर निर्मित ही है, यहाँ तक आप संशय करते हैं; परन्तु

ऐसा होनेसे ही क्या होगया ? हम तो एकमात्र इसीमें  
आदररूप नहीं वर्त रहे हैं, छोटे तालाबकी तरह । क्योंकि  
आज भी जिनेन्द्रोक्त अंगोपांगदि आगमसमुद्र गर्ज रहे  
हैं, इस कारण उस समुद्रके एकदेशरूप इस प्रकरणसे—  
उसके जाने रहनेसे—क्या नतीजा है ? कुछ भी नहीं ।  
इस प्रकारके बहुतसे प्रकरण विद्यमान हैं, हम  
किन किनमें रमनेकी इच्छा करेंगे ?

परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं शृणुत कच्चि सविवेकः ।

शुद्धो योस्य विधाता स दूषणीयो न केनापि ॥४॥

टिप्प०—“एवं चाकर्ण्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिग-  
म्बरो निह्व इति केचिन्मावदन्नदः शिञ्जार्थं ‘परमेता-  
वच्चतुरैरिति’ पद्यं ब्रूमहे—शुद्धः सत्यः प्रथम इति यावद्यः  
कोप्यस्य ग्रंथस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न  
निन्दनीय एतावच्चतुरैर्विधेयमिति ।”

भावार्थ—ऊपरकी बातको सुनकर ‘वाचक उमा-  
स्वाति निश्चयसे दिगम्बर निह्व है ऐसा कोई न कहें,  
इम बातकी शिञ्जाके लिये हम ‘परमेतावच्चतुरैः’ इत्यादि  
पद्य कहते हैं, जिसका यह आशय है कि ‘चतुरजनोंको  
इतना कर्तव्य पालन जरूर करना चाहिये कि जिससे  
इस तत्त्वार्थशास्त्रका जो कोई शुद्ध विधाता—आद्य-  
निर्माता—है वह किसी प्रकारसे दूषणीय—निन्दनीय—  
न ठहरे ।

यः कुंदकुंदनामा नामांतरितो निरुच्यते कैश्चित् ।

ज्ञेयोऽन्य एव सोऽस्मात्स्पष्ट उमास्वातिरिति विदितात् ॥५॥

टिप्प०—“तर्हि कुंदकुंद एवैतत्प्रथमकर्तेति संशया-  
पोहाय स्पष्टं ज्ञापयामः ‘यः कुंदकुंदनामेत्यादि’ । अयं  
च परतीर्थिकैः कुंदकुंद इडाचार्यः पद्मनंदी उमास्वा-  
तिरित्यादिनामांतराणि कल्पयित्वा पठ्यते सोऽस्मा-  
त्प्रकरणकर्तुं रुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्नः सका-  
शादन्य एव ज्ञेयः किं पुनः पुनर्वेदयामः ।”

भावार्थ—‘तत्र कुन्दकुन्द ही इस तत्त्वार्थशास्त्रके प्रथम कर्ता हैं,’ इस संशयको दूर करनेके लिये हम ‘यः कुन्दनामेत्यादि’ पद्यके द्वारा स्पष्ट बतलाते हैं कि—पर तीर्थिकों (!) के द्वारा जो कुन्दकुन्दको कुन्दकुन्द, इडा-चार्य (?), पद्मनन्दी उमास्वाति \* इत्यादि नामान्तरों की कल्पना करके उमास्वाति कहा जाता है वह हमारे इस प्रकरणकर्तासे, जिसका स्पष्ट ‘उमास्वाति’ ही प्रसिद्ध नाम है, भिन्न ही है, इस बातको हम बार-बार क्या बतलावें ।

श्वेतांबरसिंहानां सहस्रं राजाधिराजविद्यानां ।

निह्वनिर्मितशास्त्राग्रहः कथंकारमपि न स्यात् ॥६॥

टिप्प०—नन्वत्र कुतोलभ्यते यत्पाठांतरसूत्राणि दिगंबरैरेव प्रक्षिप्तानि ? परे तु वक्ष्यन्ति यदस्मद्वृद्धैरचितमे तत्प्राप्य सम्यगिति ज्ञात्वा श्वेतांबराः स्वैरं कतिचित्सूत्राणि तिरोकुर्वन् कतिचिच्च प्राक्षिपन्निति भ्रमभेदार्थं ‘श्वेतांबरसिंहानामित्यादि’ ब्रूमः । कोऽर्थः श्वेतांबर-सिंहाः स्वयमत्यंतोद्दण्डग्रंथग्रंथनप्रभूणावः परनिर्मितशास्त्रं तिरस्करण-प्रक्षेपादिभिर्न कदाचिदप्यात्मसाद्विदधीरन् । यतः ‘तस्करा एव जायन्ते परवस्वात्मसात्कराः, निर्विशेषेण पश्यन्ति स्वमपि स्वं महाशयाः ।’

भावार्थ—यहाँ पर यदि कोई कहे कि ‘यह बात कैसे उपलब्ध होती है कि जो पाठांतरित सूत्र हैं वे दिगम्बरोने ही प्रक्षिप्त किये हैं ? क्योंकि दिगम्बर तो

\* जहाँ तक मुझे दिगम्बर जैनसाहित्यका परिचय है उसमें कुन्दकुन्दाचार्यका दूसरा नाम उमास्वाति है ऐसा कहीं भी उपलब्ध नहीं होता । कुन्दकुन्दके जो पाँच नाम कहे जाते हैं उनमें मूल नाम पद्मनन्दी तथा प्रसिद्ध नाम कुन्दकुन्दको छोड़कर शेष तीन नाम एला-चार्य, वक्रग्रीव और गृद्धपिच्छाचार्य हैं । तथा कुन्दकुन्द और उमास्वातिकी भिन्नताके बहुत स्पष्ट उल्लेख पाये जाते हैं । अतः इस नामका दिया जाना भ्रान्ति-मूलक है ।

कहते हैं कि हमारे वृद्धों-द्वारा रचित इस तत्त्वार्थसूत्रको पाकर और उसे समीचीन जानकर श्वेताम्बरोने स्वे-च्छाचारपूर्वक कुछ सूत्रोंको तो तिरस्कृत कर दिया और कुछ नये सूत्रोंको प्रक्षिप्त कर दिया—अपनी ओरसे मिला दिया है’ । इस भ्रमको दूर करनेके लिये हम ‘श्वेताम्बरसिंहानां’ इत्यादि पद्य कहते हैं, जिसका अभिप्राय यह है कि—श्वेताम्बरसिंहोंके, जो कि स्व-भावसे ही विद्याओंके राजाधिराज हैं और स्वयं अत्यन्त उद्दण्ड-ग्रन्थोंके रचनेमें समर्थ हैं, निह्व-निर्मित-शास्त्रोंका ग्रहण किसी प्रकार भी नहीं होता है—वे परनिर्मित शास्त्रको तिरस्करण और प्रक्षेपादिके द्वारा कदाचित् भी अपने नहीं बनाते हैं; क्योंकि जोदूसरेकी वस्तुको अपनाते हैं—अपनी बनाते हैं—वे चोर होते हैं, महान् आशयके धारक तो अपने धनको भी निर्विशेषरूपसे अवलोकन करते हैं—उसमें अपनायतका (निजत्वका)—भाव नहीं रखते ।’

पाठांतरमुपजीव्य भ्रमन्ति केचिद्वृथैव संतोऽपि ।

सर्वेषामपि तेषामतः परं भ्रान्तिविगमोऽस्तु ॥७॥

टिप्प०—अतः सर्वैरहस्यकोविदा भ्रमृतरसे कल्पना-विषयपूर्णं न्यस्यमानं दूरतस्यक्त्वा जिनसमयार्णवानुसार-रसिका उमास्वातिमपि स्वतीर्थिक इति स्मरन्तोऽन्तसं-सारपाशं पतित्यद्भिर्विशदमपि कलुषीकर्तुं कामैः सह निह्वैः संगं माकुर्वन्निति ।

भावार्थ—कुछ संत पुरुष भी पाठान्तरका उपयोग करके—उसे व्यवहारमें लाकर—वृथा ही भ्रमते हैं, उन सबकी भ्रान्तिका इसके बादसे विनाश होवे ।

अतः जो सर्वैरहस्यको जानने वाले हैं और जिना-गमसमुद्रके अनुसरण-रसिक हैं वे भ्रमृतरसमें न्यस्य-मान कल्पना-विषयपूर्णको दूरसे ही त्यागकर, उमास्वातिको भी स्वतीर्थिक स्मरण करते हुए, अनन्त संसारके जाल-

में पड़ने वाले उन निहवोंके साथ संगति न करें—कोई सम्पर्क न रखें—जो विशदको भी कलुषित करना चाहते हैं।

(११) उक्त ७ पद्यों और उनकी टिप्पणीमें टिप्पण-कारने अपने साम्प्रदायिक कट्टरतासे परिपूर्ण हृदयका जो प्रदर्शन किया है—स्वसम्प्रदायके आचार्योंको 'सिंह' तथा 'विद्याओंके राजाधिराज' और दूसरे सम्प्रदाय वालोंको 'कुत्ते' तथा 'दुरात्मा' बतलाया है, अपने दिगम्बर भाइयोंको 'परतीर्थिक' अर्थात् भ० महावीरके तीर्थको न माननेवाले अन्यमती लिखा है और साथ ही अपने श्वेताम्बर भाइयोंको यह आदेश दिया है कि वे दिगम्बरोंकी संगति न करें अर्थात् उनसे कोई प्रकारका सम्पर्क न रखें—उस सबकी आलोचनाका यहाँ कोई अवसर नहीं है, और न यह बतलानेकी ही जरूरत है श्वेताम्बरसिंहोंने कौन कौन दिगम्बर ग्रंथोंका अपहरण किया है और किन किन ग्रंथोंको आदरके साथ ग्रहण करके अपने अपने ग्रंथोंमें उनका उपयोग किया है, उल्लेख किया है और उन्हें प्रमाणमें उपस्थित किया है। जो लोग परीक्षात्मक, आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक साहित्यको बराबर पढ़ते रहते हैं उनसे ये बातें छिपी नहीं हैं। हाँ, इतना जरूर कहना होगा कि यह सब ऐसे कलुषितहृदय लेखकोंकी लेखनी अथवा साम्प्रदायिक कट्टरताके गहरे रंगमें रंगे हुए कषायाभिभूत साधुओंकी कर्तृता ही परिणाम है—नतीजा है—जो असेंसे एक ही पिताकी संतानरूप भाइयों-भाइयोंमें—दिगम्बरों-श्वेताम्बरोंमें—परस्पर मनमुटाव चला जाता है और पारस्परिक कलह तथा विसंवाद शान्त होनेमें नहीं आता ! दोनों एक दूसरेपर कीचड़ उछालते हैं और विवेकको प्राप्त नहीं होते !!! वास्तवमें दोनों ही अनेकान्तकी ओर पीठ दिये हुए हैं और उस समीचीनदृष्टि—अनेकान्तदृष्टि—को भुलाये हुए

हैं जो जैनशासनकी जान तथा प्राण है और जिसके अवलोकन करनेपर विरोध ठहर नहीं सकता—मनमुटाव कायम नहीं रह सकता। यदि ऐसे लेखकोंको अनेकान्तदृष्टि प्राप्त होती और वे जैनी-नीतिका अनुसरण करते होते तो कदापि इस प्रकारके विषबीज न बोते। खेद है कि दोनों ही सम्प्रदायोंमें ऐसे विषबीज बोनेवाले तथा द्वेष-कषायकी अग्निको भड़कानेवाले होते रहे हैं, जिसका कटुक परिणाम आजकी संज्ञानको भुगतना पड़ रहा है !! अतः वर्तमान वीरसंतानको चाहिये कि वह इस प्रकारकी द्वेषमूलक तहरीरों—पुरानी अथवा आधुनिक लिखावटों—पर कोई ध्यान न देवे और न ऐसे जैन-नीतिविरुद्ध आदेशोंपर कोई अमल ही करे। उसे अनेकान्तदृष्टिको अपनाकर अपने हृदयको उदार तथा विशाल बनाना चाहिये, उसमें विवेकको जागृत करके साम्प्रदायिक मोहको दूर भगाना चाहिये और एक सम्प्रदायवालोंको दूसरे सम्प्रदायके साहित्यका प्रेमपूर्वक तुलनात्मक दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये, जिससे परस्परके गुण-दोष मालूम होकर सत्यके ग्रहणकी ओर प्रवृत्ति होसके, दृष्टिविवेककी उपलब्धि होसके और साम्प्रदायिक संस्कारोंके वश कोई भी एकांगी अथवा ऐकान्तिक निर्णय न किया जासके; फलतः हम एक दूसरेकी भूलों अथवा त्रुटियोंको प्रेमपूर्वक प्रकट कर सकें, और इस तरह परस्परके वैर-विरोधको समूल नाश करनेमें समर्थ होसकें। ऐसा करनेपर ही हम अपनेको वीरसंतान कहने और जैनशासनके अनुयायी बतलानेके अधिकारी हो सकेंगे। साथ ही, उस उपहासको मिटा सकेंगे जो अनेकान्तको अपना सिद्धान्त बनाकर उसके विरुद्ध आचरण करनेके कारण लोकमें हमारा हो रहा है।

वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० ११-११-१९३६

# जैन-लक्षणावली

अर्थात्

## लक्षणात्मक जैन-पारिभाषिक शब्दकोष

वीरसेवामन्दिर सरसावामें दो ढाई वर्षसे 'जैनलक्षणावली' की तय्यारीका काम अविरामरूपसे हो रहा है। कई विद्वान् इस काममें लगे हुए हैं। कोई २०० मुख्य दिगम्बर ग्रंथों और २०० के ही करीब प्रमुख-श्वेताम्बर ग्रंथोंपरसे लक्ष्य शब्दों तथा उनके लक्षणोंके संग्रहका कार्य हुआ है। संग्रहका कार्य समाप्तिके करीब है और उसमें २५ हजारके करीब लक्षणोंका समावेश समझिये। संग्रहमें यह दृष्टि रखी गई है कि जो लक्षण शुद्ध लक्षण न होकर निरुक्तिपरक अथवा स्वरूपपरक लक्षण हैं उन्हें भी उपयोगिताकी दृष्टिसे कहीं कहीं पर ले लिया गया है। अब सगृहीत लक्षणोंका क्रमशः संकलन और सम्पादन होकर प्रेस-कापी तय्यार की जानेकी है। जैसे जैसे प्रेस कापी तय्यार होती जायगी उसे प्रेसमें छपनेके लिये देते रहनेका विचार है। प्रायः चार खण्डोंमें यह महान् ग्रंथ प्रकाशित होगा।

मेरा विचार ग्रंथमें लक्षणोंको कालक्रमसे देनेका था और इसलिये मैं चाहता था कि दिगम्बरीय तथा श्वेताम्बरीय लक्षणोंका इस दृष्टिसे एक ही क्रम तय्यार किया जाय, जिससे पाठकोंको लक्षणोंके क्रम-विकासका (यदि कुछ हो), लक्षणकारोंकी मनोवृत्ति का और देश-कालकी उस परिस्थिति अथवा समयादिककी भाँगका भी कितना ही अनुभव हो सके जिसने उस विकासको जन्म दिया हो अथवा जिससे प्रेरित होकर पूर्ववर्ती किसी लक्षणमें कुछ परिवर्तन अथवा फेर-फार करनेकी ज़रूरत पड़ी हो। परन्तु ऐसा

नहीं हो सका—उसमें अनेक अड़चनें तथा बाधाएँ उपस्थित हुईं। अनेक विद्वानोंके समय तथा ग्रन्थोंके निर्माणकाल एवं ग्रन्थनिर्माताओंके सम्बन्धमें परस्पर दोनों सम्प्रदायोंमें मतभेद है और कितने ही विद्वानों तथा ग्रन्थोंका समय सुनिश्चित नहीं है। ऐसी हालतमें दोनों सम्प्रदायोंके लक्षणोंको अलग अलग दो विभागोंमें रखा गया है। और उनमें अपनी अपनी स्थूल मान्यताके अनुसार लक्षणोंका क्रम दिया गया है। इससे भी उक्त उद्देश्यकी कुछ परिश्रमके साथ पूरी अथवा बहुतेसे अंशोंमें सिद्धि हो सकेगी। क्योंकि ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारोंके समय-सम्बन्धमें प्रस्तावना लिखते समय यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा।

यह ग्रन्थ देशी-विदेशी सभी विद्वानोंके लिये एक प्रामाणिक रीफरेंस बुक (Reference book) का काम देता हुआ उनकी ज्ञानवृद्धि तथा किसी विषयके निर्णय करनेमें कितना उपयोगी एवं सहायक भिन्न होगा उसे बतलानेकी ज़रूरत नहीं। ग्रंथकी प्रकृति एवं पद्धति परसे वह सहज ही में जाना जा सकता है। प्रथम तो प्रत्येक विद्वान् के पास इतने अधिक ग्रंथोंका संग्रह नहीं होता और यदि किसीके पास हो भी तो यह मालूम करना बहुत ही कठिन तथा अतिशय परिश्रम-साध्य होता है कि कौन-विषय किस ग्रंथमें कहाँ कहाँ पर वर्णित है। इस एक ग्रन्थके सामने रहते सैकड़ों ग्रन्थोंका हाल एक साथ मालूम हो जाता है—यह पता सहज ही में चल जाता है कि

किस विषयका क्या कुछ लक्षण किस किस ग्रंथमें पाया जाता है और किस किसमें वह नहीं पाया जाता; क्योंकि इस ग्रंथमें प्रत्येक लक्ष्यके लक्षणोंका संग्रहमें उपयुक्त हुए सभी ग्रंथोंपरसे एकत्र संग्रह किया गया है; ग्रंथकार और ग्रंथके नामके ॐ साथ उनके स्थलका पता ‡ भी दे दिया गया है और लक्ष्य शब्दोंको अकारादि-क्रमसे रक्खा है, जिससे किसी भी लक्ष्यके लक्षणोंको मालूम करनेमें आसानी रहे। कुछ लक्ष्य ऐसे भी हैं जो दूसरे ग्रंथोंमें अपने पर्याय नामसे उल्लेखित हुए हैं और उसी नामसे उनका वहाँ लक्षण दिया है। उनके लक्षणोंको यहाँ प्रायः उनके नामक्रमके साथ ही संग्रह किया गया है। हाँ, पर्याय नामवाले लक्ष्य शब्दको भी देखनेका साथमें संकेत कर दिया गया है; जैसे 'अकथा' के साथ में 'विकथा' को देखनेकी प्रेरणा की गई है।

कुछ लक्षण ऐसे हैं जो दिगम्बर ग्रंथोंमें ही मिले हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो श्वेतम्बर ग्रंथोंसे ही उप

ॐ ग्रन्थका नाम पूरा न देकर संक्षेपमें दिया गया है। ग्रन्थोंके पूरे नामों आदिके लिये एक संकेत सूची प्रत्येक खण्डमें रहेगी, जिससे यह भी मालूम होसकेगा कि ग्रन्थके कौनसे संस्करण अथवा कहाँकी हस्तलिखित प्रतिका इस संग्रहमें उपयोग हुआ है।

‡ पतेमें जहाँ एक ही संख्याङ्क दिया है वह ग्रन्थके पद्य अथवा सूत्र नम्बरको सूचित करता है, जहाँ दो संख्याङ्क दिये हैं वहाँ पहला अंक ग्रंथके अध्याय, परिच्छेदादिकका और दूसरा अंक पद्य तथा सूत्रके नम्बरका वाचक है, जहाँ तीन संख्याङ्क दिये हैं वहाँ दूसरा अंक अध्यायादिके अवान्तर भेद अथवा सूत्रका सूचक है और तीसरा अंक पद्य वा सूत्रके नम्बरका द्योतक है। और जहाँ 'पृ०' पूर्वक संख्याङ्क दिया है वह ग्रन्थके पृष्ठ नम्बरको बतलाता है।

लब्ध हुए हैं, और इसलिए उनके साथ दूसरे सम्प्रदायके लक्षणोंको नहीं दिया जा सका है। यदि दूसरे सम्प्रदायके किसी अन्य ग्रंथमें, जिसका उपयोग इस संग्रहमें नहीं हो सका, उस लक्ष्यका लक्षण पाया जाता हो अथवा उपयुक्त ग्रन्थोंमेंसे ही किसीमें उपलब्ध होता हो और दृष्टिदोषके कारण इस संग्रहमें छूट गया हो, उसकी सूचना मिलने पर उसे बादको परिशिष्टमें दे दिया जायगा।

आज इस लक्षणावलीके 'अ' भागके कुछ अंशोंको 'अनेकान्त'के पाठकोंके सामने नमूनेके तौर पर रक्खा जाता है, जिससे उन्हें इस ग्रंथकी रूप-रेखाका कुछ साक्षात् अनुभव हो सके और वह इसकी उपयोगिता तथा आवश्यकताको भले प्रकार अनुभव कर सकें। साथ ही, विद्वानोंसे यह नम्र निवेदन है कि वे लक्षणावलीके इस रूपमें, जिसमें वह प्रस्तुत की जानकी है, यदि कोई खास त्रुटि देखें अथवा उपयोगिताकी दृष्टिमें कोई विशेष बात सुझानेकी हो तो वे कृपया शीघ्र ही सूचित कर अनुगृहीत करें, जिससे उसपर समुचित विचार होकर प्रेसकापीके समय यथोचित सुधार किया जासके। विद्वानोंके ऐसे हर परामर्शका हृदयसे अभि-नन्दन किया जायगा और मैं उनकी इस कृपाके लिये बहुत ही आभारी हूँगा।

इस नमूनेमें जहाँ कहीं किसी लक्ष्यके लक्षणान्तर × × × ऐसे चिन्ह दिये गये हैं वहाँ उनके बाद अनेक लक्ष्य शब्द तथा उनके लक्षण रहे हुए हैं, जिन्हें इस नमूनेमें उद्धृत नहीं किया गया। वे सब प्रकाशित होने वाले प्रथम खण्डमें यथास्थान रहेंगे।

अ

## अकथा (अकहा) —

[श्वेताम्बरीय लक्षणां]

मिच्छन्तं वेयंतो जं अकथाणी कहां परिकहेइ ।

लिगत्थो व गिही वा सा अकहा देसिया समए ॥

—भद्रवाहुः, दशवैका० नि०, गा० २०६

पश्य 'विकथा'

## अकल्पः-ल्यम् (अकप्पो) —

[श्वे० ल०]

अकप्पो जंअ विहीए सेवइ ।

—सिद्धसेनः, जीतक० चूर्णिः, गा० १  
पिण्ड-उपाश्रय-वस्त्र-पात्ररूपं चतुष्टयं यदनेषणीयं  
तदकल्पम् ।—चन्द्रसूरिः, जीतक० चू० व्या०, गा० १  
अकप्पो नाम पुढवाइकायाणं अपरिणयाणं गहणं करेइ,  
अहवा उदउल्ल-ससणिद्ध-ससरक्खाइएहि हत्थमत्तेहि  
गिण्डइ, जं वा अगीयत्थेणं आहारोवहि उप्पाइयं तं  
परिभुंजंतस्स अकप्पो । पंचकादिप्रायश्चित्तशुद्धियोग्य-  
मपवादसेवनविधिं त्यक्त्वा गुरुतरदोषसेवनं वा अकप्पो ।

—श्रीचन्द्रसूरिः, जीतक० चू० व्या० गा०, १  
अकल्पोऽपरिणतपृथ्वीकायादिग्रहणमगीतार्थानीतोपधि-  
शय्याऽऽहाराद्युपभोगश्च ।

—मलयगिरिः, व्य० सू० भा० वृ० १०, ३४

## अकस्माद्भयम् —

[श्वे० ल०]

अकस्मादेव बाह्यनिमित्तानपेत्तं गृहादिष्वेव  
स्थितस्य राज्यादौ भयमकस्माद्भयम् ।

—मुनिचन्द्रः, ललितवि० प०, पृ० ३८  
बाह्यनिमित्तनिरपेत्तं भयमकस्माद्भयम् ।

—विनयविजयः, कल्पसू० वृ०, १, १५

## अकामनिर्जरा —

[दिगम्बरीय लक्षणां]

अकामश्चरकनिरोधबन्धनवध्येषु क्षुत्क्षानिरोधब्रह्म

चर्यभूशय्यामलधारणपरितापादिः अकामेन निर्जरा  
अकामनिर्जरा । —पूज्यपादः, सर्वा० सि०, ६, २० ।  
विषयानर्थनिवृत्तिं चात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्या-  
द्भोगनिरोधोऽकामनिर्जरा ।

—अकलंकः, तत्त्वा० रा० ६, १२

अकामा कालपक्वनिर्जरलक्षणा ।

—आशाधरः, अन० ध० टी०, २, ४३

अकामे निर्जरा अकामनिर्जराः यः पुमान् चारक निरो-  
धबन्धनबद्धः पराधीनपराक्रमः सन् बुभुक्षानिरोधं कृषा-  
दुःखं ब्रह्मचर्यकृच्छ्रं भूशयनकष्टं मलधारणं परितापादिकं  
च सहमानः सहनेच्छारहितः सन् यत् ईषत्कर्म निर्जर-  
यति सा अकामनिर्जरा ।

—श्रुतसागरः, तत्त्वा० टी० ६, २०

[श्वेताम्बरीय लक्षणां]

अकामनिर्जरा पराधीनतयानुरोधाच्चाकुशलनिवृत्ति-  
राहारादिनिरोधश्च ।

—उमास्वातिः, तत्त्वा० भा०, ६, २०

अकामनिर्जरा कुतश्चित् पारतन्त्र्यादुपभोगनिरोधरूपा  
तथापालनाया अयोगः ।

—हरिभद्रः, तत्त्वा० भा० टी०, ६, १३

विषयानर्थनिवृत्तिमात्माभिप्रायेणाकुर्वतः पारतन्त्र्यादुप-  
भोगादिनिरोधः अकामनिर्जरा, अकामस्य-अनिच्छतो  
निर्जरणं पापपरिशाटः पुण्यपुद्गलोपचयश्च, परवशस्य  
चामरणमकामनिर्जरायुषः परिच्छेदः ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी०, ६, १३

अनभिलषतोऽचिन्तयत एव कर्मपुद्गलपरिशाटः  
(अकामनिर्जरा) ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी०, ६, २०

अकामनिर्जरा यथाप्रवृत्तिकरणेन गिरिसरिवुपलघोलना-  
कल्पेनाकामस्य निरमिलाषस्य या निर्जरा कर्मप्रदेश-  
विचटनरूपा ।

—हेमचन्द्रः, योगशा० वृ०, ४, १०७

## अकालुष्यम्—

[दिग० ल०]

तेषामेव (क्रोधमानमायालोभानामेव) मन्दोदये तस्य-  
(चित्तस्य) प्रसादोऽकालुष्यम् ।

—अमृतचन्द्रः, पंचा० टी०, १३८

## अकिञ्चनता-त्वम्—

[दिग० ल०]

अकिञ्चनता सकलग्रन्थत्यागः ।

—अपराजितसूरिः, भग० आ० टी०, १, ४६

अकिञ्चनता उपात्तेष्वपि शरीरादिषु संस्कारापोहाय  
ममेदमित्याभिसम्बन्धनिवृत्तिः ।

—वसुनन्दी, मूला० वृ०, ११, ५

[श्वे० ल०]

अकिञ्चणिया नाम सदेहे निस्संगता निम्नमत्तणं ।

—जिनदासगणी, दशवै० सू० ४२, पृ० १८

नास्य किञ्चनद्रव्यमस्तीत्यकिञ्चनस्तस्यभावोऽकिञ्चनता  
शरीरधर्मोपकरणादिष्वपि निर्ममत्वमकिञ्चनत्वम् ।

—हेमचन्द्रः, योगशा० स्वे० वृ०, ४, ६३

## अकिञ्चित्करः (हेत्वाभासः)—

[दिग० ल०]

सिद्धेऽकिञ्चित्करो हेतुः स्वयं साध्यव्यपेक्षया ।

—अकलंकः, प्रमाणसं०, ४४

सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः ।

—माणिक्यनन्दी, परीक्षा०, ६, ३५

अप्रयोजको हेतुरकिञ्चित्करः ।

—धर्मभूषणः, न्या० दी०, ३, १०७

## अकुशलम्—

[दिग० ल०]

अकुशलं दुःखहेतुकम् । —वसुनन्दी, आत्ममी० वृ० ८

## अचक्षुर्दर्शनम् (अचक्षुर्दृष्टं):—

[दिग० ल०]

सेसिदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्षू ति ।

—वीरसेनोद्धृतः, धवला, खं० १, आ० पृ०, ५४

शेषेन्द्रियमनसो दर्शनमचक्षुर्दर्शनम् ।

—वीरसेनः, धवला, जीव० चूलिका, १ आ० पृ०, ३०६  
सेसिदियाणाणुप्पत्तीदो जो पुच्चमेव सुवसत्तीए अप्पणो  
विसयम्मि पडिबद्धाए सामण्येण संवेदो अचक्षुणाणु-  
प्यत्तीणिमित्तो तमचक्षुर्दंसणमिदि ।

—वीरसेनः, धवला, आ० पृ०, ३८६  
सोदघाणजिह्वाफासमणेहितो समुपज्जमाणकारणसगसं-  
वेयणमचक्षुर्दंसणं णाम ।

—वीरसेनः, धवला, खं० ४, अनुयो० ५, आ० पृ०, ८६२  
यत्तदावरणक्षयोपशमाच्चक्षुर्वर्जितेतरचतुरिन्द्रयानिन्द्रि-  
याबलम्बाच्च मूर्तामूर्तद्रव्यं विकलं सामान्येनाव-  
बुध्यते तदचक्षुर्दर्शनम् ।

—अमृतचन्द्रः, पञ्चा० टी०, ४२  
सेसिदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्षू ति ।

—नेमिचन्द्रः, गो० जी०, गा० ४८४  
शेषाणां पुनरुत्थाणां (अर्थप्रकाशः) अचक्षुर्दर्शनम् ।

—अमृतगतिः, पंचसं०, १, २५०  
शेषेन्द्रियज्ञानोत्पादक-प्रयत्नानुविद्ध-गुणीभूत विशेष-  
सामान्यालोचनमचक्षुर्दर्शनम् ।

—वसुनन्दी, मूला०, टी०, १२, १८८  
शेषेन्द्रिय-नोद्भिन्द्रियावरणक्षयोपशमे सति बहिरंगद्रव्ये-  
न्द्रिय-द्रव्यमनोवलम्बनेन यन्मूर्तामूर्तं च वस्तु निर्विकल्प-  
सत्तावलोकने यथासम्भवं पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम् ।

—जयसेनः, पंचा० टी०, ४२  
स्पर्शनरसनघ्राणश्रोत्रेन्द्रियावरणक्षयोपशमत्वात्स्वकीय-  
स्वकीयबहिरङ्गद्रव्येन्द्रियालम्बनाच्च मूर्तं सत्तासामान्यं  
विकल्पपरहितं परोक्षरूपेणैकदेशेन यत्पश्यति तदचक्षुर्दर्शनम्

—ब्रह्मदेवः, द्रव्यसं० टी०, ४  
[श्वे० ल०]

शेषेन्द्रियैर्दर्शनं अनयनदर्शनं (अचक्षुर्दर्शनम्) ।

—चन्द्रमहर्षिः, पंचसं० वृ०, गा० १२२  
अचक्षुर्दर्शनं शेषेन्द्रियोपलब्धिलक्षणम् ।

—हरिभद्रः, तत्त्वा० टी०, २, ५  
अचक्षुर्दर्शनं शेषेन्द्रियसामान्योपलब्धिलक्षणम् ।

—हरिभद्रः, अनुयो० वृ०, १०३

शेषेन्द्रियमनोविषयमविशिष्टमचक्षुर्दर्शनं ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० वृ० ८, ८

अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियचक्षुष्टयेन मनसा च दर्शनं सामान्यार्थग्रहणमेवाचक्षुर्दर्शनम् ।

—मलयगिरिः, बन्धश० टी०, गा० २, ३

अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियमनोदर्शनमचक्षुर्दर्शनम् ।

—मलयगिरिः, प्रज्ञा० वृ०, पद २३

अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनं स्वस्वविषये सामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् ।

—मलयगिरिः, प्रज्ञा० वृ०, पद २६

सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनं स्वस्वविषयसामान्यग्रहणमचक्षुर्दर्शनम् ।

—मलयगिरिः, षडशी० टी०, गा० १६

अचक्षुषा चक्षुर्वर्जेन्द्रियचक्षुष्टयेन मनसा वा दर्शनं तदचक्षुर्दर्शनम् ।

—गोविन्दगणी, कर्मस्तव-टी०, गा०, ६, १०

अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियचक्षुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं स्वस्वविषय-सामान्यपरिच्छेदोऽचक्षुर्दर्शनम् ।

—देवेन्द्रः, कर्मवि० टी०, गा० १०

अचक्षुषा चक्षुर्वर्ज्यशेषेन्द्रियचक्षुष्टयेन मनसा च यद्दर्शनं सामान्यांशात्मकं ग्रहणं तद् अचक्षुर्दर्शनम् ।

—देवेन्द्रः, षडशी० टी०, गा० १२

यः सामान्यावबोधः स्याच्चक्षुर्वर्जापरेन्द्रियैः ।

अचक्षुर्दर्शनं तस्यात् सर्वेषामपि देहिनाम् ॥

—चिनयविजयः, लोकप्र०, खं० १, पृ० ६२

शेषेन्द्रियमनोभिर्दर्शनमचक्षुर्दर्शनम् ।

—यशोविजयः, कर्मप्र० टी०, पृ० १०२

× × ×

अणुव्रतम् ( अणुव्रतम् )—

[दिग०ल०]

प्राणापतिपातवितथव्याहारस्तेयकाममूर्च्छेभ्यः ।

स्थूलेभ्यः पापेभ्यो व्युपरमणमणुव्रतं भवति ॥

—समन्तभद्रः, रत्नक० आ० ३, ६

पाणवधमुसावादादात्तादाणपरदारगमणेहि ।

अपरिमिदिच्छादो वि अ अणुव्रतमणुव्रतं विरमणाइं ॥

—शिवकोटिः, भगव० आ०, ८, २०८०

( हिंसादिभ्यो ) देशतो विरतिरणुव्रतम् ।

—पूज्यपादः, सर्वा० सि० ७, २

हिंसादेदेशतो विरतिरणुव्रतम् ।

—अकलंकः, तत्त्वा० रा० ७, २

देशतो हिंसादिभ्योविरतिरणुव्रतम् ।

—विद्यानन्दः, तत्त्वा० श्लो० ७, २

विरतिः स्थूलहिंसादिदोषेभ्योऽणुव्रतं मतम् ।

—जिनसेनः, आदि० पु० ३६, ४

विरतिः स्थूलवधादेर्मनोवचोऽङ्गकृतकारितानुमतैः ।

क्वचिदपरेऽप्यननुमतैः पञ्चाहिंसाद्यणुव्रतानि स्युः ॥

—आशाधरः, सा० ध० ४, ५

तत्र हिंसानृतस्तेयाब्रह्मकृत्स्नपरिग्रहात् ।

देशतोविरतिः प्रोक्तं गृहस्थानामणुव्रतम् ॥

—राजमल्लः, लाटीसं० ४, २४२

” ” ” —पंचाध्यायी, २, ७२४

देशतो विरतिरणुव्रतम् ।—श्रुतसागरः, तत्त्वा० टी० ७, २

[श्वे०ल०]

हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रतम् ।

—उमास्वातिः, तत्त्वा० भा० ७, २

पंच उ अणुव्रतमणुव्रतं स्थूलगपाणिबहविरमणाईणि ।

—उमास्वातिः, श्राव० प्र० १०६

अणुव्रतानि स्थूलप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूपाणि ।

—हरिभद्रः, आ० प्र० टी० ६

स्थूलप्राणातिपातादिभ्यो विरतिरणुव्रतानि ।

—हरिभद्रः, धर्मबिन्दुः ३, १६

देशतो [हिंसादिभ्यः] विरतिरणुव्रतम् ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी० ७, २

विरतिं स्थूलहिंसादेर्द्विविधत्रिविधादिना ।

अहिंसादीनि पञ्चाणुव्रतानि जगदुज्जिनाः ॥

—हेमचन्द्रः, यो० शा० २, १८

देशतो विरतिः पञ्चाणुव्रतानि ।

—हेमचन्द्रः, त्रि० श० पु० च० १, १, १८८

अतिचारः ( अइयारो )—

[दिग०ल०]

अतिचारो विषयेषु वर्तननम् ।

—अमितगतिः, भावनाद्वा० ६

अतिचारो वृत्तशैथिल्यं ईषदसंयमसेवनं च ।

—वसुनन्दी, मूला० टी० ११, ११

सापेक्षस्य वृत्ते हि स्यादतिचारोऽशमञ्जनम् ।

—आशाधरः, सा० ध० ४, १८

अतीत्य चरणं ह्यतिचारो माहात्म्यापकर्षोऽशतो विनाशो वा ।

—आशाधरः, भग० आ० टी० १, ४४

न हन्मीति वृत्तं कुप्यन्निःकृपत्वाच्च पाति न ।

भनक्त्यध्वनङ्गशघातत्राणादतिचरत्यधीः ॥

—मेधावी, धर्मसं० आ० ६, १५

[श्वे० ल०]

अतिचारो व्यतिक्रमः स्वलितम् [चारित्र्यस्य]

—उमास्वातिः, तत्त्वार्थ भा० ७, १८

अतिचारा असदनुष्ठानविशेषाः ।

—हरिभद्रः, श्राव० प्र० टी० ८६

अतिचरणान्यतिचाराश्चारित्र्यस्वल्नानविशेषाः ।

—हरिभद्रः, श्राव० वृ०, गा० ११२

अतिचारो विराधना देशभङ्गः [चारित्र्यस्य] ।

—मुनिचन्द्रः, धर्म० वृ० ३, २०

अतिचरणमतिचारो मूलोत्तरगुणमर्यादातिक्रमः ।

—शान्तिसूरिः, धर्मरत्नप्र० स्वो० वृ० पृ० ६६

अतिचारो मालिन्यम् ।—हेमचन्द्रः, योगशा० वृ० ३, ८६

## अतिथिः (अइहि)—

[दिग०-ल०]

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः, अथवा नास्य तिथिर-  
स्तीत्यतिथिः अनिश्चितकालगमनः ।

—पूज्यपादः, सर्वार्थमि०, ७, २१

” ” —अकलंकः, तत्त्वा० रा०, ७, २१

संयममविराधयन्नततीत्यतिथिः ।

—विद्यानन्दः, तत्त्वा० श्लो०, ७, २१

स संयमस्य वृद्धयर्थमततीत्यतिथिः स्मृतः ।

—जिनसेनः, हरिवंश० पु०, ५६, १५८

पञ्चेन्द्रियप्रवृत्ताख्यास्तिथयः पञ्च कीर्तिताः ।

संसारे श्रेयहेतुत्वात्ताभिर्मुक्तोऽतिथिर्भवेत् ॥

—सोमदेवः, यशस्ति० ८, ४१२

संयममविनाशयन्नततीत्यतिथिः, अथवा नास्य तिथिर-  
स्तीत्यतिथिरनियतकालगमनः ।

—चामुण्डरायः, चारि० सा०, १२

स्वयमेव गृहं साधुर्योऽत्रातति संयतः ।

अन्वर्थवेदिभिः प्रोक्तः सोऽतिथिर्मुनिपुंगवैः ॥

—अमितगतिः, सुभा० २० सं० ८१७

अतति स्वयमेव गृहं संयममविराधयन्ननादृतः ।

यः सोऽतिथिरुद्दिष्टः शब्दार्थविचक्षणैः साधुः ॥

—अमितगतिः, अमित० आ०, ६, ६५

ज्ञानादिसिद्धयर्थतनुस्थित्यर्थान्नय यः स्वयम् ।

यत्नेनातति गेहं वा न तिथिर्यस्य सोऽतिथिः ॥४२॥

—आशाधरः, सा० ध० ५, ४२

न विद्यते तिथिः प्रतिपदादिका यस्य सोऽतिथिः, अथवा  
संयमलाभार्थमतति गच्छन्गृहं चर्यां करोतीत्यतिथिः ।

—श्रुतसागरः, चारि०, प्रा०, २५

संयममविराधयन् अतति भोजनार्थं गच्छति यः  
सोऽतिथिः अथवा न विद्यते तिथिः प्रतिपद्वितीयातृती-  
दिका यस्य स अतिथिः अनियतकालभिन्नागमनः ।

—श्रुतसागरः, तत्त्वा० टी०, ७, २१

[श्वे० ल०]

भोजनार्थं भोजनकालोपस्थाप्यतिथिरुच्यते । आत्माथ-  
निष्पादिताहारस्य गृहिणो वृत्ति साधुरेवातिथिः ।

—हरिभद्रः, आ० प्र० टी०, ३२६

अतिथिर्भोजनार्थं भोजनकालोपस्थायी । स्वार्थं निर्वर्त-  
मानस्य गृहिवृत्तिनः साधुरेवातिथिः ।

—सिद्धिसेनगणी, तत्त्वा० टी०, ७, १६

” ” —यशोभद्रः, हारि० तत्त्वा० टी०, ७, १६

न विद्यते सततप्रवृत्तातिविशदैकाकारानुष्ठानतया तिथ्या-  
दिदिनविभागो येषां ते अतिथयः ।

—मुनिचन्द्रः, धर्मविन्दु-वृ० ३६

अतिथयो वीतरागधर्मस्थाः साधवः साध्यः श्रावकाः  
श्राविकाश्च ।

—मुनिचन्द्रः, धर्मविन्दुवृ० ३, १८

तथा न विद्यते सततप्रवृत्तातिविशदैकाकारानुष्ठानतया  
तिथ्यादिदिनविभागो यस्य सोऽतिथिः ।

—हेमचन्द्रः, योगशा० वृ० १, ५३

## अवग्रहः (अवग्रहो, उग्रहो)–

[दिगं ल०]

विषय-विषयि-सन्निपातसमयानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः ।  
विषयविषयिसन्निपाते सति दर्शनं भवति तदनन्तर-  
मर्थस्य ग्रहणमवग्रहः ।

—पूज्यपादः सर्वा० सि० १, १५

“ ” —अकलंकः तत्त्वा० रा० १, १५

अक्षार्थयोगे सत्तालोकोऽर्थाकारविकल्पधीः अवग्रहः ।

—अकलंकः लघीय० १, ५

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमर्थं ग्रहणमवग्रहः ।

—अकलंकः लघीय० वि० १, ५

“ ” विद्यानन्दः प्रमा० पृ० ६८

अक्षार्थयोगजातवस्तुमात्रग्रहणलक्षणात् ।

जातं यद्वस्तुभेदस्य ग्रहणं तदवग्रहः ॥

—विद्यानन्दः, तत्त्वा० श्लो० १, १५, २

विसयाणं विसर्गं संजोगाणंतरं हवे शियमा ।

अवग्रहणाणं .....

—नेमिचन्द्रः, गो० जी०, ३०८

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमाविसत्तालोचनपुरःसरो मनु-  
ष्यत्वाद्यवान्तरसामान्याध्यवसायिप्रत्ययोऽवग्रहः ।

—वादिराजः, प्रमा० नि० २, पृ० २८

विसर्गं विसर्गं जुदो सखीवादस जो दु अवग्रहो ।

समणेतरादिगहिदे अवग्रहो सो हवे शियमा ॥

—पद्मनन्दी, जम्बू० प्र०, १३, ५७

विषयविषयिसन्निपातानन्तरमवग्रहणमवग्रहः ।

—वसुनन्दी, मूला० वृ०, १२, १८७

अवग्रहः, विषयाक्षसन्निपातानन्तराद्यग्रहः स्मृतः ।

—वीरनन्दी, आचा० सा०, ४, १०

इन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनानन्तर-  
भावी सत्तावान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राहीज्ञानविशेषोऽवग्रहः ।

—धर्मभूषणः, न्यायदी०, २ पृ० १६

सन्निपातलक्षणदर्शनानन्तरमाद्यग्रहणमवग्रहः ।

—श्रुतसागरः, तत्त्वा० टी०, १, १५

विसयाणं विसर्गं संजोगे दंसणं वियप्पवदं ।

अवग्रहणाणं ..... —शुभचन्द्रः, अंगप्र०, २, ६१

[श्वे० ल०]

अथाणं श्रीगहणमि उग्रहो ।

—भद्रबाहुः, आवा० नि०, गा० ३

अव्यक्तं यथास्वमिन्द्रियैर्विषयाणामालोचनावधारण-  
मवग्रहः । —उमास्वातिः, तत्त्वा० भा०, १, १५

सामरणत्वावग्रहणमुग्रहो ।

—जिनभद्रगणी, विशेषा० सू० १८०

उग्रहणमोग्रहो ति य अथावगमो हवइ सव्वं ।

—जिनभद्रगणी, विशेषा० भा०, गा० ४००

सामरणस्स रूवादिविसेसरहियस्य अनिदेसस्स  
अवग्रहणमवग्रहो ।

—जिनदासः, नन्दी० चूर्णिः, २७ (२६)

अवग्रहणमवग्रहः—सामान्यमात्रनिर्देशार्थग्रहणम् ।

—हरिभद्रः, नन्दीसू० वृ०, ६३

सामान्यार्थस्याशेषनिरपेक्षानिर्देश्यस्य रूपादेरवग्रहण-  
मवग्रहः । —हरिभद्रः, आवा० वृ०, २ पृ० ६

मर्यादया सामान्यस्यानिर्देश्यस्य स्वरूपनामादिकल्प-  
नारहितस्य दर्शनमालोचनं तदेवावधारणमालोचना-  
वधारणं, एतदवग्रहोऽभिधीयते ।

—हरिभद्रः, तत्त्वा० टी०, १, १५

अवग्रहणमवग्रहः—सामान्यार्थपरिच्छेदः । यद् विज्ञानं  
स्पर्शनादीन्द्रियजं व्यञ्जनावग्रहादनन्तरक्षणे सामान्य-  
स्यानिर्देश्यस्य स्वरूपकल्पनारहितस्य नामादिकल्पनारहि-  
तस्य च वस्तुनः परिच्छेदकं सोऽवग्रहः ।

—सिद्धसेनमणी, तत्त्वा० टी० १, १५

अवग्रहः सामान्यार्थग्रहणम् । अर्थानां रूपादीनां प्रथमं  
दर्शनानन्तरं ग्रहणं यत्तदवग्रहः ।

—कोट्याचार्यः, विशेषा० वृ०, गा० १७६

दर्शनमुत्तरपरिणामं स्वविषयव्यवस्थापनविकल्परूपं  
प्रतिपद्यमानमवग्रहः ।

—अभयदेवः, सन्मति टी० २, १, पृ० ५५३

सामान्यार्थस्याशेषविशेषनिरपेक्षस्यानिर्देश्यस्य रूपादेः  
अव इति प्रथमतो ग्रहणं परिच्छेदनमवग्रहः ।

—अभयदेवः, स्थान सू० वृ०, ४, पृ० २८३

अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रहः ।

—हेमचन्द्रः, प्रमा० मी०, १, १, २६

विषयविषयिसन्निपातानन्तरसमुद्भूतसत्तामात्रगोचरदर्शनाज्जातमाद्यमवान्तरसामान्याकारविशिष्टवस्तुग्रहणमवग्रहः । —वादिदेवसुरिः, प्रमा० तत्त्वा०, २, ७

अवग्रहणमवग्रहः—अनिर्देश्यसामान्यमात्रग्रहणम् ।

—मलयगिरिः, व्य०, सू० भा०, १० २७६

„ मात्रावगमः । —धर्मसं० हणीटी०, ४४

„ अनिर्देश्यसामान्यमात्ररूपार्थग्रहणमित्यर्थः ।

—मलयगिरिः, नन्दीसू० वृ, २६ पृ० १६८ तस्मात् ( दर्शनात् ) जातमाद्यं सत्त्वसामान्यादवान्तरैः सामान्याकारैर्मानुष्यत्वादिभिर्जातिविशेषैर्विशिष्टस्य वस्तुनो यद्ग्रहणं ज्ञानं तदवग्रहः ।

—रत्नप्रभः, रत्नकरा० २, ७

„ „ —गुणरत्नः, षड्दर्श० टी०, पृ० २०८ अवग्रहोऽन्यक्तग्रहणम् ।

—रत्नशेखरः, गुरुगु० षट्० पृ० ४६ शब्दादीनां पदार्थानां प्रथमग्रहणं हि यत्,

( तद् ) अवग्रहः स्यात्...

—विनयविजयगणी, लोकप्र०, पृ० ४६

## अवधिज्ञानम् (ओहिणाणं)--

( दिगम्बरीय लक्षणानि )

अंतिमखंडत्ताहं परमाणुपहुदिमुत्तिदव्वाहं ।

जं पच्चक्खं जाणइ तमोहिणाणत्ति णायव्वं ॥

—यतिवृषभः, त्रिलोकप्र० अ० ४

अवाग्धानादवच्छिन्नविषयाद्वा अवधिः ।

—पूज्यपादः, सर्वा० सि० १, ६

अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्युभयहेतुसन्निधाने सत्यवधीयतेऽवाग्धात्यवाग्धानमात्रं वाऽवधिः ।

—अकलंकः, तत्त्वा० रा०, १, ६,

अवध्यावृत्तिविध्वंसविशेषादवधीयते ।

येन स्वार्थोवधानं वा सोऽवधिर्नियतः स्थितिः ॥

—विद्यानन्दः, तत्त्वा०, श्लो०, १, ६, ५,

अवहीयदिति ओही सीमाणायेति ।

—वीरसेनः, धवला, जीव० आ० पृ० ५१

यत्तदावरणक्षयोपशमादेव मूर्तद्रव्यं विकलं विशेषेणावबुध्यते तदवधिज्ञानम् । —अमृतचन्द्रः, पञ्चा० टी० ४१

परापेक्षां विना ज्ञानं रूपिणं भणितोऽवधिः ।

—अमृतचन्द्रः, तत्त्वा० सा० १, २५

अवहीयदिति ओही सीमाणायेति ।

—नेमिचन्द्रः, गो० जी० ३७०

द्रव्यक्षेत्रकालभावैः प्रत्येकं विज्ञायमानदेशपरमसर्वभेदभिन्नमवधिज्ञानावरणक्षयोपशमनिमित्तं रूपिद्रव्यविषयमवधिज्ञानम् । —चामुण्डायः, चा० सा०, पृ० ६५

मूर्तांशेषपदार्थानां वेदको गद्यतेऽवधिः ।

—अमितगतिः, पंचसंग्रहः, १, २२०

अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिमीयते इत्यवधिः ।

—अभयचन्द्रः, गो० जी० टी०, ३७०

अवधिर्नामाऽवधिज्ञानावरणक्षयोपशमापेक्षया प्रादुर्भावो रूपाधिकरणभावगोचरो विशदावभासी प्रत्ययविशेषः । —वादिशरः, प्रमाणनि०, पृ० २६

पुगलसीमेहि विदो पच्चक्खो सप्पभेद अवही दु ।

—पद्मनन्दी, जम्बूद्वी० प्र०, १३, १३४

अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमे सति मूर्तं वस्तु यत्प्रत्यक्षेण जानाति तदवधिज्ञानम् ।

—जयसेनः, पंचास्ति० टी०, ४३, ३

अवधानादवधिः पुद्गलमर्यादावबोधः ।

—वसुनन्दी, मूला० टी० १२, १८७

मूर्तमर्थं मितं क्षेत्रकालभावैरवस्फुटम् । मितैर्द्वयावधिर्बोधः । —वीरनन्दी, आचा० सा० ४, ३८

अवधिज्ञानावरणीयक्षयोपशमान्मूर्तं वस्तु यदेकदेशप्रत्यक्षेण सविकल्पं जानाति तदवधिज्ञानम् ।

—ब्रह्मदेवः, द्रव्यस० टी०, ५

मूर्तद्रव्यालम्बनमवधिज्ञानम् ।

—अभयचन्द्रः, लघी० टी० ६, ११

स्वावरणक्षयोपशमे सत्यधोगतं बहुतरं द्रव्यमवच्छिन्नं वा नियतं रूपिद्रव्यं धीयते व्यवस्थाप्यतेऽनेनेत्यवधिमूर्त्यदेशप्रत्यक्षज्ञानविशेषः ।

—आशाधरः, अनगार० टी०, ३०४

अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावैः परिमीयते इत्यवधिः, यत्तृतीयं सीमाविषयं ज्ञानं तदिदमवधिज्ञानम् ।

—केशववर्णी, गो० जीव० टी०, ३७०

अवधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमसहकु-  
ताऽजातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानम् ।

—धर्मभूषणः, न्या० टी० २, पृ० ३६

अवधानं अवधिः अधस्ताद्बहुतरविषयग्रहणादवधि-  
रुच्यते, अवच्छिन्नविषयत्वाद्वाऽवधिः, रूपित्वलक्षणविव-  
क्षितविषयत्वाद्वाऽवधिः ।—श्रुतसागरः, श्रुतसा० टी०, १, ६  
अवधीयते द्रव्यक्षेत्रकालभावेन मर्यादीक्रियते अवा-  
धानं अवधिः, अधस्ताद्बहुतरविषयग्रहणादवधिः ।

—शुभचन्द्रः, कार्तिकेया० प्रे० टी०, २५७

भवगुणपञ्चयविहियं ओहीणाणं तु अवहिगं समये ।  
सीमाणाणं रूपीपदत्थसंवादपञ्चकखं ॥

—शुभचन्द्रः अंगप्र, २, ६६

[ श्वेताम्बरीय लक्षणानि ]

अवधीयते अधोऽधो विस्तृतं ज्ञायते इति अवधिः  
अवधिरेव ज्ञानमवधिज्ञानम् ।

—चन्द्रर्षिः, पञ्चसं० स्वी० टी०, १, ५

अमूर्तप्रतिहारेण साक्षान्मूर्तं विषयमिन्द्रियानपेक्षं मनः  
प्रणिधानवीर्यकमवधिज्ञानम् ।

—हरिभद्रः तत्त्वा० टी०, १, ६

अधोविस्तृतविषयमनुत्तरोपपादिकादीनां ज्ञानमवधि-  
ज्ञानम् । अथवा अवधिः मर्यादा अमूर्तद्रव्यप्रतिहारेण  
मूर्तिनिबन्धनत्वादेव तस्यावधिज्ञानत्वम् । तच्च चत-  
सृष्वपि गतिषु जन्तूनां वर्तमानानामिन्द्रियनिरपेक्षं  
मनः प्रणिधानवीर्यकं प्रति विशिष्टक्षयोपशमनिमित्तं  
पुद्गलपरिच्छेदि देवमनुष्यतिर्यङ्गनारकस्वामिकमव-  
धिज्ञानमिति । अवधिश्च स तज्ज्ञानं च तदित्यवधि-  
ज्ञानम् ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी०, १, ६

अन्तर्गतबहुतरपुद्गलद्रव्यावधानादवधिः पुद्गलद्रव्य-  
मर्यादयैव वाऽऽत्मनः क्षयोपशमजः प्रकाशविर्भावोऽवधिः  
इन्द्रियनिरपेक्ष साक्षात् ज्ञेयग्राही लोकाकाशप्रदेशमान-  
प्रकृतिभेदः ।

—सिद्धसेनगणी, तत्त्वा० टी०, ७

रूपिद्रव्यग्रहणपरिणतिविशेषस्तु जीवस्य भवगुण-  
प्रत्ययावधिज्ञानावरणकर्मक्षयोपशमप्रादुर्भूतो लोचना-  
दिबाह्यनिमित्तनिरपेक्षः अवधिज्ञानमिति ।

—अभयदेवसूरिः, सम्मति० टी० २, ३०

अवधिज्ञानं—इन्द्रियमनोनिरपेक्षमात्मनो रूपिद्रव्य-  
साक्षात्करणम् ।

—अभयदेवसूरिः, स्थानाङ्गसूत्र वृ० २, १६४, पृ० ४६

अवधिज्ञानं अवधिना मर्यादया रूपिद्रव्यलक्षणाया  
ज्ञानमवधानं वा अवधिरूपयोगपूर्वकम् ।

—जिनेश्वरसूरिः, प्रमाल० टी० ३

अवधिज्ञानावरणविलयविशेषसमुद्भवं भवगुणप्रत्ययं  
रूपिद्रव्यगोचरमवधिज्ञानम् ।

—वादिदेवसूरिः, प्रमा० तत्त्वा० २, २१

अवधिना रूपिद्रव्यमर्यादात्मकेन ज्ञानमवधिज्ञानम् ।

—मलधारी हेमचन्द्रः, अनु० टी० पृ० २

अवधिज्ञानस्यावरणविलयस्य तारतम्ये आवरणक्षयो-  
पशमविशेषे तन्निमित्तकोऽवधिरवधिज्ञानम् । अवधीयते  
इति अवधिः मर्यादा सा च रूपवद्द्रव्यविषया अवध्यु-  
पलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः ।

—हेमचन्द्रः, प्रमा० मी० टी०, १, १, १८

अव अधोऽधोविस्तृतं रूपिवस्तुजातं धीयते-परिच्छिद्यते  
ऽनेनास्मिन्नस्माद्वेत्यवधिः—तदावरणक्षयोपशमस्तद्धेतुकं  
ज्ञानमप्युपचारादवधिः यद्वा अवधानमवधिः—रूपिद्रव्य-  
मर्यादया परिच्छेदनम्, अवधिश्चासौ ज्ञानं चेति अवधि-  
ज्ञानम् ।

—मलयगिरिः, धर्मसंग्रहणी टी०, गा० ८१६

अव-अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेत्य-  
वधिः, अथवा अवधिः-मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदक-  
तया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः, यद्वा  
अवधानं आत्मनोऽर्थसाक्षात्करणव्यापारोऽवधिः, अवधि-  
श्चासौ ज्ञानं च अवधिज्ञानम् ।

—मलयगिरिः, आ० सू० टी० गा० १

,, ,, प्रज्ञापना वृ०, पद २६

,, ,, सप्ततिका टी०, ६

,, ,, षडशीति-टीका, गा० १५

अव-अधोऽधो वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः,  
यद्वाऽवधिः-मर्यादा रूपिष्वेव द्रव्येषु परिच्छेदकतया  
प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः अवधिश्चासौ  
ज्ञानं च अवधिज्ञानम् ।

—श्रीसिद्धसेनसूरिः, प्रव० सारो० टी० पृ० ३६१

अवधानमवधिरिन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम् । अवधिरेवज्ञानमवधिज्ञानम् । अथवाऽवधिर्मर्यादा तेन अवधिनारूपि द्रव्यमर्यादात्मकेन ज्ञानमवधिज्ञानम् ।—गोविन्दगणी, कर्मस्तव टी० गा० ६, १०  
अव अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेत्यवधिः । यद्वाऽवधिर्मर्यादा रूपिद्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्तिरूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमप्यवधिः ।

—परमानन्दः, कर्मविपाक व्याख्या, गा० १५

अवधीयतेऽनेनेत्यवधिः स च ज्ञानं चेति अवधिज्ञानम् उत्पन्नानुत्पन्नविनष्टाद्यर्थग्रहकं त्रिकालविषयं अनुगत्यादिषडभेदभिन्नं अवधिज्ञानम् ।

—रत्नशेखरः, गुरुगु० पट० ३, ३३

अवधानमवधः इन्द्रियाद्यनपेक्षमात्मनः साक्षादर्थग्रहणम् । अथवा अवशब्दोऽधः, शब्दार्थं अव-अधोऽधो विस्तृतं वस्तु धीयते-परिच्छिद्यतेऽनेनेति अवधिः, यद्वा अवधिर्मर्यादा रूपिष्येव द्रव्येषु परिच्छेदकतया प्रवृत्ति-

रूपा तदुपलक्षितं ज्ञानमपि अवधिः अवधिरच तज्ज्ञानं चावधिज्ञानम् । —देवेन्द्रः, कर्मवि० टी० ४

षडशी० टी० ११

अवधानं स्यादवधिः, साक्षादर्थविनिश्चयः ।

अवशब्दोऽप्ययं यद्वा, सोऽधः शब्दार्थवाचकः ॥३५॥

अधोऽधो विस्तृतं वस्तु, धीयते परिबुध्यते ।

अनेनेत्यवधिर्यद्वा, मर्यादावाचकोऽवधिः ॥३६॥

मर्यादा रूपिद्रव्येषु, प्रवृत्तिर्नैव रूपिषु ।

तयोपलक्षितं ज्ञानमवधिज्ञानमुच्यते ॥३७॥

—विनयविजयः, लोकप्र०, ख० १, पृ० ५३

सकलरूपिद्रव्यविषयकजातीयमात्ममात्रापेक्षं ज्ञानमवधिज्ञानम् । —यशोविजयः, जैनतर्कपरि०, परि० १

अवधिज्ञानत्वं रूपिसमव्याप्यविषयताशालिज्ञानवृत्तिज्ञानत्वव्याप्यजातिमत्त्वं ।

—यशोविजयः, ज्ञानविन्दुः पृ० १४३

—\*—



## ‘ध्वलादि-श्रुत-पारचिय’ का शेषांश

( पृष्ठ १६ से आगे )

आचार्य-परम्परासे चलकर आर्यमंजु और नागहस्ती नामके आचार्योंको प्राप्त हुई†। इन दोनों आचार्योंके पाससे गुणधराचार्यकी उक्त गाथाओंके अर्थको सस्ते प्रकार सुनकर यतिवृषभाचार्यने उन पर चूर्णि-सूत्रोंकी रचना की, जिनकी संख्या छह हजार श्लोक-परिमाण है। इन चूर्णि-सूत्रोंको साथमें लेकर ही जयध्वला-टीका की रचना हुई है, जिसके प्रारम्भका एक तिहाई भाग ( २० हजार श्लोक-परिमाण ) वीरसेनाचार्यका और शेष ( ४० हजार श्लोक-परिमाण ) उनके शिष्य जिनसेनाचार्यका लिखा हुआ है।

जयध्वलामें चूर्णि-सूत्रों पर लिखे हुए उच्चारण-आचार्यके वृत्ति-सूत्रोंका भी कितना ही उल्लेख पाया जाता है परन्तु उन्हें टीकाका मुख्याधार नहीं बनाया गया है और न सम्पूर्ण वृत्ति-सूत्रोंको उद्धृत ही किया जान पड़ता है, जिनकी संख्या इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें १२ हजार श्लोक-परिमाण बतलाई है।

इस प्रकार संक्षेपमें यह दो सिद्धान्तागमोंके अवतारकी कथा है, जिनके आधारपर फिर कितने ही ग्रंथोंकी रचना हुई है। इससे इन्द्रनन्दि के श्रुतावतारसे अनेक अंशोंमें कितनी ही विशेषता और विभिन्नता पाई जाती है, जिसकी कुछ मुख्य मुख्य बातोंका दिग्दर्शन, तुलनात्मक दृष्टिसे, इस लेखके फुटनोटोंमें कराया गया है।

यहाँ पर मैं इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि ध्वला और जयध्वलामें गौतमस्वामीसे आचारांग-धारी लोहाचार्य तकके श्रुतधर आचार्योंकी एकत्र गणना करके और उनकी रूढ़ काल-गणना ६८३ वर्षकी देकर उसके बाद धरसेन और गुणधर आचार्योंका नामोल्लेख किया गया है, साथमें इनकी गुरुपरम्पराका कोई खास उल्लेख नहीं किया गया, और इस तरह इन दोनों आचार्योंका समय, वीर-निर्वाणसे ६८३ वर्ष बादका सूचित किया है। यह सूचना ऐतिहासिक दृष्टिसे कहाँ तक ठीक है अथवा क्या कुछ आपत्तिके योग्य है

उसके विचारका यहाँ अवसर नहीं है। फिर भी इतना जरूर कह देना होगा कि मूल सूत्रग्रंथोंको देखते हुए टीकाकारका यह सूचन कुछ त्रुटिपूर्ण अवश्य जान पड़ता है, जिसका स्पष्टीकरण फिर किसी समय किया जायगा।

### भाषा और साहित्य-विन्यास

दोनों मूल सूत्रग्रंथों—षट्खण्डागम और कृषाय-प्राप्तकी भाषा सामान्यतः प्राकृत और विशेषरूपसे जैन शौरसेनी है तथा श्रीकृन्दकुन्दाचार्यके ग्रंथोंकी भाषासे मिलती-जुलती है। षट्खण्डागमकी रचना प्रायः

† इन्द्रनन्दि-श्रुतावतारमें लिखा है कि ‘गुणधरा-चार्यने इन गाथासूत्रोंके रचकर स्वयं ही इनकी व्याख्या नागहस्ती और आर्यमंजुको बतलाई।’ इससे ऐतिहासिक कथनमें बहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है।

॥ इन्द्रनन्दिने तो अपने श्रुतावतारमें यह स्पष्ट ही लिख दिया है कि इन गुणधर और धरसेनाचार्यकी गुरुपरम्पराका हाल हमें मालूम नहीं है; क्योंकि उसको बतलाने वाले शास्त्रों तथा मुनि-जनों का अभाव है।

गद्य सूत्रोंमें ही हुई है। परन्तु कहीं कहीं गाथा सूत्रोंका भी प्रयोग किया गया है; जब कि कषायप्राभृतकी संपूर्ण रचना गाथा-सूत्रोंमें ही हुई है। ये गाथा-सूत्र बहुत संक्षिप्त हैं और अधिक अर्थके संसूचनको लिये हुए हैं। इसीसे उनकी कुल संख्या २३३ होते हुए भी इनपर ६० हजार श्लोक-परिमाण टीका लिखी गई है।

धवल और जयधवलकी भाषा उक्त प्राकृत भाषाके अतिरिक्त संस्कृत भाषा भी है—दोनों मिश्रित हैं—दोनों में संस्कृतका परिमाण अधिक है। और दोनोंमें ही उभय भाषामें ‘उक्तं च’ रूपसे पद्य, गाथाएँ तथा गद्य-वाक्य उद्धृत हैं—कहीं नामके साथ और अधिकांश

बिना नामके ही। ऐसी गाथाएँ बहुतसी ‘उक्तं च’ रूपसे उद्धृत हैं जो ‘गोम्मटसार’में प्रायः ज्योंकी त्यों तथा कहीं कहीं कुछ थोड़ेसे पाठ-भेदके साथ उपलब्ध होती हैं। और चूंकि गोम्मटसार धवलादिकसे बहुत बादकी कृति है इसलिये वे गाथाएँ इस बातको सूचित करती हैं कि धवलादिकी रचनासे पहले कोई दूसरा महत्वका सिद्धान्त ग्रंथ भी मौजूद था जो इस समय अनुपलब्ध अथवा अप्रसिद्ध जान पड़ता है। ऐसा एक प्राचीन ग्रन्थ अभी उपलब्ध हुआ है, जिसकी वीरसेवामन्दिरमें जाँच हो रही है, वह ग्रंथकर्ताके नामसे रहित है। इस प्रकार यह धवल और जयधवलका संक्षेपमें सामान्यप रिचय है। वीरसेवामन्दिर, सरसावा, ता० २०-११-१९३६

## आवश्यक निवेदन

निश्चित समय पर प्रकाशित करनेके लोभको संवरण न कर सकनेके कारण १५० पृष्ठके बजाए इस विशेषांक में १४० पृष्ठ ही दिए जासके हैं। इस विवशताको लिए सहृदय पाठकोंके प्रति हम कुछ अपराधी जरूर हैं फिर भी इन दस पृष्ठोंकी पूर्ति दूसरी किरणमें कर देनेकी आशा रखते हैं।

विलम्बके ही भयसे इस किरणमें ऐतिहासिक जैन-व्यक्ति-कोष, सम्पादकीय तथा अन्य आवश्यकीय उपयोगी लेख भी नहीं दिये जासके हैं। यदि कोई बाधा उपस्थित न हुई तो ऐतिहासिक जैन-व्यक्ति-कोषको—जो पाठकोंके लिए बहुत ही मननीय और आकर्षक लेखमाला होगी—द्वितीय किरणसे क्रमशः प्रारम्भ करनेकी भावना है।

धवलादि श्रुत परिचयके ८ पृष्ठके बजाए १६ पृष्ठके करीब इस किरणमें जा रहे हैं और इस लेखमालाको भी स्थायी रूपमें क्रमशः देनेका विचार है। हमें हर्ष है कि हमारी इन योजनाओंका सहर्ष स्वागत हुआ है।

जैन लक्षणावलीके ८ पृष्ठ नमूनेके तौर पर अन्तमें दिए गए हैं उससे पाठकोंको विदित होगा कि वीर सेवा मन्दिर में कितना महत्वपूर्ण और स्थायी ठोस कार्य हो रहा है। अब यह अनेकान्तमें प्रकाशित न होकर पुस्तक रूपमें कई खण्डोंमें प्रकाशित होगी।

अनेकान्तको इस द्वितीय वर्षमें जो भी सफलता प्राप्त हुई है उसका सब श्रेय उन आदरणीय लेखकों, जैनेतर संस्थाओंको अनेकान्त भेट स्वरूप भिजवाने वाले दातारों, ग्राहकों और पाठकोंको है। उन्हींके सहयोग और श्रमका यह फल है। हम भी उनकी इस महती कृपाके कारण अनेकान्तकी कुछ सेवा कर सकने में अनेक त्रुटियाँ होने पर भी अपनेको समर्थ पाते हैं।

—व्यवस्थापक

## परम उपास्य

वे हैं परम उपास्य, मोह जिन जीत लिया-॥ध्रुव॥  
 काम-क्रोध-मद-लोभ पछाड़े सुभट महा बलवान ।  
 माया-कुटिल नीति नागनि हन किया आत्म-संत्राण ॥१॥  
 ज्ञान-ज्योतिसे मिथ्यातमका जिनके हुआ विलोप ।  
 राग द्वेषका मिटा उपद्रव, रहा न भय औ शोक ॥२॥  
 इन्द्रिय-विषय-लालसा जिनकी रही न कुछ अवशेष ।  
 तृष्णा नदी मुखादी सारी, धर असंग व्रत-वेष ॥३॥  
 दुख उद्विग्न करें नहिं जिनको, सुख न लुभावें चित्त ।  
 आत्मरूप सन्तुष्ट, गिनें सम निर्धन और सवित्त ॥४॥  
 निन्दा-स्तुति सम लखें बने जो निष्प्रमाद निष्पाप ।  
 साम्यभाव-रस-आस्वादनसे मिटा हृदय-सन्ताप ॥५॥  
 अहंकार-ममकार-चक्रसे निकले जो धर धीर ।  
 निर्विकार-निर्वैर हुए, पी विश्व-प्रेमका नीर ॥६॥  
 साध आत्महित जिन वीरोंने किया विश्व-कल्याण ।  
 'युगमुमुक्षु' उनको नित ध्यावे, छोड़ सकल अभिमान

— युगवीर

## वीर प्रभुकी वाणी

अखिल-जग-तारनको जल-यान ।

प्रकटी, वीर, तुम्हारी वाणी, जगमें सुधा-समान ॥१॥  
 अनेकान्तमय, स्यात्पद लाञ्छित, नीति-न्यायकी खान ।  
 सब कुवादका मूल नाशकर, फैलाती सत ज्ञान ॥२॥  
 नित्य-अनित्य अनेक-एक इत्यादिक वादि महान ।  
 नत-मस्तक हो जाते सम्मुख, छोड़ सकल अभिमान ।  
 जीव-अजीव-तत्त्व निर्णय कर, करती संशय-हान ।  
 साम्यभाव रस चखते हैं जो, करते इसका पान ॥४॥  
 ऊंच, नीच औ, लघुसुदीर्घका, भेद न कर भगवान ।  
 सबके हितकी चिन्ता करती, सब पर दृष्टिसमान ॥५॥  
 अन्धी श्रद्धाका विरोध कर, हरती सब अज्ञान ।  
 युक्ति-वादका पाठ पढ़ाकर, कर देती सज्ञान ॥६॥  
 ईश न जगकर्ता फलदाता, स्वयं सृष्टि-निर्माण ।  
 निज-उत्थान-पतन निज-करमें, करती यों सुविधान ॥  
 हृदय बनाती उच्च, सिखाकर; धर्म सुदया-प्रधान ।  
 जो नित समझ आदरें इसको, वे 'युग-वीर' महान ॥

— युगवीर

## 'वीरसेवामन्दिर-ग्रंथमाला' को सहायता

हालमें वीरसेवामन्दिर सरसावाको जो सहायता प्राप्त हुई है उसमें श्रीमान् बाबू छोटेलालजी जैन रईम कलकत्ताका नाम खास तौरसे उल्लेखनीय है । आपने ५००) रु० की एक मुश्त सहायता 'वीरसेवामन्दिर-ग्रंथमाला' को प्रदान की है, और इस तरह आप ग्रंथमालाके 'स्थायी सहायक' बने हैं । साथ ही कुछ दिन बाद आपने अपने मित्र बाबू रतनलालजी भाँभरी कलकत्तासे भी १००) रु० की सहायता प्राप्त करके भेजी है । इसकेलिये आप और आपके उक्त मित्र दोनों ही हार्दिक धन्यवादके पात्र हैं । आशा है दूसरे सज्जन भी आपका अनुकरण करेंगे, और इस तरह ग्रंथमालाके इस पुण्यकार्यमें आवश्यक प्रोत्साहन तथा प्रोत्तेजन प्रदान कर यशके भागी होंगे ।

—अधिष्ठाता 'वीरसेवामन्दिर'

सरसावा जि० सहारनपुर

## सुभाषित

आ !- गैरियतके परदे इकबार फिर उठादे ।  
बिछुड़ों को फिर मिलादे नकशे दुई मिटादे ॥  
दुनियाँके तीर्थोंसे ऊँचा हो अपना तीरथ ।  
दामाने आस्माँसे उसका कलस मिलादे ॥  
हर सुबह उठके गाएँ मनतर वो मीठे मीठे ।  
सारे पुजारियोंको मय पीतकी पिलादे ॥  
शक्ति भी शान्ति भी भगतोंके गीतमें है ।  
धरतीके वासियोंकी मुक्ति प्रीत में है ॥

—इकबाल

कमाले बुझदिली है पस्त होना अपनी आँखोंमें ।  
अगर थोड़ीसी हिम्मत हो तो फिर क्या हो नहीं सकता ।  
उभरने ही नहीं देती हमें बेमाइगी दिलकी ।  
नहीं तो कौन कतरा है जो दरिया हो नहीं सकता ।  
हविस जीनेकी है, दिन उम्रके बेकार कटते हैं ।  
जो हमसे जिन्दगीका हक अदा होता तो क्या होता ?

अहले हिम्मत मंजिले मकसूद तक आ भी गये ।  
बन्दए तकदीर किस्मतसे गिला करते रहे ।  
जिन्दगी यूँ तो फ़क़त बाज़िए तिफ़लाना है ।  
मर्द वो है जो किसी रंगमें दीवाना है ।

—चक्रवस्तु

जो नरूल पुर सभर हैं उठाते वो सर नहीं ।  
सरकश हैं वो दरख्त कि जिनपै सभर नहीं ॥  
उस बोरिया नशीका दिली मैं मुरीद हूँ ।  
जिसके रियाजे जुहदमें बूए वफ़ा नहीं ॥

—अज्ञात

जान जाए हाथसे जाए न सत्त ।  
है यही इक बात हर मजहबका तत्त ॥ —‘इकबाल’

बशरने खाक पाया खाल पाया या गुहर पाया ।  
मिज़ाज अच्छा अगर पाया तो सबकुछ उसने भरपाया ॥  
रंगोंमें दौड़ने फिरनेके हम नहीं कायल ।  
जो आँख ही से न टपका वह लहू क्या है ॥

—दाश

चन्द दिन है शानोशौकतका खुमार ।  
मौतकी तुर्फी नशा देगी उतार ॥  
जब उठाएँगे जनाज़ा मिलके चार ।  
हाथ मल मलकर कहेंगे बार बार ॥  
किस लिए आए थे हम क्या कर चले ।  
जो यहाँ पाया यहीं पर धर चले ॥

—अज्ञात

जो मौत आती है आए, मर्दको मरनेका ग़म कैसा ?  
इमारतमें खुशीकी दफ़तरे रंजो अलम कैसा ?

—अहमान

कह रहा यह आस्माँ यह सब समाँ कुछ भी नहीं ।  
पीस दूंगा एक गर्दिशमें जहाँ कुछ भी नहीं ।  
कह रहा यह आस्माँ कि कुछ समयका फेर है ।  
पापका घट भर चुका अब फूटनेकी देर है ॥  
जिनके महलोंमें हजारों रंगके फ़ानूस थे ।  
भाड़ उनकी क़ब्रपर बाकी निशाँ कुछ भी नहीं ।  
जिनकी नौबतकी सदासे गुँजते थे आस्माँ ।  
दम बख़ुद हैं मक़बरोमें हूँ न हाँ कुछ भी नहीं ॥

—अज्ञात

जिनके हँगामोंसे थे आबाद वीराने कभी ।  
शहर उनके मिट गए आबादियाँ बन होगई ॥

—इकबाल